कृषि-विज्ञान

(हाई स्कूल के विद्यार्थियों के लिए)

लेखक
जयराम सिंह

किताब महल
इलाहाबाद
१९५८

प्रथम संस्करण, १९५५
द्वितीय संस्करण, १९५७
तृतीय संस्करण, १९५८

प्रकाशक—किताब महल ५६, ए, जीरोरोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—महाबीर प्रसाद, प्रेम प्रेस, प्रयाग।

प्रथम संस्करण की भूमिका

कहना नही होगा कि हमारी स्वतन्त्र सरकार कृषि के क्षेत्र में नित्य नये-नये प्रयोग करती जा रही है जिसके फलस्वरूप देश की कृषि नये-नये उपक्रमों से होकर चल रही है, किन्तु कृषि-विज्ञान के विद्यार्थियों के सम्मुख कृषि सम्बन्धी नये प्रयोगों, सफलताओं एवं नई समस्याओं को रखने वाली पुस्तकों का नितान्त अभाव है। अब तक कोई ऐसी पुस्तक सामने नहीं आ सकी है जो विद्यार्थियों को नई आवश्यकताओं की दृष्टि से कृषि-सम्बन्धी ज्ञान से परिचित करा सके। इसी कमी की पूर्ति के लिए हमने कृषि-विज्ञान का प्रकाशन किया है।

अब तक इस विषय पर जितनी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं उनकी कमियों और उन कमियों के कारण विद्यार्थियों के सम्मुख आने वाली कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए ही यह पुस्तक लिखी गई है। अधिकाधिक चित्रों द्वारा विषय को बोधगम्य बनाया गया है और इस बात का पग-पग पर ध्यान रक्खा गया है कि विषय विद्यार्थियों के लिए स्वतः ग्राह्य और सरल हो। अन्य पुस्तकों में पाठ्यक्रम में दिये गये जो विषय छोड़ दिये गये थे, उन पर भी इस पुस्तक में पूरा प्रकाश डाला गया है। कृषि शास्त्र पर हाई स्कूल के विद्यार्थियों के लिए यह पहली पूर्ण पुस्तक है, ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रकाशक

द्वितीय संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक के लम्बे संस्करण का लगभग दो वर्षों के अल्प काल में ही समाप्त हो जाना यह प्रमाणित करता है कि अध्यापक बन्धुओं, विद्यार्थियों और कृषि-प्रेमियों ने इसका हार्दिक स्वागत किया है। इससे मुझे पुस्तक की प्रारम्भिक भूलों को सुधारने, नये आँकड़े प्रस्तुत करने तथा कुछ विद्वान् लोगों के तर्कसंगत सुझाओं के अनुसार कुछ हेर-फेर करने का सुअवसर भी मिल गया है। द्वितीय संस्करण में पुस्तक का ढाँचा इस प्रकार तैयार किया गया है कि यह केवल उत्तर प्रदेश के हाई स्कूल के ही विद्यार्थियों के लिए न होकर बिहार, मध्यप्रदेश, मध्य भारत राजस्थान, और दिल्ली के कृषि विद्यार्थियों के अनुकूल बन गई है, जिसकी जनमत की माँग थी। इन बातों के अतिरिक्त इस संस्करण में एक-दो नये अध्याय जोड़ दिये गये हैं जिससे पुस्तक की उपयोगित और भी बढ़ गई है। अन्तिम अध्याय में जिसमें कृषि सम्बन्धी मुहावरों का उल्लेख किया गया था, मुहावरों की संख्या बढ़ा दी गई है। पुस्तक के अन्त में द्वितीय पंचवर्षीय योजना की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है जिससे योजना के लक्ष्यों के ज्ञान के साथ-साथ यह भी विदित हो सकता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना कृषि के क्षेत्र में कहाँ तक सफल रही है। पुस्तक के सम्बन्ध में एक अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह किया गया है कि इसका नाम अब 'कृषि-विज्ञान भाग १' के स्थान पर 'कृषि-विज्ञान' रख दिया गया है, क्योंकि भाग १ और भाग २ बनाने की जो योजना हाई स्कूल और इन्टरमीडियेट की पुस्तकों के लिए बनाई गई थी, वह अपनी इन्टरमीडियेट की पुस्तक 'आधुनिक कृषि शास्त्र' के प्रकाशित हो जाने पर बदलनी पड़ी।

द्वितीय संस्करण में पुस्तक की भूलों को सुधारने और स्थान-स्थान पर नये आँकड़े प्रस्तुत करने में मेरे मित्र श्री वीरेन्द्रकुमार निगम एम० एस-सी (एजी) से जो सहायता मिली है, उसके लिए मैं उनका आभार प्रदर्शन करता हूँ। आशा है, कृषि शास्त्र के अध्यापक बन्धु, विद्यार्थी तथा कृषकगण इस संस्करण को भी उसी प्रकार अपनाएँगे। पुस्तक के सम्बन्ध में भेजे गये सुझाव मेरे लिए अधिक सम्मान की वस्तु होंगे।

लेखक

तृतीय संस्करण की भूमिका

इस संस्करण में पुस्तक का कलेवर आधुनिकतम बनाने की चेष्टा की गई है जिससे पाठक अधिक से अधिक लाभान्वित हो सकें। पाठ्यक्रम में हाल के परिवर्तनों के अनुसार कुछ बातें बढ़ा दी गई हैं जिससे पाठ्यक्रमानुसार प्रत्येक बातें विधिवत मिलें। अन्तिम अध्याय में मुर्गी की जातियों और उनके पालन का विवरण प्रस्तुत कर दिया गया है जिसकी कुछ शिक्षक बन्धुओं की माँग थी।

लेखक

विषय-सूची

विषय

विषय

विषय

अध्याय १

कृषि और जलवायु

खेती-बारी के लिए केवल उत्तम मिट्टी ही सब कुछ नहीं है। उत्तम मिट्टी वाले खेत में उत्तम से उत्तम बीज और बढ़िया से बढ़िया खाद डाल देने पर भी यदि ठीक समय पर वर्षा नहीं हुई तो पौधा बढ़ नहीं सकता है और यदि किसी प्रकार बढ़ कर फूल-फल भी लग गये तो दाने तब तक नहीं पकेंगे जब तक उन्हें उचित ताप न मिल जाय। बीच-बीच में ओले, पत्थर, हवा के झकोरे बह-बह कर उसे क्षति भी पहुँचा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिट्टी के अतिरिक्त भी कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका खेती-बारी से सीधा सम्बन्ध है। ऊपर के उदाहरण में हमने वर्षा, ताप और वायुमण्डल की अवस्था का उल्लेख किया है। इन्हें ही जलवायु कहते हैं और जलवायु का जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कृषि से अटूट सम्बन्ध है। अतः कृषि विज्ञान का अध्ययन करने के पहले जलवायु के विषय में जान लेना आवश्यक है।

जलवायु क्या है—जल और वायु दो शब्दों में मिलकर जलवायु शब्द बना है। उर्दू में इसे आबहवा कहते हैं। जल या आब का अर्थ पानी हुआ और वायु या हवा का अर्थ स्पष्ट है हवा। अर्थात् पानी और हवा को लेकर जलवायु शब्द का निर्माण हुआ है। पानी का अर्थ यहाँ वर्षा से है और हवा का अर्थ उन हवाओं से है जो हमारे चारों ओर के वातावरण को प्रभावित करती हैं—कभी हमारे चारों ओर नमी और कभी गर्मी उत्पन्न करती हैं। वर्षा भी कुछ-कुछ यही कार्य करती है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि हमें गर्मी या ठण्डक देने वाली कोई वस्तु है। इन दोनों का अनुभव हम स्वयं करते हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी परिवर्तन हैं जिनका अनुभव हम नहीं कर पाते। इन्हीं सारी वस्तुओं को जलवायु कहते हैं। **अर्थात् किसी स्थान की गर्मी, सर्दी, नमी और वर्षा का मिला-जुला प्रभाव जलवायु कहलाता है।**

मौसम और ऋतु—प्रायः मौसम और ऋतु दोनों शब्दों के प्रयोग में लोग कभी-कभी उलझन का अनुभव करने लगते हैं। वे मौसम की जगह ऋतु और ऋतु की जगह मौसम बोल जाया करते हैं। अतः इन दोनों शब्दों का अर्थ हमें भली-भाँति जान लेना चाहिए क्योंकि जलवायु-विज्ञान (Climatology) में इनका बहुधा प्रयोग होता है। मौसम शब्द किसी विशेष दिन की गर्मी, सर्दी, हवा की गति, वातावरण की नमी आदि को बताता है। जैसे—'आज मौसम खराब है' अथवा 'पिछले कुछ दिनों से मौसम अच्छा चल रहा है।' इसमें हमें मौसम बदलता हुआ-सा मालूम पड़ता है। आज यदि बदली लगने से दिन नम हो जाता है तो कल सूर्य के निकल आने से अच्छा भी हो सकता है। तेज हवा के बहने से यदि मौसम खराब हो जाता है तो दूसरे दिन हवा के बन्द हो जाने से अच्छा भी हो जाता है। तात्पर्य यह कि **मौसम से**

हमें दिन अथवा एक-दो सप्ताह की ही घटनाएँ ज्ञात होती हैं। जब यही मौसम कुछ महीने तक बिना बदले उसी स्थिति में रह जाता है तो हम झट उसे ऋतु कह देते हैं यदि कुछ दिनों तक लगातार सर्दी पड़ती है तो हम कहते हैं कि सर्दी की ऋतु आ गई। यदि सर्दी की ऋतु में पानी बरसना शुरू हो जाता है जिसे मेघावट के नाम से पुकारा जाता है तो हम ऐसा तो नहीं कहते कि वर्षा की ऋतु आ गई, मेघावट भले ही कह लें।

फसलों पर मौसम की अनुकूलता और प्रतिकूलता का प्रभाव—मौसम का खेती-बारी से गहरा सम्बन्ध है। फसल की सफलता और असफलता इसी पर निर्भर करती है। अकस्मात् मौसम के परिवर्तन से खेती को कभी-कभी बहुत बड़ी हानि पहुँच जाती है। जाड़े के दिनों में लगातार तीन-चार दिनों तक बदली लगी रहने से फसल पर रोगों के आक्रमण का भय रहता है। अधिकतर गेरुई का रोग हो जाता है, जिसके फलस्वरूप पौधे का बढ़ाव रुक जाता है। पाला पड़ने या अचानक वर्षा होने से फसलें विनष्ट हो जाया करती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि खेत की जुताई, गुड़ाई, बोआई, निकाई, सिंचाई, कटाई आदि से लेकर जब तक अन्न घर में न पहुँच जाय, उस पर मौसम का प्रभाव पड़ सकता है। अतः एक सफल किसान को मौसम की पहचान करके ही अपना काम करना आवश्यक होता है। यदि आकाश में बादल नहीं घिरे हैं और सूय की किरणें सीधे रूप में भूमि पर पहुँचती हैं तो फसल पर इसका अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। पौधे अपना भोजन प्रकाश में ही तैयार करते हैं, अतः बदली लगने से भोजन बनने में कमी आ जाती है। पौधे अपने अन्दर के अनावश्यक पानी को सूर्य की गर्मी लेकर निकाल देते हैं परन्तु बादल के घिरे रहने पर उनकी यह क्रिया बन्द हो जाती है, जिससे अत्यधिक पानी का उड़ना बन्द हो जाता है। फसलों का बढ़ाव वायु के निश्चित दबाव पर ही निर्भर रहता है। हवा एक पदार्थ है। इसीलिये इसमें भार है। यह भार साधारणतया १५ पौं० प्रति वर्ग इंच होता है जिसे पौधे सहन कर सकते हैं। अचानक वायु के दबाव के गिरने से आँधी आने का भय रहता है जो फसल को अधिक हानि पहुँचा देती है। खड़ी फसलें गिर जाती हैं, पकी बालें बिखर जाती हैं। इस दबाव के धीरे-धीरे गिरने पर पानी बरसता है और बढ़ने पर मौसम सूखा हो जाता है। इस प्रकार हवा के दबाव का घटना-बढ़ना फसल की सफलता को प्रभावित करता रहता है। तापक्रम से किसी स्थान की गर्मी मालूम होती है। यह गर्मी यदि इतनी बढ़ गई कि पौधे अपना कार्य नहीं कर सकते तो वे सूखने लगते हैं। पत्तियाँ पीली पड़ने लगती हैं और अन्त में मुर्झा कर सूख जाती हैं। फसलें एक निश्चित नमी की मात्रा ही सहन कर सकती हैं। अचानक यदि यह नमी समाप्त हो जाती है और पौधे में पानी की मात्रा बिल्कुल ही नहीं रहती तो उनमें आहार बनने की क्रिया बन्द हो जाती है। जड़ें सूख कर टूट जाती हैं और फसल विनष्ट हो जाती है। अधिक नमी के बढ़ जाने पर भी फसलों का बढ़ाव रुक जाता है। तापक्रम गिरने से पौधों की पत्तियों पर अधिक प्रभाव पड़ता है। उनकी नसें काम करना बन्द कर देती हैं। हवा के जोरों से चलने पर फसलें गिर जाती हैं और चूहे, शृगालों, लोमड़ियों आदि

का आक्रमण बढ़ जाता है। गर्मी की लू फसल को शीघ्र सुखा देती है जिससे अधपकी फसल भी सूख जाती है। जाड़े के दिनों में पुरवैया के जोरों से बहने पर पानी पड़ता है जिससे पौधों को हानि होती है। अचानक हवा की गति के मन्द हो जाने से पाला पड़ने का भय रहता है। वातावरण की नमी जब औसत दर्जे की होती है तो फसलों का बढ़ाव उचित रूप से होता है। बढ़ने-घटने पर पौधे सड़ने और सूखने लगते हैं। नमी के अधिक होने पर रबी की फसलों पर रोगों का आक्रमण होता है। असमय वर्षा फसल को हानि पहुँचाती है। ओला और पाला तो असावधान रहने पर फसल चौपट ही कर देते हैं। नमी की कमी पर ओस लाभप्रद होती है। इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि मौसम का अनुकूल और प्रतिकूल होना निम्नलिखित ६ बातों पर निर्भर करता है :—

१. आकाश का साफ होना या बादल से घिरा रहना,
२. हवा का दबाव स्थिर होना या अचानक बढ़-घट जाना,
३. तापक्रम का परिवर्तन,
४. हवा की गति,
५. वातावरण में नमी की मात्रा, तथा
६. ओस, पाला, ओला, वर्षा आदि का आक्रमण।

मौसम का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कुछ ऐसे यंत्र निर्मित हुए हैं जिनसे कृषि-कार्य में बहुत सहायता मिलती है। वायुदाब मापक या बैरोमीटर (Barometer) हवा का दबाव बतला सकता है, ताप मापक (Thermometer) तापक्रम की जाँच कर सकता है, वायु गति मापक (anemometer) से वायु की चाल और वायु दिशासूचक (wind cock) से हवा की दिशा का ज्ञान हो सकता है। अचानक तापक्रम के बढ़ने या घटने से गर्मी और नमी या पाले के गिरने का अनुभव होता है। इसी प्रकार वायु के दबाव के गिरने या चढ़ने से आँधी का आना अथवा मौसम का शुष्क रहना जाता जाता है। इन बातों को पूर्ववत् जान लेने पर किसान इनसे बचने के लिए उपाय कर सकता है। पाला पड़ने की सम्भावना पर वह फसल की सिंचाई कर उसे सुरक्षित बना सकता है। आँधी की दिशा जान कर फसल को विपरीत दिशा में सुला सकता है।

ऋतुएँ—फसलें ऋतुओं के अनुसार ही बोई जाती हैं। उन ऋतुओं में मौसम का ज्ञान जरूरी होता है। ऋतुएँ ६ मानी गई हैं। प्रत्येक का समय दो मास का होता है। हमारा वर्ष चैत्र (चैत) से प्रारम्भ होता है जबकि सर्दी का अन्त होने लगता है और ग्रीष्म का आगमन होता है। ये ऋतुएँ निम्नलिखित हैं :—

१. चैत्र-बैशाख (मार्च-अप्रैल)—वसन्त ऋतु,
२. ज्येष्ठ-आषाढ़ (मई-जून)—ग्रीष्म ऋतु,
३. श्रावण-भाद्रपद (जुलाई-अगस्त)—वर्षा ऋतु,
४. आश्विन-कार्तिक (सितम्बर-अक्टूबर) शरद ऋतु,
५. अगहन-पूस (नवम्बर-दिसम्बर)—हेमन्त ऋतु, तथा
६. माघ-फाल्गुन (जनवरी-फरवरी) शिशिर ऋतु।

हमारे देश के मैदानी भागों में इन ऋतुओं की पहचान सरलतापूर्वक हो सकती है। परन्तु इसी देश में कुछ ऐसे भाग हैं जहाँ वर्ष के आठ महीने कड़ाके का जाड़ा पड़ता है तो कहीं आठ महीने गर्मी। कहीं ५०० इंच तक वर्ष भर में पानी बरस जाता है तो राजपूताने जैसे स्थान में कभी-कभी ५ इंच का भी औसत नहीं होता। हमारा देश काफी विशाल है, कर्क रेखा इसके मध्य से होकर गुजरती है, इसके तीन ओर समुद्र हैं और यह मानसूनी हवाओं के मार्ग में पड़ता है। अतः यहाँ की जलवायु स्थान-स्थान पर भिन्न हो जाती है। कारण यह है कि कर्क रेखा पर सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं। वर्ष के चार महीने सूर्य सिर पर चमकता है। इससे गर्मी की मात्रा इन दिनों बढ़ जाती है; परन्तु जब सूर्य मकर रेखा पर चला जाता है तो यहाँ गर्मी का प्रभाव बहुत कम हो जाता है और सर्दी पड़ने लगती है। इस प्रकार सर्दी चार महीने तक रहती है। गर्मी के दिनों में तापक्रम के बढ़ जाने से पानी की अधिक मात्रा भाप बनकर उड़ जाती है और फिर वर्षा ऋतु में पानी बरसाती है। इस प्रकार यहाँ जाड़ा, गर्मी और बरसात तीनों ऋतुएँ होती हैं और जलवायु समशीतोष्ण है। जो स्थान कर्क रेखा पर स्थित हैं; वहाँ इसी प्रकार की जलवायु है किन्तु इससे उत्तर या दक्षिण बढ़ने पर जलवायु भिन्न होने लगती है। उत्तर की ओर सर्दी अधिक और गर्मी कम तथा दक्षिण की ओर गर्मी अधिक और सर्दी कम पड़ती है। देश का धुर दक्षिणी भाग भूमध्य रेखा के निकट है। जो स्थान भूमध्य रेखा पर होता है, वहाँ साल भर सूर्य सिर पर चमकता है। अतः यहाँ गर्मी वर्ष भर पड़ती है और भाप बनने की क्रिया जोरों से होती है, इसलिए यहाँ पानी भी खूब बरसता है। सर्दी नहीं पड़ती, कभी-कभी वायु में नमी होने से सर्दी का कुछ अनुभव मात्र हो जाता है। जब हमारे यहाँ कड़ाके का जाड़ा पड़ता है तो उस समय लंका के लोग छाता लगाकर चलते हैं। किसी स्थान की जलवायु पर समुद्र का प्रभाव काफी पड़ता है। यह तो हमें ज्ञात है कि समान गर्मी मिलने पर पानी और मिट्टी की समान मात्रा एक साथ ही गर्म नहीं होगी। पानी देर में और मिट्टी शीघ्र गरम होगी। दिन में सूर्य की गर्मी से समुद्र तो धीरे-धीरे और देर में गरम होता है परन्तु पृथ्वी शीघ्र ही गरम हो जाती है। ऐसा होने से समुद्र के ऊपर की वायु जब ठंडी ही रहती है, पृथ्वी की वायु गरम हो जाती है। यह वायु गरम होकर ऊपर उठती है। इससे नीचे की जगह खाली हो जाती है। उस जगह को भरने के लिए समुद्र की नम वायु पृथ्वी की ओर दौड़ती है, जैसा चित्र १ से स्पष्ट होता है। यह क्रिया दिन भर होती है। रात होने पर पृथ्वी ठंडी होने लगती है और शीघ्र ठंडी हो जाती है; पर समुद्र अभी गरम ही रहता है। इससे पृथ्वी की हवा समुद्र की ओर दौड़ती है जो चित्र से जाहिर है। ऐसा होने से दिन में अधिक गर्मी होने पर भी कम गर्मी और रात में अधिक सर्दी में भी कम सर्दी मालूम पड़ती है। यही कारण है कि समुद्र के निकट वाले स्थान पर भूमध्यरेखा से दूरी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। समुद्र के धरातल से स्थान की ऊँचाई और निचाई का प्रभाव वहाँ की जलवायु पर पड़ता है। ऊँचे स्थानों पर सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं। इससे वहाँ गर्मी औसत दर्जे की होती है पर सर्दी बनी रहती है: इसीलिए मैदानों में रहने वाले लोग गर्मी बिताने के लिए

पहाड़ों पर जाया करते हैं। किसी स्थान के निकट के पहाड़ की स्थिति यदि अनुकूल है तो वहाँ पानी बरस सकता है। इसके साथ ही यह आवश्यक है कि वह स्थान मान-

चित्र १—समुद्री और स्थलीय हवाएँ
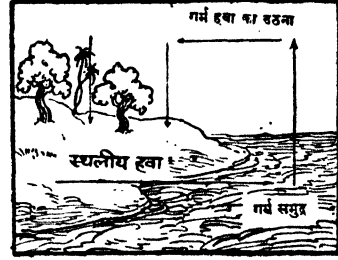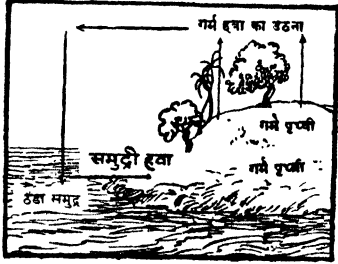
सूनी हवाओं के मार्ग में हो। पानी वाली हवाओं के मार्ग में न होने से सब परिस्थितियों के अनुकूल होते हुए भी वहाँ पानी नहीं बरस सकता। भूमि का यह एक गुण है कि चिकनी मिट्टी गर्मी देर में और धीरे-धीरे लेती है परन्तु बलुई शीघ्र ही ले लेती है और गरम हो जाती है। जिस स्थान की मिट्टी काली या चिकनी होती है वहाँ अधिक गर्मी या सर्दी नहीं जान पड़ती पर बलुवार स्थान शीघ्र ही ठंडा और गर्म हो जाता है। गर्मी के दिनों में बालू में चलने पर फफोले उठ आयेंगे और जाड़े में पैर गलने लगेंगे।

जलवायु पर प्रभाव डालने वाली बातें—किसी भी स्थान की जलवायु नीचे लिखी बातों पर निर्भर करती है :—

१. विषुवत् रेखा से दूरी,
२. समुद्र से दूरी,
३. धरातल की ऊँचाई,
४. पहाड़ों की स्थिति,
५. हवाओं की दिशा, तथा
६. भूमि की बनावट।

नीचे इन पर पृथक-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

जो स्थान भूमध्य रेखा से जितना निकट होगा वहाँ गर्मी की मात्रा उतनी ही अधिक होगी और जाड़ा कम पड़ेगा तथा वर्षा काफी होगी। परन्तु भूमध्य रेखा से ज्यों-ज्यों हम दूर चलते जायेंगे स्थिति ठीक विपरीत होती जायेगी। अर्थात् सर्दी अधिक, गर्मी कम और वर्षा औसत दर्जे की होगी। यहां तक कि जब हम ध्रुव पर पहुँच जायेंगे तो साल भर सर्दी ही मिलेगी और कभी-कभी बर्फ की वर्षा हो जाया करेगी। सूर्य यदा-कदा दिखलाई देगा।

समुद्र के निकटवाले स्थान गर्मी के दिनों में न अधिक गर्म और सर्दी के दिनों में न तो अधिक ठंडे ही होते हैं। यहाँ साल भर औसत दर्जे की गर्मी-सर्दी पड़ती है।

समय-समय पर पानी भी बरस जाया करता है। हमारे देश में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई की जलवायु समशीतोष्ण है, यद्यपि कलकत्ता विषुवत् रेखा से दूर और मद्रास निकट है।

स्थान के धरातल का समुद्र की सतह से ऊँचा या नीचा होना जलवायु पर विशेष प्रभाव डालता है। यदि स्थान बहुत ऊँचाई पर बसा है तो वहाँ सर्दी काफी पड़ेगी और गर्मी कम रहेगी। नैनीताल, शिमला आदि पहाड़ों पर बसे होने के कारण गर्मियों में भी ठण्डे रहते हैं।

हमारे देश के उत्तर में हिमालय पहाड़ है। इससे टकरा कर हमारे देश की मानसून हवाएँ देश के बाहर नहीं जाने पातीं और न इसे पार कर मध्य एशिया की बालू की आँधियाँ ही यहाँ आ सकती हैं। इससे हमारे यहाँ इन मानसून हवाओं से पानी बरस जाता है। राजपूताने में अरावली पर्वत की स्थिति ऐसी है कि वह अरब सागर की मानसूनी हवाओं को रोक नहीं सकता, अतः राजपूताना रेगिस्तान ही बना रह जाता है। पहाड़ों की उचित स्थिति वर्षा के लिए काफी जिम्मेदार है।

यदि स्थान मानसूनी हवाओं के मार्ग में पड़ता है तब तो वहाँ पानी का बरसना सम्भव ही है पर मार्ग में न होने से वह स्थान बंजर और मरुस्थल हो जाता है। राजपूताना न तो बंगाल की खाड़ी से उठी हुई मानसून के रास्ते में ही पड़ता है और न अरब सागरीय मानसून के ही। फलतः वह सूखा का सूखा रह जाता है।

समतल मैदान में जलवायु का सम होना आवश्यक ही है। हमारा देश ८° और ३०° अक्षांश उत्तर के मध्य स्थित है। इसके विचार से हमारे यहाँ की जलवायु उष्ण होनी चाहिए परन्तु ऐसा नहीं है। इसका कारण यहाँ की भूमि की बनावट है। भूमि की बनावट भिन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों की जलवायु भिन्न है। हाँ मैदानों की जलवायु अवश्य ही कुछ मिलती-जुलती है।

मौसम के अनुसार फसलों के भेद—फसलें जलवायु के अनुसार ही किसी स्थान पर पैदा की जा सकती हैं। प्रत्येक फसल को उगने, बढ़ने और पकने में भिन्न जलवायु की आवश्यकता होती है। यदि उन्हें यह आवश्यकतानुसार मिल जाय तभी उपज सम्भव रहती है। कुछ फसलें गर्म व शुष्क जलवायु में और कुछ गर्म व नम जलवायु में पैदा की जाती हैं। कुछ जमते समय अधिक गर्मी और बढ़ने के लिए अधिक पानी चाहती हैं तो कुछ जमने के लिए काफी नमी चाहती हैं। इन बातों पर विचार कर हम फसलों के तीन भेद कर सकते हैं। ये तीनों फसलें नीचे दी जाती हैं :—

(१) **रबी की फसल**—ये फसलें वर्षा ऋतु के खत्म होने पर बोई जाती हैं जबकि भूमि में काफी तरी होती है और तापक्रम नम होता है। इनके बढ़ने, फूलने-फलने में मामूली पानी और गर्मी की आवश्यकता होती है। पकने के समय गर्मी की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक चाहिए। इस फसल में गेहूँ, जौ, चना, मटर, मसूर, जई, सरसों, अलसी, तिलहन, बरसीम, रिजका, लाही आदि आते हैं। ये अक्टूबर-नवम्बर से लेकर मार्च-अप्रैल तक चलती हैं।

(२) **खरीफ की फसल**—इन फसलों को जमने में काफी गर्मी की जरूरत होती है और बढ़ने में इन्हें पानी खूब चाहिए। इनमें धान, सावाँ, मक्का, ज्वार, बाजरा, कोदो, मडुवा, काकुन, तिल, मूंगफली, उर्द, मूंग, ज्वार, अरहर, कपास, सनई, पटसन, जूट आदि फसलें आती हैं। ये फसलें जून-जुलाई से लेकर सितम्बर-अक्टूबर तक रहती हैं।

(३) **जायद की फसल**—यह फसल गर्मी के दिनों में उगाई जाती है जब कि रबी की फसल कट गई होती है और खरीफ की फसल बोई नहीं गई होती। ये प्रायः नदियों के किनारे रेतीले स्थानों में उगाई जाती हैं। खरबूजा, तरबूज, ककड़ी आदि फसलें जायद कहलाती हैं। ये अधिक से अधिक गर्मी और लू सहन कर सकती हैं।

जलवायु पर मानसूनी हवाओं का प्रभाव—किसी स्थान की जलवायु पर वहाँ चलने वाली मानसूनी हवाओं का काफी प्रभाव पड़ता है। हमारे देश में दो प्रकार की मानसूनी हवाएँ चलती हैं :—

१. गर्मी की मानसून तथा
२. जाड़े की मानसून।

गर्मी की मानसून—गर्मी के दिनों में हमारे देश में दो मानसून हवाएँ चलती हैं, एक बंगाल की खाड़ी से और दूसरी अरब सागर से। जो हवा बंगाल की खाड़ी से उठती है उसकी दो शाखाएँ हो जाती हैं। एक शाखा ब्रह्मा की ओर निकल जाती है और खासी, जयन्तिया आदि पहाड़ियों से टकरा कर वहीं खूब पानी बरसाती है। चेरापूंजी में यह शाखा अधिक पानी बरसाती है। दूसरी शाखा सीधे हिमालय की ओर बढ़ती है और हिमालय से टकरा कर आसाम और बंगाल में काफी पानी बरसा देती है। फिर यह यहाँ से बिहार, उत्तर प्रदेश और पंजाब की ओर बढ़ जाती है। यह शाखा ज्यों-ज्यों पश्चिम की ओर बढ़ती है, पानी की मात्रा कम होती जाती है। यहाँ तक कि पंजाब और राजपूताने तक पहुँचते-पहुँचते बहुत कम पानी रह जाता है।

अरब सागर से उठी दूसरी मानसून हवा हमारे देश के दक्षिण-पश्चिम भाग पर स्थित पश्चिमी घाट से टकराती है और वहीं महाबलेश्वर में खूब पानी बरसाती है। आगे बढ़ने पर इसकी पानी बरसाने वाली शक्ति क्रमशः क्षीण होती जाती है और विन्ध्याचल तथा सतपुड़ा तक पहुँच कर यह केवल वर्ष में २५ इंच ही पानी बरसा सकती है। यह मानसून सीधे हिमालय तक चली जाती है पर विन्ध्याचल से आगे बढ़ने पर यह नाम मात्र को ही पानी देती है। यही कारण है कि राजपूताना तथा पंजाब इस मानसून से बिल्कुल ही पानी नहीं पाते। यह मानसून जून से शुरू होकर सितम्बर-अक्टूबर तक रहती है।

जाड़े की मानसून—इस मानसून को उत्तरी-पूर्वी मानसून भी कहते हैं। यह जाड़े के दिनों में चलती है और मद्रास में काफी पानी बरसाती है। कभी-कभी इस मानसून से उत्तर प्रदेश में भी इन्हीं दिनों में वर्षा हो जाती है जिससे रबी की फसलों को काफी लाभ होता है।

अतिवृष्टि, अनावृष्टि अथवा असमय वृष्टि का फसलों पर प्रभाव—यदि फसल को आवश्यकतानुसार उचित समय पर पानी मिल जाता है तो उपज अच्छी होती है। परन्तु प्रायः ऐसा देखा जाता है कि किसी वर्ष अतिवृष्टि, किसी वर्ष अनावृष्टि तो किसी वर्ष असमय वृष्टि का प्रकोप बराबर होता रहता है। इससे फसल काफी क्षति-ग्रस्त हो जाती है। ये तीनों बातें खेती के लिए हानिकर हैं। वर्षा ऋतु में अधिक पानी बरस जाने के कारण फसलें या तो बह जाती हैं या सड़ जाती हैं। कभी-कभी तो बीज की समस्या सुलझाना ही दुस्साध्य हो जाता है। अनावृष्टि का प्रकोप तो और भी भयंकर होता है। अच्छी आई फसल पानी की कमी से सूख कर विनष्ट हो जाती है। हमारी खेती विशेष कर प्रकृति पर ही निर्भर करती है। प्रकृति के विमुख होने पर इसका सम्भालना कठिन हो जाता है। यद्यपि सरकार का ध्यान इस ओर यथेष्ट है फिर भी अभी सर्वमान्य के हित का कार्य नहीं हो सका है।

असमय वृष्टि का भी परिणाम भयंकर होता है। (१) कभी-कभी रबी की फसल के बो जाने के शीघ्र बाद ही पानी बरस जाता है। इससे बोई फसल जम नहीं सकती। अतः दूसरी बोआई करनी पड़ती है और पुनः खेत की तैयारी करनी पड़ती है। इससे समय और धन दोनों का नुकसान होता है। इसी प्रकार कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

(२) अक्टूबर और नवम्बर के माह में जबकि रबी की बोआई के लिए खेत जोतकर तैयार किये गये रहते हैं उसी बीच में कभी-कभी पानी बरस जाता है। ऐसा होने से खेत को नये सिरे से तैयार करना पड़ता है। बोआई तो पिछड़ ही जाती है, बोआई पिछड़ जाने से उपज भी ठीक नहीं होती।

(३) खरीफ की फसल वर्षा देर में होने के कारण पिछड़ जाती है। समय पर बोआई न होने से फसल हल्की हो जाती है और अधिक घाटा उठाना पड़ता है। ऐसा भी होता है कि वर्षा देर में शुरू होती है और जब शुरू हो जाती है तो लगातार होती ही रहती है। इससे खेत के जोतने और फसल के बोने का समय ही नहीं मिल पाता और खेत परती ही रह जाता है। वर्षा ऋतु में मौका पाकर फसलों की निकाई करना आवश्यक होता है। इससे फसलें अच्छी हो जाती हैं। कभी-कभी अविरल वर्षा होने से निकाई करने का अवसर ही नहीं मिल पाता और न निकाई हो पाती है। परिणामस्वरूप घास-पात और खर-पतवार से फसल इतनी जकड़ जाती है कि पौधे का बढ़ाव हो ही नहीं सकता और उपज मारी जाती है।

(४) रबी की फसलें जब फूल लेने लगती हैं उस समय पानी बरसने से पराग (Pollen grains) धुल जाते हैं और फसल में बीज ही नहीं लग पाते। इससे बड़ा भारी नुकसान होता है। अक्टूबर के माह में बाजरे के फूल जब निकल आते हैं और उस समय वर्षा हो जाती है तो फसल को बहुत क्षति उठानी पड़ती है।

तुषार या पाला (Frost)—जाड़े के दिनों में कभी-कभी तापक्रम इतना गिर जाता है कि ओस बनने वाली नमी बर्फ के छोटे-छोटे कणों में बदल जाती है। यह

तभी होता है जबकि तापक्रम ३२° फैरेन हाइट से नीचे गिर जाता है और आकाश के स्वच्छ होने पर पाला पड़ने लगता है। पाला प्रायः पत्तियों पर पड़ा करता है और इस प्रकार पत्तियों के अन्दर की क्रिया को रोक देता है। ऐसा होने से पत्तियाँ अपना भोजन नहीं तैयार कर पातीं और धीरे-धीरे सूखने लगती हैं। पाले से कभी-कभी फसलों को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ती है। थर्मामीटर या तापमापक द्वारा हमें पाला गिरने के कुछ समय पहिले ही इसका अनुमान हो सकता है और अनुमान हो जाने पर हम उचित उपायों से फसल की रक्षा भी कर सकते हैं। पाला पड़ने के पहिले ही यदि फसल की सिंचाई कर दी जाय तो पाले का प्रभाव नहीं पड़ सकता। पाला पड़ते समय खेत के चारों ओर धुआँ कर देने पर भी किसी सीमा तक इसका प्रभाव दूर किया जा सकता है।

कुहरा (Fog)—भाप के कण जब पानी की बूँदों में बदल जाते हैं और स्थल या जल के निकट की हवा में उड़ने लगते हैं तो वे ही कुहरा के नाम से सम्बोधित होते हैं। इसका प्रभाव फसलों पर बुरा नहीं पड़ता।

बादल (Cloud)—पानी गर्मी पाकर बराबर भाप के रूप में उड़ा करता है और वायु में भी सदैव पाया जाता है। जब तापक्रम गिरता है तो ये भाप-कण पानी की बूँदों में बदल जाते हैं। फिर भी ये इतने हल्के होते हैं कि हवा में उड़ते रहते हैं। जब तापक्रम कुछ और गिरता है तो ये हवा में न रहकर भूमि पर गिरने लगते हैं। इन्हें ही बादल कहते हैं।

ओस (Dew)—भाप हवा में रहती है। जब हवा काफी नम हो जाती है और तापक्रम कम हो जाता है तो यह भाप पानी की बूँदों में परिवर्तित हो जाती है। इसे हम प्रातःकाल घासों और पौधों की पत्तियों पर देखते हैं। यह भूमि को नम बना देती है।

वर्षा (Rain)—भाप वायु में जितनी ही ऊपर जाती है उसे उतनी ही अधिक ठंडक मिलती है। अधिक ठंडक मिलने से भाप पानी की बड़ी-बड़ी बूँदों में बदल जाती है। इन बड़ी-बड़ी बूँदों को जब हवा ढो नहीं सकती है तो ये पृथ्वी पर बरस जाती हैं।

ओला (Hail)—जब हवा में उड़ने वाली ये बूँदें अधिक ठंडी होकर जम जाती हैं तो इन्हें ओला कहते हैं। प्रायः जाड़े के दिनों में मेघावट के समय ओले भी पड़ जाया करते हैं। इससे फसल को काफी नुकसान पहुँचता है। खड़ी फसल कटकर गिर जाती है और दाने वाली फसलें तो बेकार ही हो जाती हैं।

बर्फ (Snow)—बादल का तापक्रम जब ३२° फा० से नीचे गिर जाता है तो बूँदें बर्फ बन जाती हैं और पानी न बरसा कर बर्फ की वर्षा करती हैं। ऐसा ठंडे स्थानों पर ही होता है।

वातावरण का ज्ञान—हमारे चारों ओर हवा इस तरह घिरी है कि हम कुछ समय के लिए भी इससे अलग नहीं रह सकते। वायुमण्डल वायु से पृथ्वी के धरातल

के २००-३०० मील ऊपर तक भरा है। हम ज्यों-ज्यों ऊपर चलते जायेंगे हमें हवा की कमी अनुभव होती जायेगी और अन्त में हम एक ऐसे स्थान पर पहुँच सकते हैं जहाँ बिल्कुल ही हवा न होगी। वहाँ पर हमारा रहना कठिन हो जायेगा। पृथ्वी के भीतर भी हवा वर्तमान है। इसी हवा में पौधों को लाभ पहुँचाने वाले बैक्टीरिया जीवित रह कर अपना कार्य करते हैं। इस हवा का निर्माण कई गैसों के मिश्रण से होता है। ये गैसें निम्नलिखित हैं :—

नाइट्रोजन	७८०·३%
आक्सीजन	२०·९९%
कार्बन-डाई-आक्साइड	०·०३%
आर्गन	·९४%
हाइड्रोजन	·०१%

इनके अतिरिक्त पानी की भाप और धूल के कण भी हवा में पाये जाते हैं। भाप की मात्रा वातावरण की गर्मी और हवा के दबाव पर निर्भर करती है। वातावरण की गर्मी २४ घंटे एक-सी नहीं होती। दिन में रात की अपेक्षा तापक्रम अधिक होता है। औसतन दिन के २ बजे तापक्रम सबसे ऊँचा और रात के ४ बजे सबसे कम होता है। तापक्रम का ज्ञान करने के लिए तापमापक की आवश्यकता होती है। ये कई प्रकार के होते हैं। उच्चतम और न्यूनतम तापमापक (Maximum and Minimum thermometer) सिक्स, का तापक्रम (Six's thermometer), डाक्टरी थर्मामीटर
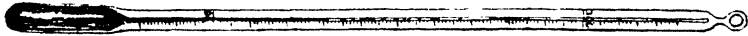
चित्र २—डाक्अरी थर्मामीटर

आदि होते हैं। डाक्टरी थर्मामीटर में एक नली होती है जो पारे से भरी होती है। नली पर चिह्न बनाया गया रहता है जैसा कि ऊपर के चित्र से प्रकट होता है। ताप के बढ़ने पर पारा ऊपर चढ़ता है और उस चिन्ह तक जाकर रुक जाता है जहाँ गर्मी का चरम बिन्दु रहता है। सर्दी से पारा नीचे गिरता है। किन्तु यह कृषि के किसी काम का नहीं होता। उच्चतम-न्यूनतम तापमापक का कृषि में अधिक महत्व है।

शुष्क और तर घुंडी का तापमापक (Dry and wet bulb thermometer)— यह तापमापक वायुमंडल की नमी नापने का एक यंत्र है जिसमें दो तापमापक लगे होते हैं। ये तापमापक एक लकड़ी के चौखटे में इस प्रकार कसे होते हैं कि दोनों एक दूसरे से स्पर्श न कर सकें। एक तापमापक जिसकी घुंडी खुली होती है शुष्क घुंडी का तापमापक और दूसरा जिसकी घुंडो कपड़े के एक टुकड़े से तर की गई रहती है तर घुंडी का तापमापक कहलाता है। तर घुंडी के तापमापक पर रखे हुए कपड़े का एक किनारा पानी के एक छोटे प्याले में डूबा रहता है जिससे कपड़ा सदैव तर बना रहता। पानी का प्याला चौखटे पर कहीं रख दिया जाता है।

तापमापकों की घुंडियों के एक स्थिति में न होने के कारण तापक्रम एक-सा नहीं मिलता। शुष्क घुंडी का तापमापक वातावरण का तापक्रम निर्देश करता है। तर घुंडी का तापमापक प्रत्येक समय समान तापक्रम नहीं बतलाता। जब वायुमंडल में शुष्कता अधिक होती है और नमी का अभाव होता है तो तर घुंडी के तापमापक का तापक्रम गिर जाता है क्योंकि इस घुंडी की अधिक गर्मी गीले कपड़े के पानी को भाप बनाने में लग जाती है। परिणाम स्वरूप दोनों तापमापकों के तापक्रमों में अधिक अन्तर होता है। किन्तु जब वायुमण्डल में नमी की मात्रा अधिक उपस्थित होती है तो पानी से भाप बनाने की क्रिया बहुत कम होती है या बिल्कुल होती ही नहीं। ऐसी स्थिति में अन्तर थोड़ा-बहुत होता है या होता ही नहीं।

वायु दबाव मापक या बैरोमीटर (Barometer)—इस यंत्र का प्रयोग हवा के दबाव नापने में किया जाता है। एक सिरे से बन्द ३२" लम्बी काँच की नली को जब पारे से भर कर खुले मुँह को अँगूठे से दबाकर पारे की नाँद में उलट दिया जाता है तो पारा एक निश्चित ऊँचाई तक जा कर रुक जाता है। पारे की ऊँचाई उस स्थान का दबाव बतलाती है। कुछ दिनों बाद इस नली में निशान लगा दिया जाता है। पृथ्वी के धरातल से ज्यों-ज्यों हम ऊपर चलते जायँगे, दबाव कम होता जायगा। प्रायः अनुमान किया गया है कि प्रत्येक ९०० फीट की ऊँचाई पर पारा १" गिर जाता है। इसी प्रकार समुद्र के धरातल से जब नीचे की ओर चलते हैं तो दबाव क्रमशः घटने लगता है। जब पारा अकस्मात नीचे गिरता है तो आँधी आने या पानी बरसने का अनुमान किया जाता है और इसके ऊपर चढ़ने पर मौसम सूखा होता है। समुद्रों में तूफान आने के समय पारा गिर जाता है, इससे बैरोमीटर द्वारा नाविक तूफान से अपनी रक्षा करते हैं।
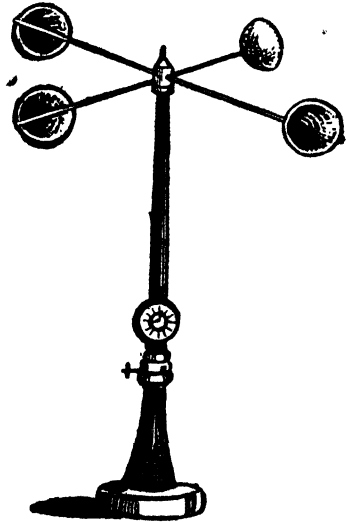
वायु गति मापक (Anemometer)—इस यन्त्र की सहायता से हवा की गति का अनुमान किया जाता है। इसमें ६.७२ इंच लम्बे खम्भे पर चार इंच व्यास वाली चार कटोरियाँ लगी होती हैं। ये कटोरियाँ वायु की गति की तिहाई गति में चलती हैं। वायु की प्रति घंटा एक मील की चाल पर इनका चक्कर हो जाता है। इसमें एक घड़ी लगी होती है जो प्रत्येक समय हवा की गति का ज्ञान करा सकती है। इससे किसानों को आँधी आने का ज्ञान हो जाता है। इसे ऊपर का चित्र देख कर समझ सकते हैं।

चित्र ३—वायु गति मापक

वायु दिशा सूचक (Wind Cock or Wind Wave)—वायु के बहाव

की दिशा जानने के लिए इस यन्त्र की सहायता ली जाती है। इसमें सीधी धुरी में एक तीर लगी होती है जिसे पृथ्वी के समानान्तर रखते हैं और धुरी को धरातल से समकोण पर इस प्रकार रखते हैं कि वह अपने बिन्दु पर सुगमता से घूम सके। तीर के पिछले भाग में दो पत्तियाँ होती हैं जो वायु द्वारा प्रभावित होती हैं। जब इसे किसी ऊँचे स्थान पर रख दिया जाता है तो यह तीर उस दिशा की सूचना दे देती है जिस ओर से हवा का बहाव होता है।

वर्षा और उसका विभाजन—भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है और यहाँ की खेती अधिकांशतः प्रकृति पर ही निर्भर करती है। वर्षा इसका मूलाधार है। इसकी मात्रा स्थान-स्थान पर भिन्न होती है और इसी के अनुसार फसलें भी उगाई जाती हैं। वर्षा किसी वर्ष अधिक और किसी वर्ष कम हुआ करती है। ऐसा कदापि नहीं होता कि प्रत्येक वर्ष की वर्षा का परिमाण समान हो या इतना अन्तर हो कि उनमें कोई हिसाब ही न हो। यों अतिवृष्टि और अनावृष्टि तो अपवाद स्वरूप ही हैं। किसी स्थान की ओसत वर्षा जानने के लिए वहाँ के कुछ वर्षों का परिमाण लेकर उसमें वर्षों की संख्या से भाग दे देना चाहिए। वर्षा की मात्रा की नाप के लिए वर्षा मापक (Rain gauge) अच्छा पड़ता है।

वर्षा मापक—यह एक खोखला यन्त्र होता है। इसमें एक कीप लगी होती है जिसमें वर्षा का पानी आता है। यह कीप एक काँच के बोतल में लगी रहती है। पानी कीप से होकर बोतल में इकट्ठा होता है। बोतल के पानी को नपने गिलास (Measuring Cylinder) (एक प्रकार का शीशे का नपना) द्वारा नाप लेते हैं। इस यन्त्र को पानी बरसते समय समतल चबूतरे पर खुले स्थान में रख देते हैं जिससे वायुमण्डल की सीधी बूँदें उसी में प्रवेश करें। एकत्रित पानी को २४ घंटे में कम से कम एक बार नाप लेना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर अधिक बार भी नापा जा सकता है। इस तरह वर्षा की जो नाप आती है वह इंचों में मानी जाती है। जैसे नपने गिलास में यदि २" पानी आया तो हम उस दिन की वर्षा को २" ही कहेंगे।

देहातों में अधिकतर लोग वर्षा मापक या बरसात के पानी नापने की विधि नहीं जानते। वे मात्रा को अधिक और कम कह कर ही काम चला लेते हैं। अधिक वर्षा होने पर कहते हैं 'अधिक वर्षा हुई' और कम होने पर 'कम वर्षा'। कुछ लोग साधारण किसानों से थोड़ा चतुर होते हैं, वर्षा की माप लेने के लिए परात का प्रयोग करते हैं। परात गोलाकार न रह कर चौरस पेंदे की होती है। उसका किनारा उठा हुआ होता है ताकि वर्षा की बूँदें उससे बाहर न चली जायँ। जब पानी बरसने लगता है तो इस परात को बराबर और खुली जगह पर रख दिया करते हैं। वर्षा खत्म होने पर परात के पानी की गहराई नाप लेते हैं।

वर्षा के विभाजन का कृषि में महत्व—फसल के लिए वर्षा की मात्रा और उसका विभाजन बहुत महत्वपूर्ण है। वर्षा का विभाजन उसकी मात्रा से अधिक प्रधानता रखता है। यदि वर्ष भर की औसत वर्षा एक ही माह में लगातार रूप में हो जाती है और अन्य महीने सूखे ही रह जाते हैं तो फसल को बड़ी हानि उठानी पड़

जाता है। उत्तर भारत में वर्षा प्रायः जून के अंतिम सप्ताह से प्रारम्भ होती है। पानी बीच में कुछ दिनों के लिए जब रुक जाता है तो किसान खरीफ की फसल बो लेते हैं। यदि पानी शुरू होकर अविराम रूप से बरसता ही रहे तो खरीफ की फसल पिछड़ जाती है। १५ जुलाई तक खरीफ वाली फसलें अवश्य ही बो जानी चाहिए। कभी-कभी मई के माह से हल्की वर्षा होने लगती है। जुलाई-अगस्त के महीने में वर्षा का बीच-बीच में खुल जाना किसानों के लिए उत्तम होता है। साँवा, कोदो, काकुन, धान आदि की निकाई (Weeding) हो जाती है और मक्का आदि फसलों की गुड़ाई (Digging) हो जाती है। जब इसका अवसर नहीं मिलता तो फसल हल्की हो जाती है। १५ अगस्त से १५ सितम्बर तक का समय बड़ा ही महत्व रखता है। इस समय में जब वर्षा अनुकूल हुई तो फसल की सफलता आवश्यक है। सितम्बर के दूसरे पक्ष से वे फसलें पकना शुरू हो जाती हैं। इस समय भीषण वर्षा से हानि होती है। पका फसल तो क्षतिग्रस्त होती ही है, रबी की बोआई भी पिछड़ जाती है।

रबी की जुताई १५ सितम्बर से आरम्भ हो जाती है और १५ अक्टूबर तक चलती है। यदि इस समय एक-आध हल्की वर्षा हो जाती है तो वह नमी के लिए लाभकर होती है परन्तु कपास और बाजरे की खड़ी फसलों को हानि पहुँच जाती है। उनके फूल झड़ जाते हैं। इससे पराग के न रहने से उनमें बीज ही नहीं लग पाता है। रबी की बोआई करते समय खेत में आर्द्रता का अभाव नहीं होना चाहिए। यदि खेत की नमी बीज के उगने के लिए कम मालूम पड़े तो पलेवा (हल्की सिंचाई) कर लेना चाहिए। किन्तु इसमें समय और धन अधिक खर्च होता है। वर्षा के समय पर होने से ऐसी स्थिति ही नहीं आने पाती। कभी-कभी रबी के फसल की बोआई के बाद ही वर्षा हो जाती है। इससे बीज जमने नहीं पाते और दुबारा बोआई की आवश्यकता होती है। दिसम्बर के अन्तिम दिनों अथवा जनवरी के प्रारम्भ में जाड़े की वर्षा जिसे मेघावट कहते हैं फसलों को बड़ी लाभप्रद सिद्ध होती है। इससे एक सिंचाई की बचत हो जाती है। परन्तु यदि वर्षा फसल के फूलने या पकते समय होती है तब तो बड़ी हानि उठानी पड़ती है। जाड़े के दिनों में जब लगातार कई दिनों तक बादल घिरे रहते हैं तो फसलों के लिए बड़ी आशंका हो जाती है। पौधों की पत्तियाँ निर्बल पड़ जाती हैं क्योंकि धूप की अनुपस्थिति में भोजन की क्रिया नहीं होने पाती। कभी-कभी इससे फसलों को रोग लग जाया करता है जिसे गेरुई (Rust) कहते हैं। यह रोग गेहूँ, जौ आदि फसलों को बहुत क्षति पहुँचाता है। फसल मारी जाती है। इन्हीं दिनों में पाले का भी आक्रमण हो जाता है जो फसलों को क्षत-विक्षत-सा कर देता है। ओलों के पड़ने से तो दुर्भिक्ष के लक्षण सामने आ जाते हैं, विशेष कर उस समय जबकि फसल पक कर खड़ी हो।

कभी-कभी फरवरी के अन्त या मार्च के पहले सप्ताह में वर्षा हो जाती है। इससे खलिहानों में एकत्रित अन्न सड़ जाते हैं, और भूसा भी खराब हो जाता है। बीज में एक प्रकार का काला धब्बा-सा लग जाता है, जिससे बाजार में उसका मूल्य घट जाता है और उसके स्वाद में भी कुछ तीखापन आ जाता है। इस प्रकार जब तक

अन्न घर में नहीं चला आता है तब तक वर्षा के विभाजन का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। रबी की फसल के कट जाने के बाद मई के अन्त में जब एकाध हल्की वर्षा हो जाती है तो गर्मी की जुताई (Hot weather cultivation) में पर्याप्त सहायता मिलती है। अतः यह स्पष्ट हो गया कि खेती बारी पर वर्षा की मात्रा का उतना महत्व नहीं है जितना उसके विभाजन का। असमय वर्षा का फसलों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ जाता है और कभी-कभी तो दुर्भिक्ष भी पड़ जाया करता है; परन्तु समय की वर्षा कृषक को मालामाल कर सकती है।

जलवायु के आधार पर भारतवर्ष का विभाजन—प्रत्येक स्थान की कृषि वहाँ की जलवायु पर निर्भर करती है। जैसी उस स्थान की जलवायु होगी, वैसी ही फसलें वहाँ उगाई जा सकेंगी। धान की फसल अधिक पानी और नमी चाहती है। अतः इसकी पैदावार बंगाल में ही हो सकती है, पंजाब में नहीं। ठीक उसी प्रकार गेहूँ पंजाब में ही उगाया जा सकता है, बंगाल में नहीं। जलवायु के आधार पर ही रेशे वाली फसलें कपास और जूट पंजाब और बंगाल दो अलग प्रदेश में उगाई जाती हैं। ईख राजपूताना के कृषक नहीं पैदा कर सकते पर उत्तर प्रदेश में यह सरलतापूर्वक उगाई जा सकती है। चाय दार्जिलिंग और नैनीताल की पहाड़ियों पर ही पैदा हो सकती है, गंगा के समतल मैदान में नहीं। आखिर क्यों? इसका कारण क्या है? जलवायु। हमने पहले ही जान लिया है कि कोई भी फसल अपनी जलवायु के अनुसार ही उगाई जा सकती है। बरसात के दिनों में तुमने चने के उगते हुए बीज देखे होंगे। ये उचित नमी और पानी आदि पाकर उग तो आते हैं पर इनका बढ़ाव नहीं हो सकता। यदि बढ़ाव हो भी जाय तो फूल-फल लगना असम्भव-सा है। जाड़े के दिनों में इसके ठीक विपरीत होता है। इनमें फूल-फल लगते हैं। ऐसा जलवायु के प्रभाव से ही होता है। इसी आधार पर हम अपने देश का विभाजन कई भागों में कर सकते हैं।

१. पंजाब का उत्तरी भूभाग,
२. दक्षिणी पंजाब तथा राजपूताना,
३. दक्षिण भारत,
४. पश्चिमी घाट, पूर्वी-घाट, विन्ध्य और नीलगिरि पर्वत से घिरा भूभाग,
५. मध्य भारत की ऊँची भूमि,
६. हिमालय तथा विन्ध्य पर्वत का मध्य भाग,
७. भारत का पूर्वीय भूभाग,
८. बिहार, उड़ीसा तथा पूर्वीय उत्तर प्रदेश तथा,
९. पश्चिमीय उत्तर प्रदेश

इनका विश्लेषण हम नीचे करेंगे :—

पंजाब का उत्तरी भाग—यह भूभाग नदियों की लाई हुई मिट्टी से बना है। इसमें सतलज, रावी, चेनाब, व्यास और झेलम नदियाँ बहती हैं। जमीन उर्वर है। जलवायु ठण्डी है। ५" से १०" तक वर्षा भी हो जाती है। अतः गेहूँ और कपास की अच्छी फसल होती है।

दक्षिणी पंजाब तथा राजपूताना--यह भाग शुष्क और मरुस्थल है। मानसूनी हवाएँ यहाँ आती ही नहीं इसलिए पानी नहीं बरसता। चारों ओर रेत ही रेत है। सूर्य के निकलने के साथ ही गर्मी बढ़ने लगती है और डूबने के साथ
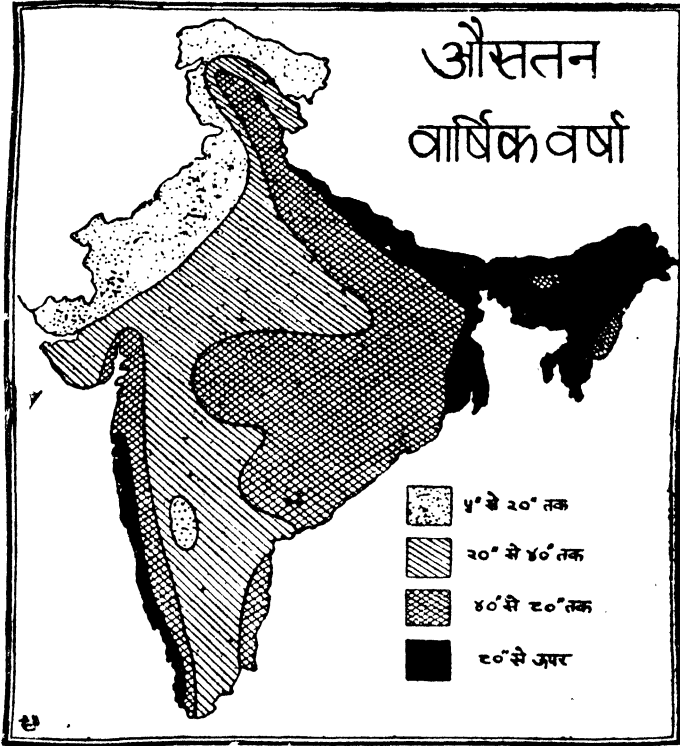
चित्र ४--भारत का वर्षा विभाजन

कम होने लगती है। रात को जोरों की सर्दी पड़ती है। ऐसी जलवायु में ज्वार-बाजरा, तरबूज, खरबूजा आदि फसलें उगाई जाती हैं। यहाँ बहुधा अकाल पड़ा करता है। ऊँट यहा का प्रधान पालतू जानवर है।

दक्षिण भारत--भारतवर्ष का यह भाग विषुवत् रेखा के समीप पड़ता है परन्तु समुद्र की स्थिति से जलवायु उष्ण नहीं है। गर्मी और सर्दी मध्यम स्तर की पड़ती है। अरब सागरीय तथा जाड़े की मानसून से वर्षा भी हो जाती है। मुख्य फसल धान, मसाले, केला और नारियल हैं। इनके अतिरिक्त तम्बाकू की खेती यहाँ खूब होती है।

पश्चिमी घाट, पूर्वी घ.ट, विन्ध्य प्रदेश और नीलगिरि पर्वत से घिरा भूभाग–चारों ओर की पहाड़ियों से घिरे होने के कारण यह भूभाग बंजर और शुष्क है। मानसूनी हवाओं का प्रवेश यहाँ पहाड़ों के कारण होता ही नहीं। अतः वर्षा नहीं होती। जलवायु गर्म और सूखी है। इससे उपज नाम मात्र को ही होती है। भूमि कँकरीली-पथरीली है, इससे खेती करना और भी कठिन हो जाता है। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण सिंचाई की भी सुविधा नहीं है।

मध्य भारत की ऊँची भूमि––यह भूभाग रेतीला और पथरीला है। भूमि ऊँची-नीची है। पहाड़ियों की अधिकता है इससे जंगल अधिक पाये जाते हैं। कहीं-कहीं काली मिट्टी भी पाई जाती है जहाँ कपास की खेती होती है। इसी कारण मध्य प्रदेश और बरार में सूती कारखाने बन गये हैं।

हिमालय तथा विन्ध पर्वत का मध्य भाग––दोनों पर्वतों से घिरा हुआ यह भाग गंगा और यमुना की लाई मिट्टी से बना है। यह भाग समतल है। जलवायु समशीतोष्ण है। मानसूनी हवाओं से पानी बरसता है। इससे गेहूँ, जौ, चना, मटर, ईख, धान आदि लगभग सभी फसलें उगाई जाती हैं। यहाँ सिंचाई के साधन अधिक उपलब्ध हैं।

भारत का पूर्वी भूभाग––इस भाग में पश्चिमी बंगाल और आसाम के प्रदेश आते हैं। जलवायु उष्ण और आर्द्र है। वर्षा काफी होती है। इससे चाय, धान, जूट, पटसन आदि फसलें उगाई जाती हैं।

बिहार उड़ीसा तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश––यह प्रदेश अधिक उपजाऊ है। जलवायु आर्द्र है। धान, ईख और तम्बाकू की फसल अधिकता से होती है। गेहूँ, जौ, कपास, अरहर, चना, मटर भी पैदा होते हैं परन्तु कम परिमाण में। यहाँ वर्षा की मात्रा ६०" से ७०" तक होती है।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश––यहाँ वर्षा का परिमाण ३०"-४०" तक है। जलवायु सम है। प्रायः सभी फसलें पैदा की जाती हैं। ईख को फसल अधिकता से होती है। दाल वाली फसलों की पैदावार भी अच्छी होती है। यहाँ के लोग सुखी हैं।

जलवायु के विचार से उत्तर प्रदेश का विभाजन––उत्तर प्रदेश की जलवायु स्थान-स्थान पर भिन्न है। इससे फसलों की उपज भी स्थान के अनुसार ही भिन्न चलती है। इस आधार पर यह प्रदेश तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. उत्तर का पर्वतीय भूभाग,
२. बीच का मैदान तथा
३. दक्षिणी उत्तर प्रदेश।

उत्तर का पर्वतीय भूभाग–यह प्रदेश हिमालय से सटा हुआ पूरब से पश्चिम को चला गया है। इसमें तीन प्रकार की मिट्टी पाई जाती है :

(१) **पहाड़ी**––यह बिल्कुल कँकरीली और पथरीली है। यहाँ सर्दी अधिक और गर्मी कम पड़ती है। वर्षा की मात्रा लगभग ३०"-५०" तक होती है। यहाँ की भूमि कृषि योग्य नहीं है। ढालों पर चाय पैदा हो जाती है। इन स्थानों पर अब

वैज्ञानिक रीति से खेती करने की योजना हो रही है। पहाड़ियों को सिढ़ीदार बनाकर समतल वाले भाग पर खेती की जा सकती है। खेती करने की इस रीति को टिर्रेसिंग (Terracing) कहते हैं।

(२) भावर भाग—पहाड़ी प्रदेश के नीचे का भाग भावर कहलाता है। यह भाग पत्थरों और कंकड़ों से भरा पड़ा है। जलवायु सम है। वर्षा अधिक होती है। अतः इन कारणों से खेती नहीं हो सकती।

(३) तराई भाग—यह भाग दलदली भाग कहलाता है। यहाँ ६०" से ७०" तक वर्षा होती है। जलवायु आर्द्र और उष्ण है। भूमि उपजाऊ है परन्तु मच्छरों की अधिकता और जलवायु की अनुपयुक्तता से लोग बसने का साहस नहीं करते। जंगलों की भरमार है। तराई का दक्षिणी भाग अवश्य ही जलवायु के विचार से अच्छा है। यहाँ धान और ईख की खेती खूब होती है। जंगलों से लकड़ियाँ अधिक मिलती हैं।

बीच का मैदान—यह भाग समतल और उर्वर है। इसके भी दो भाग हो सकते हैं: (१) ऊपरी मैदान और (२) निचला मैदान। ऊपरी भाग में ३०-४० वर्षा होती है। जलवायु ठंडी और शुष्क है परन्तु सिंचाई की सुविधा के कारण गेहूँ ज्वार, बाजरा, कपास, चना, मटर आदि फसलें पैदा की जाती हैं। आबादी बहुत, सघन है। निचले मैदान में गोरखपुर, बनारस और इलाहाबाद के डिवीजन आते हैं। वर्षा ४०"-६०" तक होती है। जलवायु उष्ण और आर्द्र है। धान, ईख और अरहर की उपज अधिक होती है। गेहूँ, जौ आदि भी होते हैं परन्तु कम परिमाण में। आबादी घनी है। तरकारियाँ अधिक पैदा की जाती हैं।

दक्षिणी उत्तर प्रदेश—यह प्रदेश पहाड़ी और पठारी है। वर्षा ३०"-४०" तक हो जाती है परन्तु भूमि पठारी होने के कारण सर्दी में काफी सर्दी और गर्मी में काफी गर्मी पड़ती है। ज्वार व बाजरा की फसलें मुख्य हैं। जंगल अधिक हैं जहाँ बहुमूल्य लकड़ियाँ पाई जाती हैं।

मौसम का पूर्वाभास (Weather Forecast)—भारतीय किसान के लिए मौसम का पूर्वाभास हो जाना कृषि में बड़ा महत्व रखता है। प्राचीन काल के अनेक विद्वानों ने अपना अनुभव व्यक्त किया है जिनसे मौसम की भविष्यवाणी होती है। घाघ का नाम इस क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने 'लाल पियर जब होहिं अकाशा। तब छोड़ो बरखा की आशा।' जैसी अनेक युक्तियाँ कहीं और उन्हें जनता के सामने प्रकाशित किया। ज्योतिष के आधार पर हिन्दू पञ्चांगों में भी इस प्रकार की भविष्य-वाणी मिलती है। वर्षा, पाला, ओला आदि की तिथि उनमें अंकित रहती है परन्तु स्थान विशेष का ज्ञान न होने से यह भविष्यवाणी प्रायः भ्रममूलक सिद्ध होती है। संस्कृत-विद्वान् बराहमिहिर ने भी कुछ मौसम की भविष्यवाणी पर विचार प्रकट किया है।

परन्तु यह भविष्यवाणी यथार्थतः सत्य नहीं होती। आज का युग वैज्ञानिक युग है। विज्ञान द्वारा भविष्य के मौसम का पता सरलता से लगाया जा सकता है।

पानी कब बरसेगा, दिन खुला होगा या बदली का दिन होगा, पाला तो नहीं पड़ेगा, हवा की गति क्या रहेगी, उसकी दिशा क्या होगी, आँधी तो नहीं आयेगी आदि की जानकारी के लिए वेधशालाएँ हैं। क्षेत्रीय वेधशालाओं की मौसम की खबरें केन्द्रों में भेजी जाती हैं। इन केन्द्रों में इन बातों को रेकार्ड किया जाता है और तत्पश्चात् उन्हें रेडियो अथवा बेतार के तार द्वारा सारे देश में घोषित किया जाता है। इन वेधशालाओं में आगामी बातों को भिन्न-भिन्न यन्त्रों से ज्ञात कर लिया जाता है। पाला पड़ने या वर्षा होने की खबर जब किसान को कुछ समय पहले ही मालूम हो जाती है तो वह इनसे मूल्यवान फसल की रक्षा कर सकता है। पाला के प्रभाव को रोकने के लिये पहले ही सिंचाई कर सकता है अथवा खेत के चारों ओर धुवाँ कर सकता है।

वेधशालाओं का प्रधान केन्द्र पूना में है। उत्तर प्रदेश में ऐसे १६ अनुसंधान क्षेत्र (Meteorological Observatories) हैं। भारतवर्ष में ऐसी वेधशालाएँ इलाहाबाद, बनारस, कानपुर, गोरखपुर, लखनऊ, देहली, बम्बई, नागपुर, कटक, आबू, अजमेर, कलकत्ता, मद्रास, लुधियाना, मसूरी, पटना, पटियाला, आगरा, अलीगढ़, मेरठ, झाँसी, बरेली, जयपुर, नजीबाबाद और पूना में हैं। ये दैनिक पत्रों द्वारा मौसम, तापक्रम, वायु का दबाव, अधिक वर्षा, सापेक्षिक नमी (Relative Humidity) आदि प्रकट करती हैं। साथ ही निकट भविष्य में पड़ने वाला पाला, ओला, वर्षा, हवा की गति और दिशा आदि भी इनमें दी गई रहती हैं।

मौसम के पूर्वाभास से किसान फसल की बहुत कुछ रक्षा कर सकता है। सरकार का यह कार्य बहुत ही सराहनीय है। किन्तु हमारे देश के किसान इन बातों से अधिक लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। इसका कारण उनकी निरक्षरता है। साथ ही रेडियो या बेतार के तार आदि का देहातों में अभाव भी इसका उत्तरदायी है।

प्रश्न

१. अच्छी फसलों के उत्पादन के लिए जलवायु तथा मौसम के महत्व का वर्णन करो। (उत्तर प्रदेश बोर्ड, १९५२)

२. उदाहरण द्वारा बताओ कि ऋतु सम्बन्धी पूर्वानुमानों से किसानों को किस प्रकार लाभ होता है। इस प्रकार की सूचना उत्तर प्रदेश के किसानों को कैसे प्राप्त होती है? (१९५१)

३. तुषार पड़ने के क्या कारण हैं? फसलों को तुषार से बचाने के लिए किसानों को क्या सलाह दोगे?

४. फसलों (शस्यों) के लिए अनुकूल और प्रतिकूल मौसम की विवेचना करो। (१९५४)

५. वे कौन-कौन सी बातें हैं, जिनका किसी स्थान की जलवायु पर प्रभाव पड़ता है? लिखो।

६. वर्षा विभाजन से क्या तात्पर्य है? उत्तर प्रदेश और भारत में इसका क्या महत्व है?

७. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखो:—

वायु गति मापक, बेरोमीटर, वायु दिशा सूचक और थर्मामीटर।

अध्याय २

मृदा (SOIL)

कृषि में जलवायु का जितना महत्व है, मृदा का उससे कम नहीं, इसके अध्ययन के लिए हमें उसकी परिभाषा जाननी चाहिए।

मृदा की परिभाषा—(१) पृथ्वी का ऊपरी भाग मृदा, मिट्टी या भूमि कहलाता है। इसका निर्माण चट्टानों से हुआ है। चट्टानें बराबर टूटा करती हैं, सड़ा करती हैं और भूमि के रूप में बदला करती हैं। फिर यह भूमि पर्त के रूप में जमती है और चट्टान बन जाती है। यह क्रिया निरन्तर हुआ करती है। चट्टान भूमि और भूमि चट्टान बना करती है। यह परिवर्तन हजारों और करोड़ों वर्षों में होता है। इसीलिए हमें स्पष्टत: यह परिवर्तन जान नहीं पड़ता। किसी कृषि-शास्त्रज्ञ ने कहा है—(Rock is soil and soil is rock) **अर्थात् चट्टान मृदा है और मृदा चट्टान।**

(२) मृदा की एक दूसरी परिभाषा यों दी जाती है—**पृथ्वी के पर्त की वह तह, जो चट्टानों के टूटने और बराबर सड़ने से बनी है, जिसमें कुछ न कुछ जीवांश** (Organic Matter) **मौजूद हों और जो पौधों को उगाने की शक्ति रखती है, मृदा कहलाती है।** (Soil is the layer of earth made of decomposition and disintegration of pieces of rock, which possess some Organic Matter and which is capable of growing plants.)

मृदा में पौधे उगते हैं, बढ़ते हैं, फूलते हैं और फलते हैं। फिर इसी में मिलकर जीवांश (Organic matter) की वृद्धि करते हैं। जीवांश बढ़ने से मृदा उर्वर हो जाती है और फसलें अच्छी आती हैं। मिट्टी को बराबर जोता जाता है और उलटा-पलटा जाता है, इससे इसके कण बहुत छोटे हो जाते हैं। यदि हम पृथ्वी को खोदना शुरू करें तो नीचे पहले बड़े-बड़े कंकड़ या छोटी-छोटी चट्टानें मिलेंगी। गहराई में जाने से बड़ी चट्टानें मिलेंगी। ये चट्टानें सारी पृथ्वी को घेरे हुए हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मृदा का निर्माण चट्टानों से ही हुआ है। अतः मृदा की संरचना का अध्ययन करने से पूर्व चट्टानों के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है।

चट्टान (Rock)—यह तो हमें मालूम हो गया कि भूमि की रचना चट्टानों से हुई है और होती जा रही है। ये चट्टानें विभिन्न प्रकार की गैसों और खनिज पदार्थों के ठण्डे होने से बनती रही हैं। खनिज पदार्थ कृषि में बहुत महत्व रखते हैं। पौधों के बढ़ाव में इनका बहुत बड़ा हाथ है। पर ये सभी भूमि में एक ही अनुपात में नहीं पाये जाते। भिन्न-भिन्न स्थान पर इनके गुण भिन्न होते हैं और इनकी बनावट में भी अन्तर होता है। इसका कारण भिन्न खनिज पदार्थों वाली चट्टानें ही हैं। प्रत्येक

चट्टान अपने में दूसरी से भिन्न खनिज पदार्थ रखती हैं। यह चट्टान जब भूमि बन जाती है तो उस भूमि में उस चट्टान के ही गुण सन्निहित रहते हैं।

चट्टानों का विभाजन—हमने ऊपर पढ़ा है कि सभी चट्टानें एक समान नहीं होतीं। उनके आकार, रंग, गुण आदि विभिन्न होते हैं। उनकी उत्पत्ति भी एक-सी नहीं होती। इन्हीं बातों के आधार पर चट्टानों को कई भागों में विभाजित किया गया है।
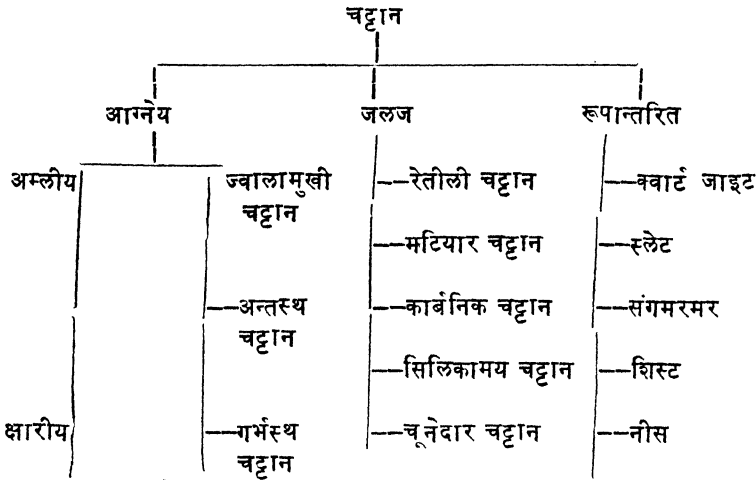
१. **आग्नेय चट्टान**—इस चट्टान को स्तरहीन या प्रारम्भिक (Primary) चट्टान भी कहते हैं। इसका निर्माण पृथ्वी के भीतर स्थित अन्यान्य द्रव्यों के ठण्डे होने से हुआ है। यह चट्टान, चट्टान के इतिहास में सबसे पहले बनी और इसीलिए पृथ्वी की निचली तहों में ही पाई जाती है। इसमें पर्तें नहीं होतीं। इसका ऊपरी भाग रवेदार (Crystalline) होता है। इसमें सिलिका का अंश अधिक होता है। सीलिका के आधार पर आग्नेय चट्टान के दो वर्ग हो सकते हैं :—

१. अम्लीय
　और
२. क्षारीय
　अथवा
१. ग्रैनाइट तथा
२. बसाल्ट

अम्लीय—इस आग्नेय चट्टान में सिलिका की मात्रा ६५—८५ प्रतिशत होती है। इसका उदाहरण ग्रैनाइट चट्टान है। इसका रंग सफेद, गुलाबी और हल्का काला लिये हुए होता है। इसमें फेल्सपार, आर्थोक्लेज, क्वार्टज आदि खनिज पदार्थ

(Mineral matter) मौजूद रहते हैं। ग्रैनाइट में पोटास की मात्रा काफी होती है पर चूने की कम।

क्षारीय—इसमें अम्लीय आग्नेय चट्टानों की अपेक्षा सिलिका की मात्रा कम होती है। यह ४५—५५ प्रतिशत तक पाई जाती है। इसमें क्वार्टज नहीं पाया जाता। बसाल्ट इसका उदाहरण है जिसमें अभरख, फेलसफार, ओलिवाइन आदि खनिज रहते हैं। बसाल्ट से बनी भूमि उर्वर होती है। इसका रंग काला होता है जिसमें कपास की अच्छी खेती होती है। इसमें लोहा मैग्निशियम, चूना और पोटास की मात्रा होती है।

भौतिक गुण (Physical character) और रसायनिक बनावट (Chemical composition) के आधार पर आग्नेय चट्टानों के तीन भेद हो सकते हैं जैसा चित्र से स्पष्ट है:—

१. बाह्य चट्टान,
२. अन्तस्थ चट्टान तथा
३. गर्भस्थ चट्टान

बाह्य चट्टान—यह चट्टान पृथ्वी में पिघली अवस्था में पाई जाती है। इसके टुकड़े ज्वालामुखी पहाड़ों के उद्गम के साथ लावा और गैसों के रूप में बाहर आते हैं और यहाँ शीतल होकर चट्टान के रूप में हो जाते हैं। इन्हें ही बाह्य आग्नेय चट्टान कहते हैं।
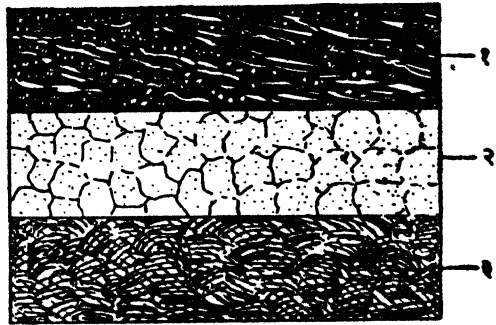
चित्र ५—आग्नेय चट्टान के भेद

अन्तस्थ चट्टान—यह चट्टान बाह्य चट्टान के नीचे होती है। इसका निर्माण पृथ्वी के भीतर स्थित तरल पदार्थों के भीतर वहीं ठण्डे हो जाने पर होता है।

गर्भस्थ चट्टान—ये अन्तस्थ चट्टानों के नीचे पाई जाती हैं। ये जहाँ पैदा हुए वहीं ठंडे होकर जम गये। इन्हें पृथ्वी की बहुत गहराई पर पाया जाता है।

२. **जलज चट्टान**—इस चट्टान को पर्त रूपी चट्टान भी कहते हैं। जैसा इसका नाम है ठीक उसी प्रकार इसकी बनावट भी है क्योंकि इसका निर्माण पर्तों में होता है। इस चट्टान पर पानी का अधिक प्रभाव रहता है। जब पानी गति में होता है तो उसमें आग्नेय चट्टान या अन्य वस्तुएँ टूट-टूट कर बहती रहती हैं। जब पानी का बहाव मन्द होता है तो ये चीजें धीरे-धीरे धरातल पर बैठना शुरू कर देती हैं। इस तरह पर्त पर पर्त पड़ती जाती है। इसी से डेल्टा का निर्माण होता है। ये डेल्टा बाद में चट्टान के नाम से पुकारे जाने लगते हैं। इसमें बालू, कोयला, खड़िया, चूना, अभरख

आदि पदार्थ अधिकता से पाये जाते हैं। चट्टान बनने की यह क्रिया नदियों, तालाबों या झीलों आदि द्वारा होती है। पृथ्वी की तह में बराबर उथल-पुथल हुआ करता है। इससे कभी ऊपर की चट्टानें नीचे और नीचे की ऊपर हो जाया करती हैं। इससे बना भूमि बहुत उपजाऊ होती है। इसमें Sand-stone और Lime-stone पाये जाते हैं।

जलज चट्टान के भेद—ये चट्टानें पाँच प्रकार की होती हैं :

१. रेतीली चट्टान,
२. मटियार चट्टान,
३. कार्बनिक चट्टान,
४. सिलिकामय चट्टान तथा
५. चूनेदार चट्टान।

रेतीली चट्टान—इसका निर्माण ऐसे पत्थरों से हुआ रहता है जिनसे रेत बनते हैं। इसमें क्वार्ट्ज, सिलिका, फेल्सफार, अभरक, चूना, कैल्शियम कार्बोनेट, लोहा आदि पदार्थ रहते हैं। यह कई रंगों का होता है। जैसे रेतीला पत्थर।

मटियार चट्टान—इस चट्टान के कण बहुत छोटे और बारीक होते हैं। इनमें पानी सोखने का गुण होता है। ये शीघ्र ही कीचड़ के रूप में बदल जाते हैं। इस चट्टान में अल्मूनियम की मात्रा अधिक पाई जाती है।

कार्बनिक चट्टान—इनका रंग काला और भूरा होता है। इसमें कोयले की मात्रा विशेष रहती है।

सिलिकामय चट्टान—इस चट्टान में सिलिका की मात्रा पाई जाती है। चकमक पत्थर और चर्ट इसके उदाहरण हैं जो इस चट्टान में पाये जाते हैं।

चूनेदार चट्टान—इन चट्टानों में कैल्शियम कार्बोनेट अथवा मैग्निशियम कार्बोनेट की मात्रा पाई जाती है। इसमें चूने के पत्थर या खड़िया आदि आते हैं।

३. **रूपान्तरित चट्टान**—जब आग्नेय या जलज चट्टानें दबाव या तापक्रम के प्रभाव से अपना मौलिक आकार बदल कर दूसरा आकार धारण कर लेती हैं तो उन्हें रूपान्तरित या परिवर्तित चट्टान कहते हैं। इस चट्टान में दोनों चट्टानों के गुण पाये जाते हैं परन्तु इसका रूप दूसरा ही होता है। इसमें रवे और पर्त दोनों पाई जाती हैं। ये कभी-कभी अधिक गर्मी के कारण रवेदार और अधिक दबाव के कारण पर्तदार हो जाती हैं। इसमें क्वार्टजाइट, स्लेट, संगमरमर, सिल्ट और नोज खनिज पाये जाते हैं। ऐसी चट्टानें हमारे देश के दक्षिणी भाग में पाई जाती हैं।

मृदा के अंश—मृदा वायुमण्डल से मिलकर पौधों को उगाने का काम करती है। पौधे की उपज में अन्यान्य चीजों की आवश्यकता पड़ती है। यदि इन आवश्यकताओं में कोई पदार्थ न मिले तो पौधे का बढ़ाव उचित नहीं हो सकता। इस बढ़ाव के लिए प्रधानतया चार चीजें जिम्मेदार होती हैं जिनकी पूर्ति मृदा ही करती है। वायुमण्डल में वायु और नमी दो ही चीजें उपलब्ध होती हैं परन्तु मिट्टी में वायु, पानी, खनिज पदार्थ और जीवांश पाये जाते हैं। इन वस्तुओं का अनुपात भिन्न स्थान की मृदाओं में भिन्न होता है। औसत दर्जे पर भूमि में भिन्न वायु २५%, पानी

२५%, खनिज ४०% और जीवांश १०% पाया जाता है। यह अनुपात ऊपर के चित्र से और भी स्पष्ट हो सकता है।

(अ) **वायु**—मृदा में वायु का औसत अनुपात चौथाई होता है। यह छोटे-छोटे कणों के बीच में रहती है। इसमें आक्सीजन, नाइट्रोजन आदि गैसें रहती हैं जो पौधे को अधिक लाभ पहुँचा सकती हैं। जिस मृदा में वायु की मात्रा बिल्कुल ही नहीं होगी अथवा कम होगी उसमें उपज ठीक नहीं हो सकती। वायु के रहने से भूमि में जीवांश अधिक पाये जाते हैं। और पौधों को खाना बनाने वाली बैक्टीरिया भी अपना काम करती पाई जाती है। इसके लिए मृदा का भुरभुरापन गुण अधिक श्रेयस्कर है।
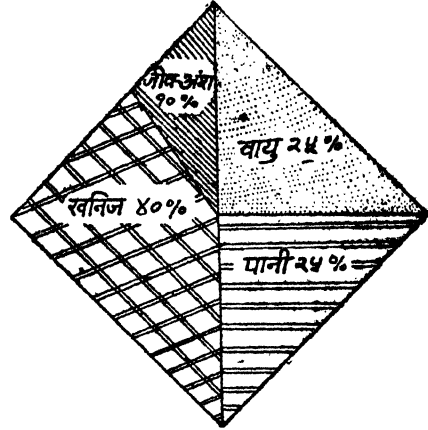
चित्र ६—मृदा के अंश

(ब) **पानी**—यद्यपि वायुमडल की नमी भी पौधों के काम आती है परन्तु मृदा का जल पौधों के लिए बहुत जरूरी होता है। पौधे अपना भोजन घोल के रूप में लेते हैं और घोल बनाने के लिए पानी का रहना आवश्यक है। भूमि में जब तक यह पानी वर्तमान रहता है तब तक पौधे का बढ़ाव निरन्तर गति से होता है; परन्तु इसके समाप्त होते ही पौधे मुरझाने लगते हैं। भूमि में अधिक पानी का रहना भी हानिकर होता है जिसे ड्रेनेज (Drainage) द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है।

(स) **खनिज पदार्थ**—मृदा में खनिज पदार्थ का भी अंश बहुलता से पाया जाता है। इनमें अनेक पदार्थ होते हैं जिनके गुण विभिन्न होते हैं। वे भिन्न-भिन्न कमियों को दूर करते हैं। चूना, लोहा, मैगनीशियम, गन्धक, सोडियम, पोटेशियम, सिलिका आदि खनिज पदार्थ हैं। खनिज पदार्थ दो प्रकार के होते हैं:

(१) प्रारम्भिक खनिज तथा
(२) माध्यमिक खनिज

प्रारम्भिक खनिज में फेल्सपार, क्वार्ट्ज, अभरख, ओलिवाइन, आपेटाइट आदि आते हैं और माध्यमिक खनिज में जिप्सम, कैल्साइट, केओलिनाइट तथा जियोलाइट होते हैं। जिप्सम का प्रयोग ऊसर भूमि को सुधारने में किया जाता है।

(द) **जीवांश**—यह मृदा का मुख्य अंश है। पौधे का जीवन इसी पर निर्भर करता है। जिस भूमि में जीवांश होते हैं उसमें पानी और वायु की उचित मात्रा रहती है और पौधा अपना भोजन समय पर उचित परिमाण में पा सकता है। ये

जीवांश अपने अन्दर नमी की मात्रा अधिक दिनों तक संचित किये रहते हैं। जीवांश का विशेष अध्ययन हम आगे के पृष्ठों में करेंगे। पहले यहाँ हमें मृदा की संरचना के विषय में जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

मृदा संरचना (Soil Formation)

मृदा संरचना की क्रिया प्रकृति में बराबर हुआ करती है। चट्टानें अनेक साधनों द्वारा टूटा करती हैं। ये बराबर छोटे-छोटे कणों और फिर बारीक कणों में बदलती रहती हैं। यह क्रिया इतनी धीरे-धीरे होती है कि हमें मालूम ही नहीं होने पाता। इसका निर्माण महीनों और वर्षों में नहीं होता। इसमें सदियों और युग बीत जाते हैं। तब कहीं कोई चट्टान (Parent Rock) मृदा के रूप में आ पाती है। आज हम जिस मृदा को देख रहे हैं उसकी रचना करोड़ों वर्षों की लगातार क्रिया द्वारा हो पाई है और करोड़ों वर्षों में इसका वर्तमान रूप भी किसी दूसरे रूप में बदल जायेगा। ऊपर के चित्र में चट्टान का मिट्टी के रूप में बदलना दिखलाया गया है। मृदा बनने की यह क्रिया Soil forming process या Weathering process
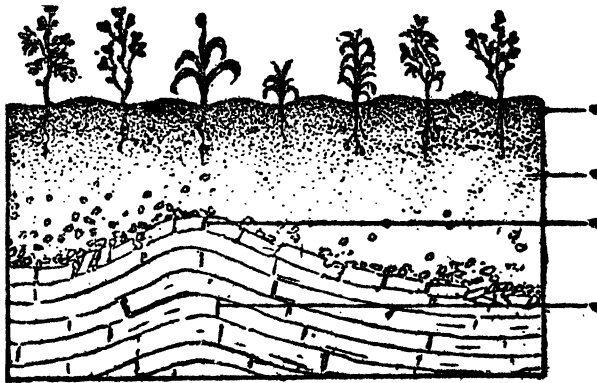
क—बारीक मिट्टी, ख—मोटी मिट्टी, ग—चट्टान के टुकड़े, और घ—चट्टानें
चित्र ७—चट्टान में जड़ें

कहलाती है। जिन शक्तियों से यह क्रिया होती है उन्हें Weathering forces कहा जाता है। ये शक्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं जो निम्नलिखित हैं :—

१. भौतिक शक्तियाँ (Physical agencies),
२. रासायनिक शक्तियाँ (Chemical agencies) तथा
३. पौधों और जन्तुओं द्वारा (Biological agencies)।

१. **भौतिक शक्तियाँ**—मृदा की रचना में भौतिक शक्तियों का बहुत बड़ा हाथ है। ये अपना प्रभाव चट्टानों पर डाल कर उसे टुकड़ों में विभाजित किया करती हैं। इनमें निम्नलिखित शक्तियाँ सम्मिलित हैं :—

क. वायु (Air),
ख. पानी-वर्षा, नदियाँ (Water-rain, River),
ग. बर्फ (Ice),
घ. तापक्रम (Temperature),
ङ. ज्वालामुखी (Volcanoes),
च. भूचाल (Earthquake) तथा
छ. पाला (Frost)

वायु (Air)—वायु पत्थर के एक टुकड़े को दूसरे से टकरा कर तोड़ने और बारीक बालू के कणों को एक स्थान से दूसरे स्थान को उड़ाने का कार्य करती है। गर्मी के दिनों में जब तेज हवा बहने लगती है तो धूल के कण उड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। ये एक स्थान से दूसरे स्थान को उड़कर मृदा की संरचना करते हैं। रेगिस्तानों में प्रायः बालू की आँधियाँ आया करती हैं। इन आँधियों में बालू की काफी मात्रा उड़कर मैदानों तक चली आती है। मंगोलिया के पठार मे वायु द्वारा उड़ाई गई मिट्टी चीन के मैदान तक आती है। वायु द्वारा मृदा-रचना का यह एक ज्वलंत उदाहरण है।

पानी (Water)—भूमि की बनावट में पानी अधिक सहयोग प्रदान करता है। वर्षा की बूँदों में एक प्रकार का बल होता है जो चट्टानों को तोड़ता है। मिट्टी का ऊपरी धरातल बराबर टूटा करता है और एक स्थान से बहकर दूसरे स्थान को जाया करता है। यह वर्षा का पानी जब नदियों में बह कर जाता है तो अपने साथ मिट्टी की अधिक मात्रा भी बहा ले जाता है। मिट्टी नदी की तेज गति मे बहती चली जाती है परन्तु जहाँ उसकी गति मन्द पड़ती है, धरातल पर धीरे-धीरे बैठना शुरू कर देती है और इस प्रकार मृदा की रचना होती है। नदियाँ जब पहाड़ों से निकलती हैं तो वहाँ उनकी गति बहुत ही तेज होती है। तेज गति में वे बड़ी-बड़ी चट्टान बहा लाती हैं। ये बहते समय आपस में टकराती हैं और छोटे-छोटे कणों में बनती जाती हैं। मैदानों और डेल्टों तक पहुँचते-पहुँचते चट्टानें मिट्टी के रूप में हो जाती हैं और भूमि की बनावट में हाथ बटाती हैं। चट्टानों का इस प्रकार वर्षा और नदियों द्वारा टूटने और भूमि बनाने की क्रिया डेन्यूडेशन (Denudation) की क्रिया कहलाती है।

बर्फ—वर्षा का जल जो चट्टानों और शिलाओं के बीच के रिक्त स्थानों में प्रवेश कर जाता है शीतकाल में अधिक ठंडक पाकर बर्फ के रूप में बदल जाता है। बर्फ के रूप में उसका आयतन बढ़ जाता है। इस आयतन का दबाव बगल की चट्टानों पर पड़ता है और वे टूटने लगती हैं। ये टूट कर भूमि संरचना करती हैं। बर्फ के बड़े टुकड़े गर्मी के दिनों में जब फिसलना शुरू करते हैं तो इनके साथ पत्थर के टुकड़े और चट्टानें भी फिसलने लगती हैं। इस फिसलाहट में वे टूटती हैं और मिट्टी का निर्माण करती हैं।

तापक्रम—चट्टानें विभिन्न प्रकार के खनिजों से बनी होती हैं। खनिजों में गर्मी पाकर बढ़ने का गुण होता है पर कोई अधिक बढ़ता है और कोई कम। सर्दी पाने से इनमें सिकुड़ने का भी गुण होता है। दिन के समय सूर्य के प्रचंड ताप मे चट्टानें गर्म हो जाती हैं और उनका आयतन भी बढ़ जाता है; परन्तु रात की सर्दी से ये सिकुड़ती हैं। सिकुड़ने

और फैलने की क्रिया इनमें बराबर हुआ करती है। ऐसा होने से उनमें कभी-कभी दरार पड़ जाती है। यह दरार बराबर बढ़ती जाती है और चट्टानें चिटक-चिटक कर टूटने लगती हैं। इस प्रकार चट्टानों पर तापक्रम का बहुत प्रभाव पड़ता है और मृदा की रचना हुआ करती है। चट्टानों के चिटकने की यह क्रिया Ex-foliation कहलाती है।

ज्वालामुखी पहाड़—ज्वालामुखी पहाड़ जब पृथ्वी से निकलते हैं तो अपने साथ लावा, क्षार, अनेक पत्थर, राख आदि लाते हैं और उन्हें भूमि की सतह पर इकट्ठा कर देते हैं। इससे बड़ी-बड़ी चट्टानें चकनाचूर हो जाती हैं और खेती योग्य भूमि बनाती जाती हैं। लावा और राख के ढेर भी धीरे-धीरे मृदा में बदल जाते हैं।

भूचाल—भूचाल समुद्र को पृथ्वी, पृथ्वी को समुद्र, पहाड़ को मैदान, पृथ्वी का भीतरी अंश ऊपर और ऊपरी भाग नीचे कर देता है। इससे बड़ी-बड़ी चट्टानें टूट कर भूमि में बदल जाती हैं।

पाला—पाला भी भूमि संरचना में अधिक सहायता देता है। अपने प्रभाव से यह चट्टानों को टूटने पर विवश करता है। चट्टानों की दरारों में जो पानी इकट्ठा होता है, वह पाले से जम जाता है और उन पर जोरों का दबाव डालता है। इस दबाव से चट्टानें टूटती हैं और भूमि के रूप में परिणत हो जाती हैं।

२—**रासायनिक शक्तियाँ**—मृदा-संरचना भौतिक शक्तियों के अतिरिक्त रासायनिक शक्तियों से भी होती है। इसमें ओषजन (Oxygen), कार्बन (Carbon), पानी (Water) मुख्यतया कार्य करते हैं। इनसे चट्टानों का विच्छेदन (Decomposition)) होता है और निम्नलिखित क्रियाएँ सम्पादित होती हैं जिनसे चट्टान के खनिजों के गुण बदल जाते हैं। रासायनिक साधनों से चट्टानों के टूटने की क्रिया को चट्टानों का टूटना (Disintegration of rock) कहते हैं। यह क्रिया ५ प्रकार से होती है :—

आक्सीकरण (Oxidation),
कार्बनीकरण (Carbonation),
जल संयोजन (Hydration),
विलयन या घोल (Solution) तथा
ओषजन निष्क्रमण (Reduction)।
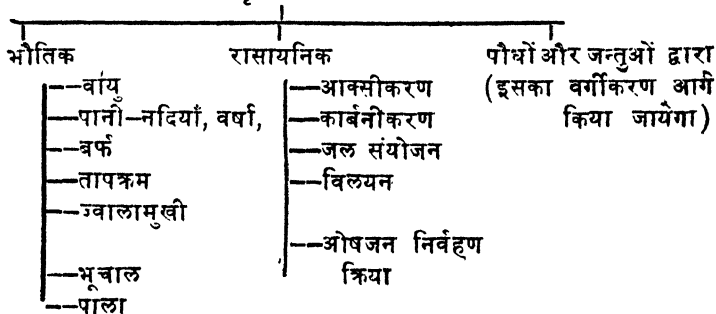
आक्सीकरण—इस क्रिया में ओषजन गैस का बड़ा महत्व रहता है। यह चट्टानों के धातु और अधातु खनिजों को अपने प्रभाव से आक्साइड बना लेती है। आक्साइड बन जाने से ये खनिज नर्म और भुरभुरे हो जाते हैं। ऐसा होने से इनमें विच्छेदन की क्रिया सरलतापूर्वक होती है। उदाहरण के लिये लोहे को ले लो। ऐसी कड़ी धातु भी वायुमण्डल के ओषजन से मिलकर नर्म पड़ जाती है। इसमें लाल, पीले और काले रंग के दाग पड़ जाते हैं, जिसे मोर्चा लगना (Rusting) कहते हैं। चट्टानों में ऐसी अनेक धातुएँ होती हैं जिनमें आक्सीकरण की क्रिया होती है और वे चट्टानों को टूटने योग्य बना देती हैं। टूट कर ये चट्टानें मृदा का निर्माण करती हैं।

क्रिया—

$Fe_2 + O_2 = 2FeO$

$4FeO + O_2 = 2Fe_2O_3.$

$2FeS_2 + 7O_2 + 4H_2O = 2FeO + 4H_2SO_4$

$4FeO + O_2 = 2Fe_2O^3.$
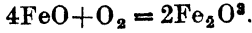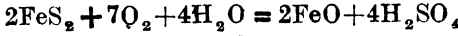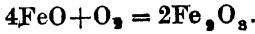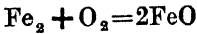
कार्बनीकरण—यह क्रिया कार्बन-डाइ-आक्साइड द्वारा होती है। कार्बन-डाइ-आक्साइड पानी में घुल कर कार्बोनिक एसिड (Carbonic Acid) बनाती है। यह अम्ल (Acid) पानी के साथ मिलकर उसकी घुलनशीलता बढ़ा देता है। इस प्रकार कार्बन-डाई-आक्साइड चट्टानों के खनिजों को घुलाने में समर्थ होती है और उन्हें टुकड़ों में विभाजित करती रहती है।

उदाहरण—$2FeS_2 + 7O_2 + 4H_2O + 2CO_2 = 2FeCO_3 + 4H_2SO_2.$
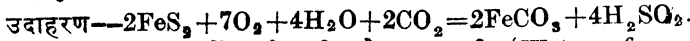
जल-संयोजन—चट्टानों में कभी-कभी रवे का पानी (Water of crystallization) पाया जाता है। यह पानी जब ताप के कारण चट्टान से निकल कर उड़ जाता है तो चट्टानें दुर्बल पड़ जाती हैं। चूने के चट्टान में जब पानी मिलता है तो ये फूल जाती हैं और नर्म पड़ जाती हैं तथा मृदा में बदल जाती हैं।

क्रिया—$2Fe_2O_3 + 3H_2O = 2Fe_2O_3\ 3H_2O.$

घोल या विलयन—पानी में सोडियम, पोटैशियम, क्लोराइड और सल्फेट आदि आसानी से घुल जाते हैं और घुलकर रासायनिक क्रिया में भाग लेते हैं। चट्टानों के पानी में घुलने वाले खनिज जब विलयित हो जाते हैं तो ये कमजोर पड़ जाती हैं और मृदा का निर्माण करती हैं। गर्म पानी के साथ यह क्रिया आसानी से होती है।

ओषजन का निष्क्रमण—यह क्रिया आक्सीकरण के ठीक विपरीत है। इसमें ओषजन वायुमण्डल से नहीं ली जाती अपितु चट्टान से निकाल दी जाती है और उसके स्थान पर किसी दूसरे तत्व को ले लिया जाता है। इस क्रिया से चट्टानों की शक्ति क्षीण हो जाती है और वे टूटने लगती हैं।

क्रिया—$2Fe_2O_3 - O_2 = 4FeO.$
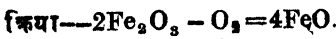
३—**पौधों और जन्तुओं का प्रभाव**—भूमि संरचना में पौधों और जन्तुओं का भी हाथ होता है। नीचे के चित्र में पौधे की जड़ चट्टान को तोड़कर फैल गई है। इसी प्रकार

भूमि बना करती है। इसे हम नीचे दिये हुए खाके से अच्छी तरह समझ सकते हैं :—
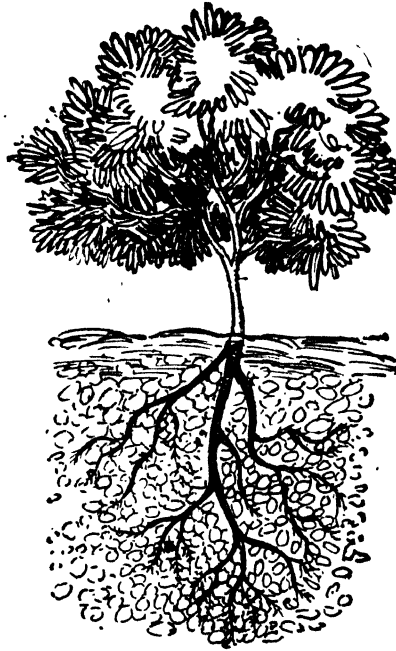
चित्र ८—चट्टान में जड़ें

पौधों और जन्तुओं का प्रभाव

- जन्तु प्रभाव (Zoological)
  - केंचुआ (Earthworm)
  - चींटी
  - बैक्टीरिया (Bacteria)
  - मनुष्य
  - विभिन्न जन्तु
- वानस्पतिक प्रभाव (Botanical)
  - बड़े पेड़-पौधे (Higher plants)
  - बैक्टीरिया
  - छोटे-पौधे (Lower plants)
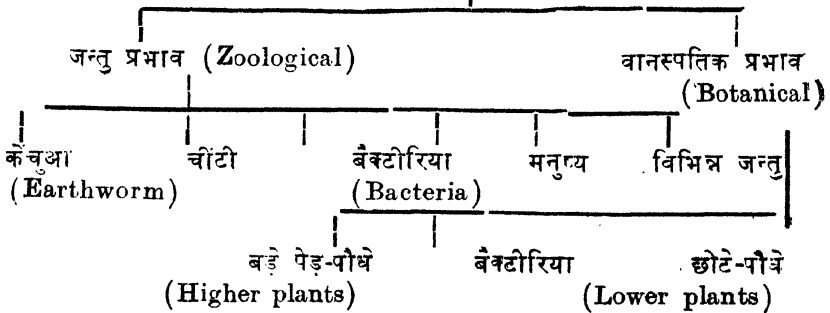
जन्तुओं का प्रभाव—छोटे-छोटे जीव-जन्तु और बड़े-बड़े जानवर मृदा-संरचना इस ढंग से करते हैं कि उन्हें पता ही नहीं चलता कि वे यह कार्य कर रहे हैं। चलने-फिरने, दौड़ने, घर बनाने, गिरने आदि में वे मिट्टी की बनावट में परिवर्तन करते हैं। मरने पर भी वे जीवांश के रूप में बदल कर भूमि का निर्माण करते हैं। ये अनजान में ही खेती-बारी का एक महत्वपूर्ण कार्य कर जाते हैं।

केंचुआ—बरसात के दिनों में केंचुए नर्म स्थानों में घूमते हुए पाये जाते हैं। उन्हीं स्थानों में ये रहने के लिये माँद बनाते हैं और माँद की मिट्टी खाते जाते हैं। इस मिट्टी को और बारीक कर वे अपने शरीर से मल के रूप में त्याग देते हैं। उनका यह मल-त्याग पृथ्वी के ऊपरी धरातल अथवा Soil पर होता है जिससे मिट्टी बनती है। यह मिट्टी उर्वर होती है और इसमें जीवांश काफी रहता है। इस प्रकार प्रतिवर्ष हजारों मन मिट्टी निचले तह से ऊपरी तह पर लाई जाती है।

चींटी—चींटे और चींटियाँ अपनी माँद का निर्माण करने में बहुत-सी मिट्टी ऊपरी सतह पर ला देती हैं। यह मिट्टी भुरभुरी और नरम होती है।

बैक्टीरिया—पृथ्वी में पौधों को लाभ पहुँचाने वाले कीड़े पाये जाते हैं जिन्हें बैक्टीरिया कहते हैं। ये मरे जानवरों और जीवांश में रासायनिक परिवर्तन कर उन्हें मिट्टी का रूप दे देते हैं। इस प्रकार मृदा संरचना में इनका बड़ा सक्रिय हाथ रहता है।

इन प्राकृतिक और रासायनिक क्रियाओं के अतिरिक्त मनुष्य बराबर चट्टानों को काटता रहता है और उन्हें कृषि योग्य बनाता है। इस प्रकार पहाड़ों आदि को काट कर अधिक परिमाण में भूमि बनती है।

विभिन्न जानवर—साही, शृगाल, लोमड़ी, खरगोश आदि जानवर अपनी माँदें बनाकर अनजान में ही इस क्रिया में साथ देते हैं। ये अपनी माँद को कन्दराओं या खोहों में बनाते हैं और उनकी मिट्टी बाहर निकाल देते हैं। साही के शरीर पर एक प्रकार के काँटे होते हैं जो चट्टानों से रगड़ पड़ने पर उन्हें खुरच देते हैं और मिट्टी का रूप प्रदान करते हैं।

वनस्पति का प्रभाव—वनस्पतियाँ भी उगने, बढ़ने और गिरने पर मिट्टी बनाती हैं। उगते समय ये कम स्थान लेती हैं पर जब बढ़ने लगती हैं और इनकी जड़ें अधिक दूरी में फैलना चाहती हैं तो पास की चट्टानों पर दबाव पड़ता है और वे खिसक कर नीचे गिरती हैं।

बड़े पौधे—बड़े पौधे प्रति वर्ष अपनी पत्तियाँ मिट्टी पर गिरा कर जीवांश की वृद्धि करते हैं। जब वे हवा या पानी से गिर जाते हैं तो भी धीरे-धीरे सड़ कर मिट्टी बनते हैं। कभी-कभी ये जलाने के काम में आते हैं। उस दशा में भी राख बन कर मृदा का निर्माण करते हैं।

बैक्टीरिया और छोटे पौधे—ये भूमि की बनावट में काफी योगदान देते हैं। इनमें निम्न श्रेणी के पौधे आते हैं। बैक्टीरिया, फफूँदी, एलगी आदि इस श्रेणी में सम्मिलित हैं। इनमें कुछ तो काई आदि के रूप में पाये जाते हैं और कुछ कुकुरमुत्ता की भाँति

बड़े रूप में भी मिलते हैं। छोटे पौधे इतने सूक्ष्म होते हैं कि उन्हें बिना अनुवीक्षण यंत्र (Microscope) की सहायता के नहीं देखा जा सकता। फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि इतने सूक्ष्म पौधे हमारे बड़े काम के हैं। ये भूमि में जीवांश की उत्पत्ति करते हैं और भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाते हैं। मरने के पश्चात् ये भूमि-संरचना करते हैं।

मृदा-वर्गीकरण

मृदा को उसके भिन्न गुणों के आधार पर कई वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहला विभाजन उत्पत्ति के अनुसार होता है। मृदा कहाँ से उत्पन्न हुई और उत्पन्न होकर उसी स्थान पर स्थिर रह गई अथवा किसी प्राकृतिक शक्ति द्वारा उसे स्थानान्तरित किया गया आदि का इसमें अध्ययन किया जाता है। दूसरा वर्गीकरण मृदा के कणों की भौतिक बनावट के आधार पर किया जाता है। इसमें कणों की मोटाई और बारीकी पर ध्यान दिया जाता है। तीसरा विभाजन भूमि की स्थिति, चौथा जल की दृष्टि, पाँचवाँ वनस्पति और जलवायु के विचार से किया जाता है। सर्वप्रथम हम मृदा का वर्गीकरण उत्पत्ति के आधार पर करेंगे।

उत्पत्ति की दृष्टि से मृदा के भेद—(Classification of soil on the basis of Geology)—मृदा दो वर्गों में बाँटी जा सकती है: (१) **स्थानीय मृदा** (Sedimentary) और (२) स्थानान्तरित मृदा (Transported soil)।

१. स्थानीय मृदा—मृदा जब उत्पन्न होकर अपनी उत्पत्ति के ही स्थान पर रह जाती है तो उसे स्थानीय मृदा कहते हैं। इस मृदा के दो भेद होते हैं:

(क) अवशिष्ट (Residual) तथा
(ख) संचित (Cumulose)

अवशिष्ट स्थानीय मृदा—यह मृदा किसी शिला विशेष से उत्पन्न होकर उसी के आस-पास बिखरी होती है। इसका निर्माण प्रारम्भ में ही होता है। इसमें खनिज पदार्थ अधिक पाये जाते हैं। इसके ऊपरी धरातल में बारीक कण और निचले धरातल में मोटे कण होते हैं। इस प्रकार की भूमि पहाड़ी प्रदेशों में अधिकता से पाई जाती है।

संचित स्थानीय मृदा—इस भूमि में खनिज पदार्थों का अभाव रहता है। परन्तु जीवांश की मात्रा अधिक होती है। ये जीवांश इस भूमि के समीप उगी वनस्पतियों से प्राप्त होते हैं। जीवांश इस भूमि में सड़ा करते हैं। इस सड़ाव के आधार पर संचित मृदा के दो भाग होते हैं—पीट और मक। जब मृदा में पेड़-पौधे और पत्तियों की पहचान सुगमतापूर्वक हो जाय तो उसे पीट संचित मृदा कहते हैं। मक भूमि में इनका सड़ाव उस सीमा तक पहुँच गया रहता है कि उन्हें पहचानना कठिन-सा होता है। ये जीवांश भूमि में खाद का कार्य करने लगते हैं।

२. स्थानान्तरित मृदा—मृदा जब पानी, बर्फ, हवा, गुरुत्वाकर्षण आदि वाह्य शक्तियों द्वारा अपने उत्पत्ति-स्थान से हटा कर दूसरे स्थान पर लाई जाती है तो उसे स्थानान्तरित मृदा कहते हैं। इसको कई वर्गों में बाँट सकते हैं:—

क. हिम निर्मित मृदा (Glacial)

ख. गुरुत्वाकर्षण मृदा (Colluvial soil),

ग. वायु निर्मित मृदा (Aolion soil), तथा

घ. जल निर्मित मृदा (Soil transported by the action of water)

हिम निर्मित मृदा—यह भूमि बर्फ द्वारा निर्मित होती है। गर्मी से पिघल कर जब बर्फ के विशाल टुकड़े नीचे की ओर ढुलकते हैं तो सामने की चट्टानों से टूट कर यह भूमि बनती है। कृषि-कार्य में इसका महत्व नहीं है। हमारे देश में इस प्रकार की भूमि देहरादून और काश्मीर के कुछ भागों में पाई जाती है।

गुरुत्वाकर्षण द्वारा निर्मित मृदा—इस प्रकार की भूमि खेती के योग्य नहीं होती क्योंकि इसकी संरचना आकर्षण (Gravity) द्वारा होती है। चट्टानों के टुकड़े पृथ्वी के आकर्षण द्वारा नीचे की ओर ढुलकते हैं और मृदा बनाते हैं। इस प्रकार की मृदा में कंकड़, पत्थर, रेत आदि पदार्थ पाये जाते हैं जो खेती के लिए अनुपयुक्त हैं।

वायुनिर्मित मृदा—यह मृदा वायु द्वारा अपनी उत्पत्ति से लाई जाती है। वायु की तीव्र गति के साथ यह उड़ती है और जब इसकी गति मन्द होती है तो यह धीरे-धीरे नीचे बैठना शुरू कर देती है। इस प्रकार की मिट्टी हमारे देश में राजपूताने में पाई जाती है। चीन और साइबेरिया के मैदानों में भी इस प्रकार की मिट्टी पाई जाती है। इसमें राख, धूल, बालू आदि के कण भी पाये जाते हैं।

जल निर्मित मृदा—इस मृदा को तीन भागों में बाँटा जा सकता है:—

क. अलूवियल

ख. मेराइन तथा

ग. लैक्यूस्ट्राइन।

अलूवियल मृदा—इस प्रकार की भूमि पानी के द्वारा बनती है। पानी की तेज गति में मिट्टी कट कर बह जाती है और उस स्थान पर इकट्ठा हो जाती है जहाँ पानी की चाल धीमी पड़ती है। नदियाँ इस प्रकार की मिट्टी बहा कर मैदानों में बिछा देती हैं। डेल्टे पर भी इस प्रकार की मृदा इकट्ठी होती है। हमारे देश में गंगा और यमुना नदियाँ अलूवियल मृदा अधिक मात्रा में बनाती हैं और उत्तर भारत के मैदानी भाग का निर्माण करती हैं। ऐसी भूमि खेती के उपयुक्त होती है। इसमें फासफोरस, पोटास, चूना, नाइट्रोजन आदि आवश्यक तत्व पाये जाते हैं। जीवांशों की इसमें बहुलता होती है।

मेराइन—यह मृदा समुद्रों के किनारे मिलती है। नदियों की मन्द धार में मिट्टी के सूक्ष्म कण समुद्र तक पहुँच जाते हैं और फिर ये समुद्र की लहरों द्वारा किनारों पर बिखेर दिये जाते हैं। इसमें रेत की अधिक मात्रा पाई जाती है। इसी से इसका रंग हल्का और भूरा होता है। जीवांश का इस मृदा में अभाव-सा रहता है फिर भी कुछ समुद्री पौधे इसमें उग जाते हैं।

लैक्यूस्ट्राइन—नदी या नाले जब झील या तालाबों में गिरते हैं तो अपने साथ में मिट्टी आदि भी लाते हैं। यह मिट्टी उनके पेंदे में इकट्ठी होती जाती है। इसमें अनेक प्रकार के खनिज और जीवांश पाये जाते हैं जो सड़ कर उत्तम खाद का निर्माण करते

हैं। इसका रंग भूरा और काला होता है। इस प्रकार की भूमि झीलों और तालाबों के किनारे पाई जाती है।

मिट्टी के इस वर्गीकरण को समझने में नीचे के खाके से अधिक सहायता मिलेगी।
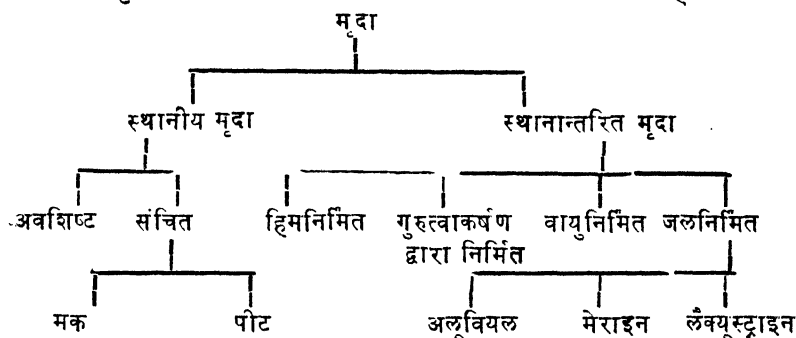
कणों के आकार के आधार पर मृदा का वर्गीकरण—मृदा की बनावट छोटे-छोटे कणों से मिल कर होती है। ये कण कुछ तो इतने बड़े होते हैं कि इन्हें सरलतापूर्वक हाथ से उठाया जा सकता है पर कुछ ऐसे भी होते हैं जिनकी कल्पना मात्र की जाती हैं। इस प्रकार भिन्न कणों से निर्मित मृदा के गुण भी भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए जिस मृदा के कण मोटे और बड़े होंगे उसमें बारीक और सूक्ष्म कणों से निर्मित मृदा की अपेक्षा गर्मी और नमी शीघ्र लेने और निकाल देने का गुण रहेगा। कुछ मृदा तो ऐसी होती हैं कि उनमें या तो मोटे ही कण होते हैं अथवा बिल्कुल बारीक और सूक्ष्म। परन्तु बहुधा इनका सम्मिश्रण रूप ही दिखाई पड़ता है। हाँ, यह होता है कि कहीं पर मोटे कणों की अधिकता है तो कहीं बारीक कणों की। मोटे कणों को रेत या बालू और बारीक तथा सूक्ष्म कणों को चिकनी मिट्टी के नाम से पुकारते हैं।

रेत और चिकनी मिट्टी के कण—रेत के कण बड़े और खुरदरे होते हैं। इनके बीच में बहुत स्थान रिक्त होता है जिससे वायु और पानी अधिक मात्रा में प्रवेश कर सकते हैं। परन्तु इन कणों में चिपचिपाहट या संसक्ति (Cohesion) और रूपदता (Plasticity) नहीं होती। मिट्टी के इन गुणों का उल्लेख बाद में किया जायगा, इससे ये कृषि के योग्य नहीं होते। ये कण काफी भुरभुरे (Friable) होते हैं। इस गुण के कारण पानी शीघ्र ही सोख लिया जाता है परन्तु इसके निकलने में भी देर नहीं लगती। यह मिट्टी शीघ्र गर्म और शीघ्र ठंडी हो जाती है। रेत के मोटे कण २-२ मीटर और महीन कण ·२-·०२ तक होते हैं।

चिकनी मिट्टी के कण इतने छोटे-छोटे और बारीक होते हैं कि ये पृथक-पृथक नहीं दिखाई देते। आपस में इतने चिपटे होते हैं कि इनके बीच रंध्रछिद्र बहुत कम पाये जाते हैं। इससे इस भूमि में वायु और पानी की बिल्कुल कम मात्रा पाई जाती है। साथ ही इस मिट्टी में यह गुण भी पाया जाता है कि पानी पाने पर ये कण सिकुड़

कर आपस में इतने निकट आ जाते हैं कि इस भूमि में हल चलाना कठिन हो जाता है। सूखने पर भी इसमें इतनी कठोरता आ जाती है कि हल धँसता ही नहीं। चिकनी मिट्टी में भुरभुरापन नहीं होता। इसीलिये पानी बरसने पर खेत में अधिक दिनों तक पानी जमा रहता है, सूखता नहीं। यह भी देखा जाता है कि ऊपर पानी जमा है और नीचे की पर्त सूखी-सी है। इसके कण ·००२ मीटर से भी छोटे होते हैं।

इस प्रकार रेतीली और चिकनी दोनों ही मिट्टी कृषि के योग्य नहीं होतीं। दोनों आपस में विभिन्न अनुपात में मिलकर कृषि कार्य को सुगम बनाती हैं। इस आधार पर मृदा को कई भागों में बाँट सकते हैं :—

क. मटियार भूमि,
ख. दोमट मटियार,
ग. दोमट,
घ. दोमट बलुवार,
ङ. बलुई या भूड़,
च. कँकरीली, तथा
छ. पथरीली

मटियार भूमि—जब भूमि में चिकनी मिट्टी की मात्रा ७५-८० %और बालू या रेत की मात्रा १०-२०%होती है तो भूमि मटियार कहलाती है। यह स्पर्श करने में लसदार, पानी में मटमैला घोल और रंग में गहरी भूरी होती है। सूख जाने पर दरार फट जाती है। इसमें हल चलाने में कठिनाई होती है और यदि किसी हालत में जुताई हो भी जाती है तो बड़े-बड़े ढेले बन जाते हैं जो जल्दी टूटते नहीं। इसी प्रकार मटियार भूमि जब गीली रहे तो जुताई नहीं करनी चाहिये क्योंकि इसमें कीचड़ हो जाता है और बाद में सूख कर कड़े ढेले बन जाते हैं। अतः इस भूमि में जुताई का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि समय पर ही हो। यदि खेत में पानी भरा हो और बोआई का समय हो गया हो तो जल-निकास का उचित प्रबन्ध करके खेत के पानी को सुखाना चाहिए। जब पानी निकल जाय और मिट्टी में कुछ-कुछ भुरभुरापन आ जाय तो जुताई करनी चाहिए। मटियार भूमि खेती के दृष्टिकोण से अच्छी नहीं होती। इसमें बोई गई फसलें देर में पकती हैं। इस कमी को सुधारने के लिये और इसे कृषि योग्य बनाने के लिए कुछ प्रयत्न करना चाहिए।

मटियार भूमि का सुधार—इस भूमि को सुधारने के तीन ढंग हैं :—

(१) ताजा गोबर का प्रयोग कर,
(२) हरी खाद डाल कर, तथा
(३) बालू की मात्रा बढ़ा कर।

दोमट मटियार—इस मृदा को भारी दोमट भी कहते हैं। यह मटियार भूमि से कुछ अच्छी होती है। इसमें चिकनी मिट्टी की मात्रा २६%सिल्ट ३८%रेत ३५% और अन्य १%पाये जाते हैं। इसमें दोमट और मटियार के गुण पाये जाते हैं। धान, गन्ना, चना आदि फसलें इसमें उगाई जा सकती हैं।

दोमट भूमि—यह भूमि कृषि के विचार से सर्वोत्तम है। इसमें रंध्र-कूपों की मात्रा अधिक होती है जिससे वायु का गमनागमन सरलता से होता है। पानी को रोक रखने की शक्ति भी इसमें काफी होती है। चिपचिपाहट और भुरभुरापन का उचित गुण दोमट भूमि में पाया जाता है क्योंकि चिकनी मिट्टी और रेत दोनों की मात्रा इसमें होती है। इसमें १६% चिकनी मिट्टी, ४०% सिल्ट, ४३% रेत और १% अन्य पदार्थ मिलते हैं। इस भूमि में सभी प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं। इसमें जीवांश अधिक परिमाण में होते हैं क्योंकि कीटाणुओं के कार्य करने का उचित अवसर मिल जाता है।

दोमट बलुआर भूमि—इस भूमि में बालू की मात्रा अधिक होती है। इसमें ६३% रेत, १२% चिकनी मिट्टी, २१% सिल्ट और अन्य पदार्थ ४% होते हैं। यह दोमट की अपेक्षा कम जीवांश रखती है परन्तु जीवांशों का परिमाण अधिक खाद देकर बढ़ाया जा सकता है। यह नमी शीघ्र लेकर शीघ्र उड़ा देती है। इसलिए इसमें धान की फसल नहीं ली जा सकती। आलू, मूंगफली, ज्वार, बाजरा आदि इसमें अच्छी फसल देते हैं। इस भूमि का एक गुण यह होता है कि कड़ी वर्षा के एक दिन बाद भी इसमें जुताई की जा सकती है।

बलुई भूमि—इसमें ७५-८० % रेत की मात्रा होती है। चिकनी मिट्टी ५-१० % तक पाई जाती है। इसमें चिपचिपाहट, नमी रोकने की शक्ति, (Water Conserving Capacity), जीवांश की उपस्थिति नहीं होती है। बालू की अधिकता से भुरभुरापन अधिक होता है और जुताई आसानी से हो सकती है।

बलुई भूमि की कमजोरियाँ—

(१) शीघ्र गर्म होती है,
(२) शीघ्र ठंडी हो जाती है,
(३) नमी को शीघ्र रोक लेती है और शीघ्र निकालती है,
(४) इसमें फसलों को लाभ पहुँचाने वाले कीटाणु नहीं होते, तथा
(५) कण अधिक बिखरे होते हैं जो खेती के लिए हानिकर हैं।

सुधार—बलुई-भूमि की इन कमियों को दूर करने के लिए नीचे लिखे ढंग काम में लाये जाते हैं :—

(१) चिकनी मिट्टी का मिश्रण,
(२) खाद का प्रयोग तथा
(३) जीवांशों की वृद्धि

बलुई भूमि को उपर्युक्त विधियों द्वारा उपयुक्त बनाकर प्रत्येक फसल उगाई जा सकती है। यह भूमि अधिकतर नदियों के किनारे पाई जाती हैं जिसमें जायद फसलें खरबूजा, तरबूज, करैला आदि उगाई जाती हैं। इसमें अभरख और क्वार्टज तथा सिलिका के कण पाये जाते हैं जो धूप में चमकते हैं।

कंकरीली भूमि—इस प्रकार की भूमि पहाड़ों के निकट पाई जाती है। इसमें बड़े-बड़े कंकड़ पाये जाते हैं जो कृषि-कार्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं। इन कंकड़ों

के बीच थोड़ी-बहुत मिट्टी पाई जाती है। इसमें जीवांशों का प्रायः अभाव ही रहता है।

कैलकेरियस भूमि—जिस भूमि में चूने की मात्रा अधिक होती है उसे कैलकेरियस कहते हैं।

पीटी मृदा—यह भूमि जीवांशों से भरी रहती है। जीवांशों की मात्रा इतनी अधिक होती है कि पौधे बहुत अधिक बढ़ जाते हैं।

ऊसर भूमि—इस भूमि में रेह की मात्रा पाई जाती है। रेह, भूमि का विकार है जो घुलनशील क्षारों की अधिकता से बनता है। इसमें फसलें उगाई नहीं जा सकतीं क्योंकि य उनके लिए विष का काम करते हैं। बबूल के पेड़ और धान की फसलें इस प्रकार की भूमि में उगाई जाती हैं। इन फसलों के अतिरिक्त अन्य फसलें इसमें नहीं उगाई जा सकता क्योंकि यदि बोने पर वे जम भी जायँ तो उनका उपयुक्त बढ़ाव नहीं होता है।

ऊसर भूमि बनने के कारण—भूमि में बहुत से घुलनशील क्षार पदार्थ पाये जाते हैं। प्रायः इस क्षार अंश का उपयोग पौदों द्वारा किया जाता है परन्तु जब यह अंश अधिक मात्रा में हो जाता है तो पौधे इसे पचाने में सर्वथा अयोग्य हो जाते हैं। ऐसी दशा में ये पौधे को क्षति पहुँचा देते हैं। क्षार दो प्रकार के होते हैं। पहला सफेद और दूसरा काला। सफेद क्षारों से परिपूर्ण भूमि सफेद ऊसर कही जाती है। इसे Saline alkali या White alkali भी कहते हैं। इसमें मुख्यतः चार क्षार—कैल्शियम क्लोराइड, कैल्शियम सल्फेट, सोडियम क्लोराइड और सोडियम सल्फेट—रहते हैं। इनके अतिरिक्त कभी-कभी पोटैशियम क्लोराइड, सल्फेट और नाइट्रेट तथा मैगनेशियम सल्फेट भी पाये जाते हैं। ये पदार्थ भूमि के अन्दर रहते हैं; परन्तु जल के साथ भूमि के धरातल पर भी आ जाते हैं। जल तो गर्मी के कारण भाप बनकर उड़ जाता है और ये पदार्थ सफेद पपड़ी के रूप में धरातल पर रह जाते हैं। इस भूमि में साधारणतया फसलें नहीं उगाई जा सकतीं किन्तु कुछ विशेष पौधे अवश्य उगाये जाते हैं। जब भूमि में उपर्युक्त क्षार पदार्थों के अलावे सोडियम कार्बोनेट भी पाया जाता है तो वह भूमि (alkaline) या काली ऊसर वाली भूमि कही जाती है। सोडियम कार्बोनेट पौधों के लिए बहुत हानिकारक पदार्थ है। वह भूमि के जीवांश को अपने में घुला लेता है और भूमि-स्थान क्रम (Soil Structure) को बिगाड़ देता है। जीवांश इस घोल को एक चटक रंग दे देता है और सतह पर पानी के उड़ जाने से काला रूप धारण कर लेता है। इसमें कोई फसल नहीं उग सकती। ऊसर भूमि के निर्माण में निम्नलिखित अवस्थाएँ उत्तरदायी हैं:—

अल्प वृष्टि—जिस स्थान पर वर्षा कम होती है वहाँ रेह उत्पन्न होने के अधिक अवसर होते हैं। क्षार जो भूमि में मौजूद होते हैं, अधिक वर्षा से भूमि में रिसकर नीचे की सतहों में चले जाते हैं जहाँ से उनका ऊपर आना सम्भव नहीं होता। कम वर्षा से वे अधिक नीचे नहीं जा पाते क्योंकि पानी की मात्रा कम होती है और वह नीचे की तहों में थोड़ी दूर तक जाने में सूख जाती है। पानी में घुले क्षार उसी तह पर घोल के रूप में पड़े होते हैं। जब सूर्य की गर्मी से पानी सतह पर आकर उड़ना चाहता है तो ये भी उसके साथ सतह तक खिच आते हैं। पानी तो उड़ जाता है किन्तु क्षार भूमि पर

पपड़ी के रूप में इकट्ठे होते रहते हैं। जब यह क्रिया लगातार कुछ वर्षों तक चलती है तो वह भूमि ऊसर हो जाती है।

भूमि के नीचे कँकरीली या कड़ी तह के होने से—जब भुरभुरी और बारीक कणों से बनी भूमि के नीचे कड़ी तह आ जाती है तो पानी ऊपरी तह को पार कर इसी तह पर रुक जाता है क्योंकि इससे होकर नीचे निकल जाना असम्भव होता है। अतः पानी के साथ घुले क्षार भूमि के बहुत निकट रह जाते हैं और गर्मी के दिनों में पानी के साथ भूमि की धरातल पर जमा होने लगते हैं और थोड़े ही दिनों बाद भूमि ऊसर भूमि में बदल जाती है।

एक निश्चित गहराई पर सदैव जुताई करने से—यदि हल बराबर भूमिको एक ही गहराई तक उल्टा-पुल्टा करते हैं तो हल की निचली सतह अर्थात् पेंदे से रगड़ कर भूमि कड़ी हो जाती है और जल नीचे की ओर नहीं जा पाता। इसका प्रभाव भूमि पर हानिकर सिद्ध होता है।

नहरों द्वारा सिचाई करने से—नहरों द्वारा पौधों को पानी देने में सरलता तो अवश्य होती है परन्तु हानि भी अधिक होती है। बराबर नहरों से ही खेत सींचने से भूमि ऊसर हो जाती है। इसका कारण यह है कि जब नहर का पानी ऐसे स्थानों से गुजरता है जहाँ क्षारों की अधिकता होती है तो वह उन्हें अपने में घुला लेता है और खेत तक पहुँचा देता है। ये क्षार खेत में जब अधिक परिमाण में हो जाते हैं तो भूमि रेतीली बन जाती है। अधिक सिचाई करने से भी भूमि के उसरीली हो जाने का भय रहता है। यह पानी जब बिन्ध कर पानी की निचली तह को छू लेता है तो उससे सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। गर्मी में ऊपरी तह के पानी के सूख जाने पर यह पानी केशीय नालियों से होकर ऊपर आने लगता है और अपने साथ घुले क्षारों को सतह पर जमा कर देता है।

भूमि के भीतर पानी की सतह के ऊपर आ जाने से—सिचाई का पानी जब भूमि को अधिक परिमाण में मिलने लगता है तो भूमि के नीचे रहने वाला जल ऊपर उठने लगता है और धीरे-धीरे भूमि के बहुत निकट आ जाता है। इस अवस्था में जल में घुले क्षारों का आवागमन ऊपरी सतह तक सरलतापूर्वक होता है। ऊसर भूमि का इस प्रकार निर्माण नहरी क्षेत्रों में ही अधिकतर पाया जाता है। अवध में ऐसी भूमि बहुत देखी जाती है।

पानी का उचित बहाव न होने से—ऊँचे स्थानों का जल बहकर अपने में वहाँ के स्थित क्षारों को घुला लेता है और नीचे के स्थान पर इकट्ठा हो जाता है। जब यह पानी सूर्य की गर्मी से उड़ जाता है तो क्षार-पदार्थ सतह पर जम जाते हैं और धीरे-धीरे भूमि को ऊसर बना देते हैं। यदि इस जल का बहाव उचित हो तो भूमि ऊसर होने से बच जाती है।

सामुद्रिक हवाओं के प्रभाव से—भूमि को ऊसर बनाने वाले अन्यान्य क्षार समुद्र के जल में मिले होते हैं। इसीलिए यह खारा होता है। यह खारा जल जब लहरों द्वारा

बार-बार किसी स्थान विशेष पर आता है तो क्षार वहीं रह जाते हैं और भूमि ऊसर बन जाती है।

अकार्बनिक खादों के प्रयोग से—अकार्बनिक खादों में कुछ ऐसी खादें हैं, जिनके बार-बार प्रयोग से भूमि ऊसर हो जाती है। सोडियम नाइट्रेट शीघ्र ही भूमि में सोडियम कार्बोनेट की उत्पत्ति कर देता है और भूमि ऊसर बन जाती है।

ऊसर भूमि को ठीक करने के ढंग—भूमि का ऊसरापन दूर करने के लिए कई उपाय हैं किन्तु उन उपायों को काम में लाने के लिए पहले उस भूमि के विषय में कुछ बातें जान लेनी आवश्यक हैं। वे बातें निम्नलिखित हैं:—

१. कितने समय से भूमि ऊसर हो गई है,
२. उसकी स्थिति क्या है,
३. सोडियम कार्बोनेट की मात्रा उसमें कितनी है,
४. क्षारों का परिमाण क्या है तथा
५. भूमि की pH value क्या है? (pH value भूमि के तेजाब और क्षारों के नापने की इकाई है।)

जब इतना ज्ञान हो जाय तो सुधारने की विविध विधियों का प्रयोग करना चाहिए। ऊसर भूमि के सुधारने के दो ढंग हैं:—

१. यांत्रिक और
२. रासायनिक

यांत्रिक विधि—यंत्रों से काम लेकर कई प्रकार से ऊसर भूमि सुधारी जाती है:

क. विभिन्न प्रकार के पेड़ लगा कर (Planting),
ख. गड्ढे खोदकर (Trenching),
ग. जल-निकास का उचित प्रबन्ध कर (Drainage),
घ. खुरच कर (Scrapping),
ङ. जल घेर कर बहाने (Flushing),
च. जल घोल कर, तथा
छ. खेत की मेड़बन्दी कर।

कभी-कभी ऊसर भूमि का प्रभाव उन पौधों को लगा कर दूर किया जाता है जो क्षारों के होने पर भी सरलतापूर्वक उगाये जा सकते हैं। धान, बबूल, रिजका, जौ, जई इनमें मुख्य हैं। ये भूमि में मौजूद क्षार खा डालते हैं परन्तु यदि क्षार की काफी मात्रा भूमि में उपस्थित है तो उसे दूर करने में ये असमर्थ हो जाते हैं। ढाक, मूँज और झाऊ भी किसी सीमा तक ऊसर भूमि का सुधार कर सकते हैं।

ऊसर भूमि में कुछ गड्ढे इस प्रकार तैयार करते हैं कि एक की मिट्टी दूसरे में आ जाय। इसमें ऊपर की मिट्टी नीचे और नीचे की मिट्टी ऊपर हो जाती है। ऐसा करने से भूमि का यह अवगुण कुछ समय के लिए दूर तो अवश्य हो जाता है परन्तु थोड़े ही समय पश्चात् ये क्षार केशीय नालियों द्वारा ऊपर आ जाते हैं और उसका प्रभाव पूर्ववत

बना रह जाता है। इसके साथ ही यह ढंग महँगा भी पड़ता है। यह चित्र से स्पष्ट है। नं० १ गड्ढे की मिट्टी नं० १ में, नं० २ की नं० २ में, और नं० ३ की मिट्टी नं० ३ में छोड़ते हैं। जब नं० १ गड्ढा तैयार किया जाता है तो उसकी मिट्टी नं० २ के स्थान पर रख देते हैं। फिर दूसरे नं० १ को खोद कर मिट्टी पहले नं० १ में छोड़ते हैं। जब यह पूरा तैयार हो जाता है तो नं० २ के स्थान पर रखी मिट्टी को दूसरे नं० १ में डाल देते हैं।
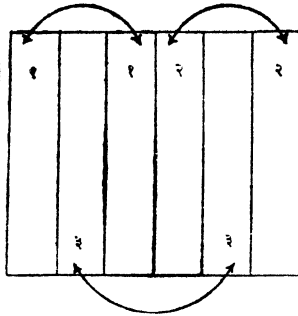
चित्र ९—ऊसर खेत में गड्ढे बनाना

जल निकास के उचित प्रबन्ध रहने से किसी स्थान पर घुले क्षार इकट्ठा नहीं होने पायेंगे और बहकर अन्यत्र दूर चले जायेंगे जहाँ से भूमि को हानि नहीं पहुँच सकती। यह विधि ऊसर को दूर नहीं करती वरन् इसकी अभिवृद्धि को रोकती है।

चौथी विधि में ऊसर भूमि की २"–४" तक की ऊपरी पपड़ी खुरच लेते हैं और उसमें लाभदायक खाद और कमाई हुई मिट्टी छोड़ देते हैं। दो-तीन वर्षों बाद यह भूमि सुधर जाती है। किन्तु अधिक गहराई तक क्षार के जमे होने पर यह विधि सफल नहीं होती। इसमें एक बात का ख्याल रखना चाहिए कि खुरची गई मिट्टी ऐसे स्थान पर न फेंक दी जाय जहाँ हानि की आशंका हो।

जिस स्थान पर पानी की सुविधा हो वहाँ इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इसमें खेत से होकर पानी बहाया जाता है। पानी की तेज धार में हानिकर क्षार घुल कर खेत से बाहर निकल जाते हैं। कई बार ऐसा करने से ऊसर का प्रभाव समाप्त हो जाता है। यह ढंग बरसात के दिनों में अधिक सम्भव होता है।

ऊसर वाले खेत को पानी से भर देते हैं और वैसे ही भरा हुआ कई दिनों तक छोड़ देते हैं। ऐसा करने से भूमि के क्षार पानी में घुल कर (Percolation) भूमि के नीचे चले जाते हैं और उनका प्रभाव नहीं रह जाता। किन्तु कभी-कभी ये क्षार पुनरपि ऊपरी धरातल पर आ जाते हैं और ऊसर का प्रभाव फिर पहले जैसा हो जाता है।

अंतिम विधि में जिस खेत की भूमि ऊसर होती है उसे मेड़बन्दी करके पानी से भर देते हैं और हल या पाटा चला देते हैं। ऐसा करने से भूमि का क्षार पानी के साथ घुल जाता है। जब पानी बिल्कुल गँदला हो जाता है तो मेड़ खोलकर एक ओर से निकाल दिया जाता है। ऐसा एकाध बार करने से ऊसर का प्रभाव कम हो जाता है।

रासायनिक प्रयोग—इस विधि में रासायनिक पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। निम्नलिखित ढंग इसमें मुख्य हैं:—

जिप्सम का प्रयोग—ऊसर भूमि के प्रभाव को जिप्सम या कैल्सियम सल्फेट द्वारा दूर किया जाता है। इसे बारीक पीस कर भूमि में मिला देते हैं। भूमि में यह सोडियम

कार्बोनेट से मिलकर रासायनिक प्रक्रिया करता है। सोडियम कार्बोनेट, सोडियम सल्फेट में बदल जाता है जो फसल के लिए अधिक हानिकर नहीं होता। यदि सोडियम सल्फेट भूमि से अलग करना हो तो इसे पानी के साथ सरलतापूर्वक बहाया जा सकता है।

$$Na_2CO_3 + CaSO_4 \rightarrow CaCO_3 + Na_2SO_4$$

कैल्शियम कार्बोनेट भी फसल के लिए हानिकर नहीं होता।

सीरा का प्रयोग—यह विधि उसी स्थान पर सम्भव है जहाँ सीरा अधिक मात्रा में प्राप्त हो सके। ईख की मिलों में सीरा बाहर निकाल दिया जाता है। वहाँ यह बाढ़ की तरह भूमि पर फैला होता है। कुछ वैज्ञानिकों ने इसका उपयोग ऊसर भूमि सुधारने में किया और सफल भी हुए। ऊसर भूमि में सीरे की एक हल्की सिंचाई करके मिट्टी पलटने वाले हल से जोत दिया जाता है ताकि भूमि के क्षार घोल में बदलकर रासायनिक प्रक्रिया कर सकें। इस प्रक्रिया से ऊसर का प्रभाव धीरे-धीरे विनष्ट हो जाता है और भूमि सुधर जाती है।

जीवांशों के मिलाने से—भूमि में ऊसर का प्रभाव ज्योंही शुरू होवे उसे खोद कर उसमें जीवांश मिला देना चाहिए। ये जीवांश हानिकर क्षारों को जला कर समाप्त कर देते हैं और इस प्रकार ऊसर होने का भय जाता रहता है।

फसलों के हेर फेर से—ऊसर भूमि के बनते समय फसलों का उचित हेर-फेर उस पर अधिक प्रभाव दिखाता है। कुछ पौधे अन्य आवश्यक तत्वों के साथ क्षारों की एक निश्चित मात्रा को हजम कर जाते हैं।

ऊसर भूमि से हानियाँ—रेतीली भूमि में पौधे बढ़ नहीं पाते क्योंकि उसके चारों ओर नमकों की इतनी अधिकता हो जाती है कि वे अपनी खुराक नहीं पाते। ये नमक पानी के घोल के रूप में होते हैं। यह घोल जब पौधे के भीतर वाले घोल से पतला होता है तभी पौधा इसमें से अपने लाभ के पदार्थ खींच सकता है किन्तु अधिकांश क्षारों के घुले होने से यह घोल बहुत गाढ़ा हो जाता है और पौधा इससे कोई पदार्थ खींच सकने में मजबूर हो जाता है। उल्टे, पौधे में स्थिर उपयोगी रस घोल में ही खिंच आते हैं। ऐसा होने से पौधे का रस खत्म हो जाता है और वह मुरझा कर सूख जाता है। इन नमकों से पौधों को और भी हानियाँ उठानी पड़ती हैं। क्षारों के प्रभाव से भूमि के कण टूट लगते हैं और टूटने कर बारीक हो जाते हैं। ऐसा होने से भूमि के रन्ध्र-छिद्र संख्या में अधिक हो जाते हैं। इनमें पानी आकर जमा हो जाता है जिससे हवा के आने-जाने का मार्ग ही बन्द हो जाता है। भूमि में हवा के उपस्थित न होने पर बैक्टीरिया अपना कार्य करना बन्द कर देते हैं और रासायनिक प्रक्रिया बन्द हो जाती है। इस प्रकार पौधे कमजोर होकर रोगी हो जाते हैं।

भिन्न फसलें रेह की विभिन्न मात्रा में अपने को स्थायी रख सकती हैं। भूमि में १% से ३% तक क्षार के रहने पर कोई फसल नहीं उग पाती। ·२५% से १% क्षारों के रहने पर अधिक नमक खाने वाली फसल ही उग पाती हैं। इन फसलों में धान, जौ, लूसर्न, पटसन, चुकन्दर आदि आते हैं। जब भूमि में ·२५% से कम क्षार पाया जाता है तो प्रत्येक फसल उगाई जा सकती है।

मृदा-कण, मृदा विन्यास तथा मृदा रचना
(Soil Particles, Texture and Structure of Soil)

पिछले पृष्ठों में हमने मृदा और मृदा की बनावट के विषय में अध्ययन किया है जिससे हमें ज्ञात हुआ है कि भूमि चट्टानों से कैसे बनी और उसका वर्तमान रूप किस प्रकार सामने आया। मृदा मृदा-कणों से बनी है। ये कण विभिन्न प्रकार के होते हैं। कुछ बारीक, कुछ मोटे तो कुछ मध्यम कोटि के होते हैं। ये जब आपस में मिलते हैं तो इनके बीच कुछ न कुछ स्थान रिक्त रह जाते हैं। इन रिक्त स्थानों में वायु, पानी और पौधों के उपयोगी पदार्थ रहते हैं। कणों के इन्हीं खाली स्थानों में बैक्टीरिया भी रहती हैं जो भूमि में रासायनिक परिवर्तन कर पौधों के लिए खूराक तैयार किया करती हैं। भूमि की इस दशा को प्रकट करने के लिए एक शब्द (Texture) मृदा-विन्यास प्रयोग किया जाता है। इससे भूमि की अच्छाई या बुराई मालूम होती है। यदि यह कहा जाय कि इस भूमि का टेक्स्चर ठीक है तो इससे हम यह जान सकेंगे कि इस भूमि में हवा का आवागमन, पानी की उपस्थिति और जीवांश का कार्य उपयुक्त रूप से होता है। अतः टेक्स्चर शब्द कृषि शास्त्र में बहुत महत्व रखता है क्योंकि अच्छी फसल लेने के लिए भूमि का टेक्स्चर ठीक करना अत्यन्त आवश्यक होता है। किमी भूमि के टेक्स्चर की उपयुक्तता कई बातों पर निर्भर करती है :—

क. जीवांशों की मात्रा,
ख. भूमि की किस्म,
ग. भू-परिष्क्रमण (टिलेज) की व्यवस्था,
घ. नमी की मात्रा, तथा
ङ. रिक्त-छिद्रों की अवस्था।

टेक्स्चर की अच्छाई-बुराई कणों और रंध्र-छिद्रों की स्थापना से जानी जा सकती है। टेक्स्चर की सजावट या स्थापना पर ही रंध्र-छिद्रों की संख्या और स्थान निर्भर करते हैं। यही सजावट स्ट्रक्चर अथवा मृदा की सजावट कही जाती है। भूमि का स्ट्रक्चर भी खेती-बारी में अधिक महत्व रखता है। अतः इसका पूर्णतः ज्ञान एक किसान के लिए आवश्यक होता है। टेक्स्चर और स्ट्रक्चर दोनों बहुत मिले-जुले शब्द हैं जो कभी-कभी किसानों और कृषि शास्त्र के विद्यार्थियों को असमंजस में डाल देते हैं। टेक्स्चर का सम्बन्ध कणों के आकार से होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि भूमि में बालू और चिकनी मिट्टी या मोटे और बारीक कणों की कितनी मात्रा है जब कि स्ट्रक्चर से विभिन्न प्रकार के कणों का भूमि में विभिन्न रीति में पाया जाना मालूम होता है। स्ट्रक्चर एक कण के विषय में नहीं बतलाता वरन् कण के समूहों की सजावट पर प्रकाश डालता है।

भूमि का स्ट्रक्चर या स्थापन-क्रम मुख्यतः चार प्रकार से होता है: (१) ठोस, (२) सीधी पंक्तियों में, (३) तिरछी पंक्तियों में और (४) दानेदार रूप में।

ठोस रूप में—यह स्थान इस क्रम में होता है कि रिक्त-स्थान बहुत कम रह

जाता है। बड़े कण तो एक तिरछी पंक्ति में होते हैं और उनमें स्थान भी काफी रहता है परन्तु छोटे कण आकर यह स्थान भर देते हैं। ऐसा होने से वायु और जल दोनों का अभाव हो जाता है। बैक्टीरिया भी अपना कार्य ठीक तौर पर नहीं कर सकतीं। अतः इस भूमि में फसलें ठीक नहीं उगाई जा सकतीं।

सीधी या सघन पंक्तियाँ में—यह क्रम समान कणों के आकार में सीधी पंक्तियों में होता है। गोले कणों के होने के कारण इसमें काफी रिक्त-स्थान पाया जाता है जिनमें हवा और पानी आसानी से प्रवेश कर सकते हैं। बैक्टीरिया भी अपना काम अच्छी तरह करती हैं। इस प्रकार यह सजावट कृषि के विचार से उत्तम मानी जाती है। इसमें लगभग ५०% रिक्त स्थान पाया जाता है। इसको सघन कण क्रम भी कहते हैं।

चित्र १०
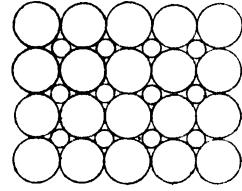
तिरछी पंक्तियों में—यह स्ट्रक्चर तिरछी पंक्तियों में होता है और एक कण अन्य ६ कणों को स्पर्श करता है। इससे इसमें रिक्त स्थानों की कमी होती है। फिर भी २५% रिक्त स्थान पाया जाता है।

दानेदार या झुण्डों में सजावट—इसमें कई कण मिलकर झुण्ड बनाते हैं और इस प्रकार से स्थित होते हैं कि एक झुण्ड अन्य चार को छूता रहता है। देखने पर ये दानों में बिखरे जान पड़ते हैं पर वास्तव में ये झुण्ड में ही रहते हैं। ऐसी भूमि कृषि के लिए बहुत उपयोगी होती है क्योंकि ७५% इसमें रिक्त स्थान होता है, इसे चित्र में अच्छी तरह समझ सकते हैं।

कुछ कण बिना क्रम के भी पाये जाते हैं जो अधिकतर नदियों के किनारे पड़े रहते हैं जिन्हें रेत कहते हैं। इनमें कुछ सिल्ट की भी मात्रा होती है। थोड़ी-सी चिकनी मिट्टी और जीवांशों के रहने से ये आपस में जुड़े होते हैं परन्तु इनके जुड़ने का कोई क्रम नहीं होता है। एक प्रकार का और क्रम होता है जिसे स्तंभवत् क्रम कहते हैं जैसा कि नीचे के चित्र में दिया है।

चित्र ११
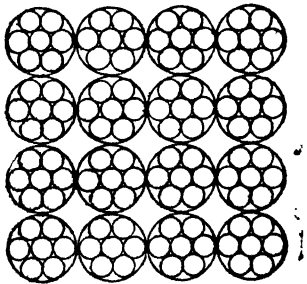
मृदा सजावट का कृषि में महत्व—भूमि के स्ट्रक्चर का सुव्यवस्थित रूप में होना कृषि के लिए हितकर होता है। पौधे का जमना, बढ़ना, आहार लेना, साँस लेना और जीवित रहना भूमि की सजावट पर ही निर्भर होता है। जिस भूमि में रिक्त स्थान पर्याप्त होंगे उसमें वायु और पानी की अधिक मात्रा पाई जायेगी। भूमि भुरभुरी होगी और उसमें जीवांशों का कार्य अधिक अच्छाई से हो सकेगा। कणों के बीच खाली स्थानों में उपस्थित जल पौधे के आवश्यक तत्वों को घुला कर तैयार रखता है क्योंकि पौधा अपना आहार

घोल के ही रूप में लेता है। जिस भूमि का स्ट्रक्चर ठीक नहीं होता उसमें जल की कमी पाई जाती है जिससे पौधे अपना भोजन अच्छी तरह नहीं ले पाते। हवा पौधों के लिए आवश्यक पदार्थ है। भूमि में इसका होना पौधों के लिए लाभदायक होता है क्योंकि भूमि में जब हवा नहीं रहती तो जीवांश अपना कार्य बन्द कर देते हैं। भूमि में अधिक हवा का होना भी ठीक नहींहोता। बलुई भूमि के कणों के आकार के बड़े होने के कारण हवा अधिक रहती है। इससे उसकी नमी शीघ्र ही सूख जाती है। चिकनीभूमि में रिक्त स्थानों की कमी के कारण वायु-प्रवेश कम होता है। मृदा की सजावट में दानेदार क्रम कृषि के हक में बहुत अच्छा होता है। दानेदार क्रम में मिट्टी का कोलोयिडल (Colloidal) बढ़ जाता है। खाद डालने से भूमि भुरभुरी हो जाती है और उसके कण सघन हो जाते हैं। कोलोयिडल की उपस्थिति के कारण कण एक दूसरे के समीप आने लगते हैं और झुण्ड बना देते हैं। इनमें जल, वायु, उचित गर्मी और जीवांश मौजूद रहते हैं।
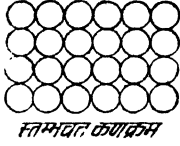
स्तम्भवत् कणक्रम

चित्र १२

भूमि की सजावट ठीक करने के उपाय—भूमि के कणों के क्रम उपयुक्त बनाने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं:—

अ. फसलों का हेर-फेर,
आ. जीवांशों की वृद्धि,
इ. नाइट्रोजन खादें देना और
ई. खेतों में फसलों के बचे अंश को सड़ाना तथा हरी खाद देना।

इन बातों का प्रयोग कर भूमि का क्रम ठीक किया जा सकता है। वैज्ञानिकों का इस ओर बहुत झुकाव है और वे भूमि की सजावट के लिए ऐसे प्रयोग का उद्योग कर रहे हैं जो किसी प्रकार की भूमि को ठीक कर सकता है। यद्यपि उन्हें इस कार्य में अभी पूर्ण सफलता नहीं मिली है परन्तु आशा है कि शीघ्र ही वह प्रयोग सफल हो जायगा। भूमि के क्रमों में दानेदार क्रम ही अधिक उपयोगी होता है। भूमि को दानेदार बनाने के लिए नीचे लिखी बातों पर ध्यान दिया जाता है:—

क. भूमि की उचित सिंचाई और गुड़ाई,
ख. भूमि की नमी,
ग. भूमि की गर्मी,
घ. जीवांशों की मात्रा तथा
ङ. कणों का भुरभुरापन।

मिट्टी का आपेक्षिक घनत्व (Specific Gravity of Soil)

मिट्टी का आपेक्षिक घनत्व वह अनुपात है जो मिट्टी के तौल और उसी के आयतन के बराबर पानी के वजन में होता है। आपेक्षिक घनत्व में एक संख्या है जिससे पानी की अपेक्षा भूमि के कणों का भारीपन मालूम होता है। जब किसी मिट्टी का आपेक्षिक घनत्व निकालना होता है तो पहले उसे तौल लेते हैं और फिर उसी

मिट्टी के आयतन के बराबर पानी की तौल से पहले में भाग दे देते हैं। दूसरे शब्दों में

$$\frac{\text{मिट्टी का वजन}}{\text{उसी आयतन के पानी का वजन}} = \text{आपेक्षिक घनत्व होता है।}$$

आपेक्षिक घनत्व दो प्रकार का होता है—

१. प्रत्यक्ष आपेक्षिक घनत्व (Apparent Specific Gravity तथा)

२. वास्तविक या नितान्त आ० घ० (Real or Absolute Specific Gravity)

प्रत्यक्ष आपेक्षिक घनत्व—आपेक्षिक घनत्व निकालने के लिए दो पात्र प्रयोग किये जाते हैं। पिक्नोमीटर और नाप वाला सिलिण्डर। इनका आयतन ज्ञात होता है। जब मिट्टी का घनत्व निकालना हो तो सिलिण्डर को पानी से भर कर तौल लेना चाहिये। फिर उसे मिट्टी से लबालब भर कर वजन मालूम कर लेना चाहिए। जब दोनों तौल मालूम हो जायँ तो पहले का दूसरे में भाग देने पर आपेक्षिक घनत्व प्राप्त हो जाता है।

यह घनत्व भूमि-कणों की बनावट के साथ रिक्त छिद्रों पर अवलंबित होता है। जिस भूमि में स्ट्रक्चर के ठीक होने पर वायु, जल और जीवांशों की अधिकता होगी, उसका घनत्व रिक्त-छिद्रों के अभाव वाली मिट्टी से उतना ही कम होगा। उदाहरणतः यदि ५० घं० से० से घनफल वाले सिलिण्डर में मिट्टी भर कर तौल ली जाय और उसका तौल ८० ग्राम हो तो उसकी प्रत्यक्ष आ० घ० $\frac{८०}{५०} = १.६$ होगा। इसी प्रकार जीवांशों से भरी भूमि का आ० घ० ·४ और खनिज मिट्टी का १·१ से १·७५ तक होता है।

वास्तविक आपेक्षिक घनत्व—प्रत्यक्ष आपेक्षिक घनत्व में से रिक्त स्थानों का आयतन घटा कर वास्तविक आ० घ० मालूम किया जाता है। इसके लिए मिट्टी आग में सुखाई जाती है और उसकी हवा निकाली जाती है। ऊपर के उदाहरण में यदि रिक्त-छिद्र २० घ० से० है तो मिट्टी का सही आयतन (५०—२०)=३० घ० से० ही हुआ। अतः भूमि का वास्तविक आ घ० $\frac{८०}{३०} = २.७$ हुआ। यह घनत्व यों भी कहा जा सकता है कि भूमि के एक कण के वजन और उसी के आयतन के बराबर पानी के वजन का अनुपात वास्तविक आपेक्षिक घनत्व है।

यह घनत्व भूमि के कणों के आकार पर निर्भर करता है। यदि कण बारीक और सूक्ष्म हैं तो घनत्व अधिक होगा किन्तु मोटा और भद्दा होने पर घनत्व कम होता है। रेतीली भूमि के कण बड़े और मोटे होते हैं, इसलिए उनका आ० घ० २·६५५ से २·६५९ तक होता है। चिकनी मिट्टी का वास्तविक आ० घ० २·८३७ होता है और सिल्ट का २.६९८।

आपेक्षिक घनत्व के ज्ञान से भूमि का टेक्सचर और रिक्त-छिद्रों का परिमाण ज्ञात होता है तथा भूमि की उपज की उपयुक्तता मालूम होती है।

रिक्त-छिद्र (Pore Space)

छोटे-छोटे कण भूमि का निर्माण करते हैं। इनके परस्पर मिलने पर कुछ स्थान रिक्त रह जाते हैं जिन्हें रिक्त-छिद्र, रंध्र-कूप, रिक्त स्थान या पोर स्पेस (Pore space) कहते हैं। रिक्त-छिद्र सभी भूमि में एक आयतन और मात्रा के नहीं होते हैं अपितु इनकी संख्या और आकार दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं। रिक्त-छिद्रों की उपस्थिति भूमि के स्ट्रक्चर पर निर्भर करती है। इन छिद्रों में वायु और जल भरा रहता है जो पौधों के बहुत काम का होता है। भूमि की उपज उसके अन्दर पाये जाने वाले रिक्त छिद्रों पर अधिकांशतः आधारित रहती है। जिस भूमि में इनकी मात्रा अधिक होती है वह भुरभुरी होती है और उसमें जल-धारण-शक्ति भी अधिक होती है। भूमि के कण जब बड़े होते हैं तो रिक्त-छिद्र बड़े होते हैं, पर इनकी मात्रा कम होती है। बारीक कणों वाली भूमि में ठीक इसके विपरीत होता है। छिद्रों का आयतन कम होता है किन्तु इनकी मात्रा अधिक होती है। छिद्रों के आयतन भूमि के पानी को बाहर निकालने में सहायता करते हैं। यदि यह आयतन किसी सीमा तक बढ़ जाता है तो इसके आठ गुना पानी बाहर निकल जायगा।
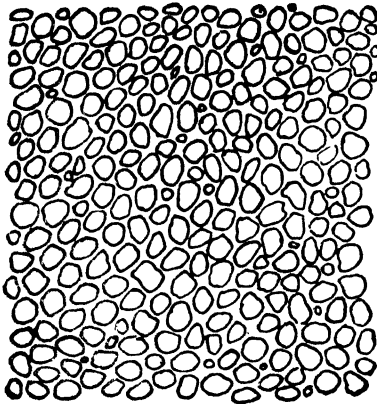
चित्र १३—रिक्त-छिद्र

भूमि के रंध्र-कूपों पर उसके प्रबन्ध का विशेष प्रभाव पड़ता है। यदि भूमि पोली है तो छिद्र अधिक और सूखी तथा दबी होने पर कम होते हैं। एक घन फुट पोली भूमि में $\frac{1}{2}$ अंश रिक्त-छिद्र होता है; पर जब उसी को दबा दिया जाता है तो इनका भाग $\frac{1}{4}$ ही रह जाता है। यही कारण है कि चिकनी मिट्टी में ४८ प्रतिशत, दोमट में ४० प्रतिशत और रेतीली भूमि में ३३ प्रतिशत रिक्त-छिद्र पाये जाते हैं। रिक्त-छिद्रों का प्रतिशत ज्ञात करने के लिए भूमि का आयतन भार ज्ञात किया जाता है। आयतन भार और आपेक्षिक घनत्व की सहायता से निम्नलिखित नियम से रिक्त छिद्र मालूम किये जाते हैं।

$$\text{रिक्त-छिद्र का प्रतिशत} \quad १०० - \left(\frac{\text{आयतन भार}}{\text{आपेक्षिक घनत्व}}\right) \times १००$$

जीवांश (Organic Matter) या ऐन्द्रिक पदार्थ

जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों का अन्त मिट्टी में ही होता है। वे मिट्टी के साथ

सड़-गल कर एक ऐसे पदार्थ का निर्माण करते हैं जो कृषि शास्त्र में बड़े महत्व का होता है। इसे जीवांश अथवा ऐन्द्रिक पदार्थ कहते हैं। जीवांश का उद्भव भूमि निर्माण के साथ ही हुआ करता है। निरन्तर कृषि कार्यों और पौधों के उत्पादन में यह पदार्थ काम में लाया जाता है और इस प्रकार इसके भाग में कमी भी आ जाती है। जीवांश की यह कमी बनावटी विधि से दूर की जाती है क्योंकि उपज की अच्छाई इसी पर निर्भर करती है। जीवांश एक प्रकार के सूक्ष्म कीटाणुओं द्वारा रासायनिक परि-वर्तन करके तैयार किये जाते हैं। इन्हें बैक्टीरिया कहते हैं। बैक्टीरिया के अतिरिक्त फफूँदी, एलगी आदि सूक्ष्म कीटाणु तथा चींटे, केंचुआ, चूहे, मकोड़े, आदि जीव भी जीवांश पैदा करते हैं। ये जीव स्वयं भी मर कर जीवांश की वृद्धि करते हैं। अपना जीवन कायम रखने के लिए कीटाणु जीवांशों पर हमला करते हैं और उन्हें इस रूप में बदल देते हैं कि अन्य पौधे भी उन्हें ले सकें। इस प्रकार जीवांशों से कीटाणुओं और पौधों दोनों का लाभ होता है।

जीवांश की मात्रा सभी भूमि में समान नहीं होती है बल्कि स्थान-स्थान पर इसका अनुपात भिन्न होता है। जीवांश एक विशेष परिमाण में ही उपयोगी हो सकते हैं। यदि भूमि में ये बिल्कुल कम या बहुत अधिक मात्रा में विद्यमान हैं तो दोनों अवस्थाएँ उपज के लिए हानिकर हैं। भूमि में ऐन्द्रिक पदार्थों का प्रतिशत २ से ९ तक होना चाहिए। इसी में भूमि की उर्वरता निर्भर करती है। यदि जीवांश की मात्रा २% से कम या ९% से अधिक हुई तो भूमि से उपज लेना कठिन हो जायगा। अधिक जीवांश वाली भूमि की पहचान यह है कि उसमें कालापन आ जाता है। इस कालापन को ह्यूमस (Humus) कहते हैं जो जीवांश का सड़ा रूप है। जीवांश वाली भूमि गहरी-भूरी भी होती है। इसमें कार्बन (Carbon) की मात्रा नहीं होती क्योंकि यह कार्बन-डाइ-आक्साइड के रूप में निकल कर बाहर चली जाती है। नोषजन या नाइट्रोजन (Nitrogen) का परिमाण अधिक होता है।

भूमि में ऐन्द्रिक पदार्थों की उत्पत्ति के साधन—जैसा कि उसने ऊपर की पंक्तियों में पढ़ा है, जीवांश मृत जीवों और पौधों से बनते हैं। इनके अतिरिक्त कई बनावटी साधन प्रयुक्त किये जाते हैं जिनसे मृदा में जीवांश की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। ये साधन निम्नलिखित हैं:

क. पेड़-पौधों की जड़ें, पत्तियाँ और टहनियाँ,
ख. हरी खाद,
ग. मनुष्य के मल-मूत्र,
घ. विभिन्न पशुओं के मूत्र और गोबर से बनी खाद तथा कम्पोस्ट,
ङ. खर-पतवार और घास-पात,
च. फलीदार (Leguminous) फसलों के बोने से, तथा
छ. विभिन्न प्रकार की खलियों से।

ताजे जीवांशों का पौधों के लेने योग्य बनने की तैयारी—उपर्युक्त साधनों द्वारा जब ताजे जीवांश भूमि में पहुँच जाते हैं तो वे इस योग्य नहीं रहते कि पौधे उन्हें ले

सकें। पौधों के लेने योग्य बनने के लिए उन्हें सड़ना पड़ता है। सड़ने का यह कार्य रासायनिक परिवर्तन में आता है जो बैक्टीरिया द्वारा पूरा किया जाता है। बैक्टीरिया का सर्वप्रथम आक्रमण ताजे जीवांश के स्टार्च और चीनी वाले अंश पर होता है। जब ये अंश अपने साधारण रूप में बदल जाते हैं तो कड़े प्रोटीन व पेन्टोस आदि पर दूसरा आक्रमण होता है। तीसरा हमला जीवांश के सेल्यूलोज वाले अंश पर होता है और तब यह घुलनशील रूप में आ जाता है। जीवांश का तेल और चर्बी अंश वाला सबसे बाद में आक्रान्त होता है। यह अंश ह्यूमस का निर्माण करता है और अधिक देर तक भूमि में टिका रहता है।

जीवांश का प्रोटीन वाला भाग नाइट्रोजन प्रदान करता है जो अमीनोएसिड बन जाता है। यह अमोनोएसिड द्रव अमोनिया में बदलता है और फिर नाइट्राइट या नाइट्रेट बन जाता है जिसे पौधे आसानी से ले सकते हैं। फली वाली फसलों में नाइट्रोजन की अधिक मात्रा पाई जाती है। नाइट्रोजन के अलावे कार्बन भी अधिक परिमाण में जीवांश में विद्यमान होता है। यह कार्बन तो अधिक मात्रा में कार्बन-डाइ आक्साइड बनकर उड़ जाता है और कुछ पानी बन जाता है। ताजे जीवांश में पानी अधिक मात्रा में पाया जाता है। कार्बन, नाइट्रोजन, ओपजन, हाइड्रोजन, गन्धक, क्षार, खनिज पदार्थ आदि पदार्थ किसी न किसी रूप में जीवांश में प्राप्त होते हैं।

भूमि में ऐन्द्रिक पदार्थों की रोक-थाम और आवश्यकता—जीवांश का उपज पर अधिक प्रभाव पड़ता है। अधिक समय से एक ही भूमि से बराबर फसलें लेने से उसके जीवांश समाप्त हो जाते हैं। ऐसी दशा में भूमि की उर्वरा शक्ति क्षीण हो जाती है और पैदावार अच्छी नहीं होती। अतः भूमि में जीवांश देने के लिए बनावटी साधनों का प्रयोग किया जाता है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। जब-जब भूमि में ऐन्द्रिक पदार्थों का अभाव मालूम होवे, तब-तब बनावटी विधियों का प्रयोग आवश्यक होता है। इनके अतिरिक्त कुछ और बातें ध्यान में रखी जाती हैं जिनसे जीवांश के बनाये रखने में सहायता मिलती है। झकड़ा और मूसला जड़ वाली फसलों को हेर-फेर कर बोने से ऊपरी और भीतरी सतह के जीवांश का उपयोग होता है। दाल वाली फसलें वृद्धि अधिक करती हैं। भूमि में जीवांश का बहुत महत्व है क्योंकि इससे निम्नलिखित बातें पूरी होती हैं:—

क. मृदा की उर्वरता बढ़ जाती है,
ख. पौधों की उपयुक्त खुराक तैयार होती है,
ग. मृदा की जलधारण शक्ति बढ़ जाती है,
घ. भूमि में भुरभुरापन आ जाता है,
ङ. मिट्टी के भीतर वायु-संचार होने लगता है,
च. बैक्टीरिया को भोजन मिलने लगता है, तथा
छ. अनुपयुक्त मिट्टी उपयुक्त बनाई जा सकती है।

ऐन्द्रिक पदार्थों का मृदा पर प्रभाव—जिस भूमि में ऐन्द्रिक पदार्थों की उप-

स्थिति होती है उसमें ह्यूमस उत्पन्न हो जाता है। ह्यूमस में भूमि की गर्मी (Soil heat) को बनाये रखने की योग्यता होती है। इससे पाले का प्रभाव नहीं पड़ने पाता जिस भूमि में जीवांश अधिक मौजूद होते हैं उसमें नमी रोक रखने की अधिक शक्ति होती है। इससे सूखा के समय फसल को कुछ देर तक हानि नहीं पहुँच पाती। भूमि की जल सोखने और धारण करने की शक्ति बढ़ जाती है। वायु का प्रवेश अधिक होने लगता है जिससे बैक्टीरिया का कार्य सुचारु रूप से चलता है। भारी भूमि में जीवांश मिलाने से वह हल्की हो जाती है। चिकनी मिट्टी के कणों की चिकनाहट दूर कर भुरभुरापन लाने के लिए जीवांश का प्रयोग किया जाता है। बलुई भूमि को भी सुधारने के लिए इन पदार्थों का उपयोग किया जाता है। भूमि की उर्वरता बढ़ जाती है जिससे कृषि को अत्यधिक लाभ मिलता है।

भूमि कणों का खुला धरातल
(Surface Exposed)

कृषि में भूमि का ऊपरी धरातल जोतने, गोड़ने, पलटने आदि क्रियाओं से ऊपर-नीचे हुआ करता है। नीचे वाले भाग में रिक्त-छिद्रों के रहने से वायु और जल की पर्याप्त मात्रा पाई जाती है। ऊपरी सतह को यद्यपि काफी वायु, जल और गर्मी बाहर से मिलती है परन्तु रन्ध्र-छिद्रों में घुसी हवा और पानी का प्रभाव अधिक रूप में इस पर पड़ता है। जिस भूमि में अधिक रिक्त-स्थान होंगे और जिसका मृदा-विन्यास तथा रचना ठीक होगी उसका बाह्य धरातल भी अधिक खुला होगा। भूमि में होने वाली रासायनिक प्रक्रियाओं का प्रभाव ऊपरी धरातल पर भी पहुँचता है। खुली धरातल से कई लाभ होते हैं। प्रथम तो जुताई और गुड़ाई आदि से पौधों की जड़ें, पत्तियाँ और डण्ठल आदि नीचे चले जाते हैं और सड़ कर जीवांश बनाते हैं। भूमि के भीतर के हानिकर कीटाणु ऊपर आकर विनष्ट हो जाते हैं। सूर्य की गर्मी से धरातलीय भूमि में रासायनिक परिवर्तन होते हैं। इनके अतिरिक्त हवा, पानी तथा गर्मी अधिक मात्रा में मिलने लगती हैं जिससे भूमि उर्वर हो जाती है।

संसक्ति या भूमि की चिकनाहट शक्ति (Cohesion)

यह वह शक्ति है जिससे एक कण दूसरे से चिपका रहता है। यह शक्ति चिकनी मिट्टी में अधिक पाई जाती है जिसके कारण वह भारी होती है। उसमें गीली या सूखी अवस्था में हल नहीं चलाया जा सकता क्योंकि उसके कण इतने चिपके रहते हैं कि हल फिसल नहीं सकता। सूख जाने पर दरारें फटती हैं और बड़े-बड़े ढेले निकलते हैं। वह फसल के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त होती है। उसे सुधारने के लिए बालू और जीवांश का प्रयोग किया जाता है। संसक्ति सूखने और गीले होने पर बढ़ जाती है।

भुरभुरापन (Friability)

अच्छी भूमि का भुरभुरी होना एक गुण है किन्तु यह भुरभुरापन औसत दर्जे

का होना चाहिए। ऐसा न हो कि भूमि बालू की तरह भुरभुरी हो जिसमें से पानी शीघ्र निकल जाया करे और वायु का भी प्रवेश अधिक हो। चिकनी मिट्टी की तरह चिपकनाहट भी नहीं होनी चाहिए। भूमि का भुरभुरापन ऐसा होना चाहिए कि पानी, वायु और गर्मी का उचित प्रवेश हो सके। भुरभुरी भूमि कृषि के लिए बहुत उपयोगी होती है क्योंकि बैक्टीरिया के कार्य, पौधों का उगना, उनकी वृद्धि और उनके आहार का निर्माण सब कुछ मिट्टी की इसी शक्ति पर निर्भर करता है। भुरभुरापन के लिए मिट्टी की नमी और जोत (Tilth) पर ध्यान देना चाहिए। समय पर गुड़ाई और जुताई न करने से भूमि का यह गुण जाता रहता है और इसका प्रभाव फसल पर हानिकर पड़ता है।

कोलाइड (Colloids)

चिकनी मिट्टी को पानी में घुलाने पर मालूम पड़ता है कि सभी कण घुल गये हैं परन्तु कुछ सूक्ष्म कण घुलते नहीं हैं बल्कि इधर-उधर तैरा करते हैं। ये ही कण कोलाइड कहे जाते हैं।

रूपदता (Plasticity)

भूमि में कोलाइड के उपस्थित होने से रूपदता का गुण आ जाता है जिसके अनुसार मिट्टी गीली अवस्था में जो रूप धारण कर लेती है, सूखने पर भी वही गुण रहता है। मिट्टी की रूपदता शक्ति बारीक और सूक्ष्म कणों के कारण बढ़ जाती है। नमी मौजूद रहने पर भी उसका यह गुण अधिक ही होता है। किन्तु जब भूमि में दानेदार बनने की शक्ति विशेष होती है तो यह गुण कम हो जाता है।

भूमि की गर्मी (Soil Heat)

फसलों की अच्छी उपज लेने के लिए भूमि में गर्मी की एक निश्चित मात्रा जरूरी होती है। बीज के उगने, बढ़ने और फूलने-फलने के लिए गर्मी की नितान्त आवश्यकता होती है। बर्फ या बिल्कुल ठण्डे पानी में बीज नहीं जमाया जा सकता। ठीक इसी तरह जलती हुई मिट्टी में भी बीज का जमाव नहीं हो सकता : अतःबीज का जमाव इन दोनों स्थितियों के बीच वाले तापक्रम पर ही हो सकता है। यह तापक्रम आप्टिमम (**Optimum**) कहलाता है, जबकि ऊँचे और नीचे तापक्रम, (**Maximum and Minimum temperature**) के नाम से प्रयोग किये जाते हैं। मृदा के भीतर उपयोगी बैक्टीरिया का कार्य उचित तापक्रम पर ही होता है। यह तापक्रम वर्ष भर समान नहीं रहता बल्कि बदलता रहता है। अनुपयुक्त तापक्रम में बैक्टीरिया का कार्य बन्द हो जाता है। ज्ञात किया गया है कि आधे सितम्बर से आधे नवम्बर तक और आधे फरवरी से आधे अप्रैल तक का समय बैक्टीरिया के लिए उचित होता है और वे अपना काम इस समय पूर्ण शक्ति से करती हैं।

बीजों के जमने और बढ़ने के लिए भिन्न-भिन्न तापक्रम की आवश्यकता होती

है। कुछ अधिक तापक्रम चाहते हैं तो कुछ कम। यही कारण है कि ये किसी निश्चित समय में ही बोये और काटे जा सकते हैं। चना यदि बरसात के दिनों में बो दिया जाय तो वह जम तो अवश्य जायेगा किन्तु उसका उपयुक्त बढ़ाव नहीं हो सकता है और न उसमें फूल-फल ही आ सकते हैं। यहाँ हम कुछ बीजों के उगने के तापक्रम सारिणी में व्यक्त करते हैं।

बीजों के जमने का तापक्रम

फसलें	कम से कम तापक्रम (Minimum Temperature)	अधिक से अधिक तापक्रम (Maximum Temperature)	आप्टिमम तापक्रम (Optimum Temperature)
गेहूँ	४१° फैरेनहाइट	१०८° फैरेनहाइट	८०° फैरेनहाइट
मक्का	४९° ”	११५° ”	९३° ”
जौ	४०° ”	१००° ”	८४° ”
मटर	४१° ”	×	×
जई	४१° ”	१००° ”	७५° ”
सरसों	३२° ”	९९° ”	८१° ”

बीजों के बढ़ने का तापक्रम

फसलें	कम से कम तापक्रम	अधिक से अधिक तापक्रम	अनुकूल तापक्रम
गेहूँ	३२° –४०° फैरेनहाइट	८९–९७° फैरेनहाइट	७७–८७° फैरेनहाइट
जौ	३२° –४०° ”	८९–९७° ”	७७–८७° ”
मटर	३२° –४०° ”	८९–९७° ”	७७–८७° ’
सरसों	३२° –४०° ”	९९–१००° ”	८१° ”
मक्का	४०° –५०° ”	९८–११५° ”	९२° ”
सेम	४९° ”	९८–११५° ”	९२° ”

भूमि को ताप मिलने के साधन (Sources of Soil heat)—भूमि को मुख्यतया तीन साधनों से गर्मी प्राप्त होती है:—

(१) सूर्य से,

(२) रासायनिक प्रक्रियाओं से, तथा
(३) भूमि की भीतरी गर्मी से।

सूर्य भूमि के खुले धरातल को काफी गर्मी देता है। बीजों का जमना, बढ़ना, फूलना और फल देना सभी प्रक्रियाएँ सूर्य की ही गर्मी पर आधारित हैं। रासायनिक प्रक्रियाओं से भी गर्मी उत्पन्न होती है। जीवांश के सड़ने, खाद के देने आदि में परिवर्तन होते हैं और इस प्रकार भूमि को गर्मी प्राप्त होती हैं। खादों के सड़ने और जीवांश के बनने की यह क्रिया अधिकतर गर्मी के दिनों में होती है। इनके अतिरिक्त भूमि की अपनी गर्मी भी होती है जो भूमि के तापक्रम को जल्दी गिरने नहीं देती।

मृदा के तापक्रम को प्रभावित करने वाली बातें (Factors affecting Soil Temperature)—मिट्टी का तापक्रम घटता-बढ़ता है। यह घटाव-बढ़ाव कई बातों पर निर्भर करता है जिनको सुधार कर मिट्टी का तापक्रम उपयुक्त बनाया जा सकता है। ये बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) भूमि का रंग,
(२) भूमि का ढलाव,
(३) भूमि की बनावट,
(४) भूमि में जीवांशों की मात्रा,
(५) आपेक्षिक गर्मी,
(६) खुली भूमि,
(७) नमी की मात्रा, तथा
(८) भूमि की दशा।

भूमि का रंग—भूमि का तापक्रम उसके रंगों पर अधिक निर्भर करता है। एक ही प्रकार की भूमि का तापक्रम रंगों के कारण भिन्न हो जाता है। काली मिट्टी में गर्मी अधिक लेने की शक्ति होती है। इसमें गेहूँ का पौधा सफेद मिट्टी की अपेक्षा शीघ्र जम जाता है परन्तु यह गर्मी धीरे-धीरे लेती है।

भूमि का ढलाव—खेत के ढालवेपन का प्रभाव मृदा के तापक्रम पर पड़ता है। समतल भूमि की अपेक्षा ढालवी भूमि कम गर्मी पायेगी। ढलाव का वह किनारा, जो सूर्य के सामने पड़ता है अधिक गर्मी प्राप्त करेगा जबकि दूसरा किनारा ठण्डा ही रहेगा।

भूमि की बनावट—यदि भूमि रेतीली या कंकड़-पत्थरों से भरी पड़ी है तो गर्मी शीघ्र लेगी और शीघ्र निकाल भी देगी किन्तु चिकनी मिट्टी देर में गर्म होती है और गर्मी धीरे-धीरे निकालती है। अधिक गर्मी निकल जाने से भूमि का तापक्रम गिर जाता है।

जीवांश की मात्रा—जिस भूमि में अधिक जीवांश रहते हैं उसमें बैक्टीरिया का कार्य खूब होता है। ऐसा होने से रासायनिक परिवर्तन हुआ करते हैं और भूमि को

ताप मिला करता है। जीवांश के सड़ाव से ह्यूमस बनता है जो भूमि को काला बना देता है। इस प्रकार भूमि का तापक्रम बढ़ जाता है।

आपेक्षिक गर्मी—जिस भूमि की आपेक्षिक गर्मी अधिक होती है उसका तापक्रम कम होता है परन्तु आपेक्षिक घनत्व के घटन पर तापक्रम बढ़ जाता है। हम इसके विषय में आगे प्रकाश डालेंगे।

खुली भूमि—मैदानों की भूमि का तापक्रम छायेदार भूमि की अपेक्षा अधिक होता है क्योंकि जाड़े के दिनों में भी खुली भूमि गर्मी पाती है। साथ ही भूमि से पानी के भाप रूप में उड़ने का भी प्रभाव मिट्टी पर पड़ता है, क्योंकि पानी को भाप में बदलने में अधिक गर्मी खर्च हो जाती है।

नमी की मात्रा—भूमि में नमी की मात्रा रहने से सूर्य की गर्मी उसे भाप बनाने में ही व्यय हो जाती है और भूमि का तापक्रम नहीं बढ़ पाता।

भूमि की दशा—जुती, गुड़ी या भुरभुरी मृदा पर सूर्य की किरण सीधी पड़ती हैं। इससे कण शीघ्र गर्म हो जाते हैं और तापक्रम बढ़ जाता है।

अवरोध परत मल्च (Malch)

कोई पदार्थ जो भूमि के धरातल पर वाष्पीकरण द्वारा पानी का हानि को रोकने के लिए अथवा घास-पात की बाढ़ को रोकने के हेतु रखा जाय उसे अवरोध परत अथवा मल्च (Malch) कहते हैं। साधारणतया उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई बाह्य पदार्थ नहीं प्रयोग किया जाता बल्कि भूमि की ही एक हल्की परत बना दी जाती है जो भूमि के पानी को वाष्पीकृत होने से बचाती है। इसी कारण खेत की जुताई या गुड़ाई के पश्चात् पाटा या बेलन चलाया जाता है। इससे मिट्टी के भुरभुरी और समतल होने के साथ-साथ खेत में अवरोध परत भी बन जाती है। इस परत के बनने से कैपिलरी ट्यूब टूट जाती हैं और उनका भूमि के भीतरी पानी से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है जिससे भूमि का पानी उड़ने से बच जाता है। कभी अवरोध परत बनाने के लिए बाह्य पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। इन पदार्थों में खाद, पत्तियाँ, भूसा, पशुओं का बिछावन, कागज, पौधों की जड़ें या खूँटियाँ आदि सम्मिलित की जाती हैं। इन बाह्य पदार्थों का प्रयोग अधिक प्रचलित नहीं है। इन्हें केवल विशेष परिस्थितियों में ही प्रयोग करते हैं। जैसे जहाँ प्राकृतिक अवरोध परत, जिसे भूमि अवरोध परत भी कहते हैं, असफल सिद्ध होती है, जहाँ अवरोध परत बना देने के पश्चात् निराई-गुड़ाई की आवश्यकता नहीं होती अथवा जहाँ इस परत में प्रयोग किये जाने वाले पदार्थ सरलतापूर्वक सुलभ हों। अवरोध परत मुख्यतः निम्न-लिखित प्रकार के होते हैं :—

१. **भूमि अवरोध परत या प्राकृतिक अवरोध परत**—इसमें २-३" मोटाई की भूमि का परत बनाते हैं जो वाष्पीकरण रोककर जल संचित रखती है।

२. **कागज अवरोध परत :**—इस प्रकार के अवरोध परत भारत में नहीं प्रयोग किये जाते। विदेशों में इसका अधिक प्रचार है। हवाई पाइनएपिल (Pineapple) के उद्यान में इसे काम में लाते हैं।

३. **पौधों की जड़ों आदि की अवरोध परत**—मक्का, ज्वार आदि की जड़ें या खराब भूसा, पशुओं का बिछावन आदि जब भूमि की धरातल पर रख दिया जाता है तो इससे भूमि के भीतर का जल वाष्पीकृत होने से बच जाता है। इससे भूमि क्षरण भी रुक जाता है।

भूमि की आपेक्षिक गर्मी (Specific Heat of Soil)

आपेक्षिक ताप वह अनुपात है जो एक निश्चित मात्रा की मिट्टी और उसी के बराबर मात्रा के पानी के तापक्रम को क्रमशः १° बढ़ाने से प्राप्त होता है। उदाहरणस्वरूप यदि किसी प्रकार की मिट्टी की एक निश्चित मात्रा के तापक्रम को १° बढ़ाने में २० केलोरी गर्मी व्यय होता है और उसी मात्रा के पानी का १०° तापक्रम बढ़ाने में १०० केलौरी गर्मी लगती है तो उस मिट्टी का आपेक्षिक ताप $\frac{२०}{१००}$ = ·२ होगा। सभी मिट्टी का आपेक्षिक ताप एक सा नहीं होता क्योंकि कुछ मिट्टियाँ शीघ्र गर्मी ग्रहण कर लेती हैं और कुछ देर में। बलुई मिट्टी शीघ्र गर्म हो जाती है। इसीलिए उसका आ० ता० ·१९३ है परन्तु दोमट और चिकनी मिट्टी का ·२७७ और ·२०५ है।

जल का आपेक्षिक ताप भूमि की अपेक्षा पाँच गुना कम है। पानी देर में गर्म और देर में ठंडा होता है। जिस भूमि में पानी की मात्रा अधिक होती है वह कम पानी रखने वाली भूमि से अधिक आपेक्षिक ताप रखती है। अधिक जीवांश और रंध्र-कूपों वाली भूमि का आपेक्षिक तापक्रम जीवांश और रंध्र-कूपों वाली भूमि से अधिक होता है।

भूमि की गर्मी के विनष्ट होने के साधन—भूमि जो गर्मी अपने अन्दर ले लेती है उसे अपने पास सदैव नहीं रखती वरन् किसी न किसी प्रकार से उसे बाहर निकाल देती है। यह गर्मी अधिक अंश में भूमि के जल को भाप बनाने में व्यय हो जाती है। कुछ गर्मी भूमि से बराबर निकला करती है। ऊपर की हवाओं से ठण्डी रहने पर भूमि की कुछ गर्मी उन्हें गर्म बनाने में खर्च हो जाती है। भूमि के नीचे की ठण्डी तहों में भी भूमि की गर्मी ली जाती है। इस प्रकार भूमि की गर्मी खर्च होती रहती है परन्तु उसका औसत तापक्रम गर्मी निकलने और मिलने के मध्य में ही होता है।

नाइट्रोजन चक्र (Nitrogen Cycle)

नाइट्रोजन का कृषि में बड़ा महत्व है। इसे पौधे अपने भोजन के रूप में लेते हैं क्योंकि यह पौधों और जीवों के जीवन के आवश्यक तत्वों में से प्रोटीन का निर्माण करता है। प्रोटीन की अनुपस्थिति में पौधे जीवित नहीं रह सकते। अतः उनके लिए

नाइट्रोजन का उपयोग आवश्यक होता है। पौधे को खाद के रूप में वह तत्व प्रदान किया जाता है परन्तु हवा तो नाइट्रोजन का अक्षय भण्डार ही है जहाँ एक ओर से यदि नाइट्रोजन का उपभोग होता है तो दूसरी ओर उसकी प्राप्ति। यह क्रम प्रकृति में निरन्तर चला करता है।

पौधे वायुमण्डल की नाइट्रोजन सीधे रूप में नहीं खींच सकते। इसलिए इसे भूमि में मिलना पड़ता है जहाँ से पौधे सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। जानवर भी नाइट्रोजन सीधे रूप में नहीं पाते बल्कि उन्हें इसके लिये पौधों पर निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि भूमि से नाइट्रोजन इनकी पत्तियो, डण्ठलों और बालियों में आ जाता है। पौधों को यह नाइट्रोजन भूमि द्वारा दो प्रकार से मिलता है :—

(१) फलीदार फसलों द्वारा, तथा
(२) हाइड्रोजन देने वाली खादों द्वारा।

मटर, चना, अरहर आदि फलीदार फसलों की जड़ों में एक प्रकार की गाठें रहती हैं। इन गाँठों में बैक्टीरिया होती हैं जो वायु से नाइट्रोजन अपने अन्दर खींच लेती हैं। यह नाइट्रोजन पौधों के बड़े काम का होता है यद्यपि इसकी मात्रा बहुत कम होती है क्योंकि दालवाली फसलें अधिक परिमाण में नही बोई जातीं। खादों द्वारा पौधे अधिक नाइट्रोजन पाते हैं। यह नाइट्रोजन भूमि में नाइट्रेट या अमोनियम क्षारों के रूप में उपस्थित रहता है। क्योंकि बिजली गिरने या चमकने से खाद का नाइट्रोजन नमक बन जाता है। जब वायुमंडल में बिजली चमकती है तो नाइट्रोजन नाइट्रोजन-आक्साइड में बदल जाता है। जब यह आक्साइड पानी से मिलता है तो नाइट्रिक अम्ल तैयार होता है। यह अम्ल वर्षा होने पर पानी के साथ भूमि में चला आता है। यहाँ जब क्षारों से इसका सम्पर्क होता है तो नाइट्रेट बन जाता है। यही नाइट्रेट पौधों के काम आता और इसे लेने में वे समर्थ होते हैं।

चित्र १४—नाइट्रोजन रखने वाली गाँठें (जड़ में काला भाग)

नाइट्रोजन की कुछ मात्रा जानवरों की मृत्यु और पौधों के सड़ने से मिलती है। इनमें गैस रूप में उपस्थित नाइट्रोजन तो निकल कर वायु में मिल जाता है किन्तु प्रोटीन वाला अंश सड़ना शुरू कर देता है। पहले तो बैक्टीरिया उन्हें पेप्टोन और अमीनो एसिड में बदल देती है। इसके बाद अमोनिफिकेशन क्रिया प्रारम्भ होती है। इस क्रिया से अमोनिया गैस बनती है। अब नाइट्रीफाइंग बैक्टीरिया अपना काम शुरू

करती है तो अमोनिया गैस आक्सीजन की उपस्थिति में नाइट्रस एसिड में बदल जाती है। नाइट्रस एसिड फिर नाइट्रिफाइंग बैक्टीरिया द्वारा नाइट्रिक एसिड में परिवर्तित हो जाता है। नाइट्रिक एसिड का कुछ अंश वायु में चला जाता है और कुछ पौधों के भोजन के काम आता है। पौधों के भोजन वाला अंश बाद में नाइट्राइट में बदल जाता है और फिर नाइट्रोबैक्टर नामक बैक्टीरिया द्वारा नाइट्रेट में बदल कर पौधे का भोजन बन जाता है।

एक प्रकार की और बैक्टीरिया भूमि में पाई जाती है जिसे एजोटोबैक्टर क्रोम कहते हैं। ये फास्फेट, कैल्शियम कार्बोनेट और कार्बोहाइड्रेट की उपस्थिति में अपना कार्य करती हैं। ये वायु से नाइट्रोजन लेकर अपना जीवन कायम रखती है और जब मर

चित्र १५—नाइट्रोजन चक्र

जाती हैं तो भूमि को इनसे अधिक नाइट्रोजन प्राप्त होती है। एक प्रकार की ऐसी बैक्टीरिया भी पाई जाती है जो हवा की अनुपस्थिति में नाइट्रोजन तैयार करती है। इस प्रकार भूमि को नाइट्रोजन की मात्रा बराबर मिला करती है। वायु से मिट्टी में, मिट्टी से पौधों में, पौधों से जानवरों में, जानवरों से फिर मिट्टी में यह चक्र बराबर हो चला करता है। इसे नाइट्रोजन चक्र कहते हैं। इसे समझने के लिए ऊपर के चित्र से सहायता ली जा सकती है।

मृदा में नमी (Soil Moisture)

पौधों के बढ़ाव में आवश्यक भोजन तत्वों के साथ-साथ नमी की भी अत्यन्त आवश्यकता होती है। यह नमी भूमि में रह कर फसलों के लिए आहार तैयार करती है। पौधे अपनी प्रत्येक खुराक घोल रूप में लेते हैं। पानी में ऐसी शक्ति होती है जो पौधों के आवश्यक तत्वों को अपने में घुला लेता है और पौधे की जड़ के चारों ओर वह घोल बिखेर देती है। जड़ें अपने root hairs से इन्हें अन्दर खींच लेती हैं और

डंठल से लेकर पत्तियों तक पहुँचा कर जीवित रहती हैं। अपने इस कार्य के अतिरिक्त जल पौधों का स्वयं एक खाद्यांश है क्योंकि यदि पौधे का रासायनिक विश्लेषण किया जाय तो पानी का अंश भी प्राप्त होता है। पानी भूमि में रहकर उसे नम बना देता है और अनेक कृषि कार्यों को सरल कर देता है। भूमि में नमी के होने से जुताई, गुड़ाई, निकाई, बीज का उगना, पौधों का बढ़ना, फूलना और फलना आदि क्रियाएँ सम्भव हैं। अस्तु भूमि में पौधे के हित के लिए नमी का होना बहुत जरूरी है। किन्तु नमी की एक निश्चित मात्रा ही उपादेय होती है। न्यूनाधिक नमी की मात्रा फ़सल को लाभ के बदले हानि कर जाया करती है।

भूमि में नमी की सुरक्षा (Control of Soil Moisture)—भूमि में नमी संचित करने के लिए कृषि के अनेक ढंग काम में लाये जाते हैं। इसमें यदि थोड़ी-सी भी असावधानी दिखलाई जाती है तो भूमि की सारी नमी उड़ जाती है। नमी के समाप्त हो जाने पर किसानों को बड़ी हानि उठानी पड़ती है और दुबारा सिंचाई करके खेत को नम बनाना पड़ता है। इससे बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती है। इसलिए किसानों को इस ओर बहुत सावधान होना चाहिए। नमी रोकने के लिए निम्नलिखित विधियाँ हैं:—

अ. यदि खेत बोया नहीं गया है और बोने के लिए उसकी नमी रोकनी जरूरी है तो उसकी समय पर जुताई होनी चाहिए। बार-बार जुताई करने से भूमिकी नमी अधिक दिनों तक कायम रहती है क्योंकि भूमि की जलीय नलिकाएँ (Capillary tubes) टूट जाया करती हैं और अधिक भाप बनने की क्रिया रुक जाती है। यदि नमी उड़ने का विशेष भय हो तो खेत में पाटा दे देना चाहिए।

आ. बड़ी फसल वाले खेत की नमी बनाये रखने के लिए समय-समय पर उसकी गुड़ाई करते रहना चाहिए। गुड़ाई करने से भूमि की नमी अधिक मात्रा में नहीं उड़ सकती। कारण यह कि भूमि के भरभुरी हो जाने पर वह देर में गर्म और देर में ठण्डी होती है।

इ. भूमि की जल ग्रहण और धारण करने की शक्ति बढ़ा देने पर वह शीघ्र नमी नहीं उड़ने देती।

ई. विभिन्न प्रकार की खादों और जीवांश बढ़ाकर भूमि की नमी रोकी जा सकती है। इनसे रासायनिक प्रक्रियाएँ होती हैं जो भूमि की नमी की मात्रा बढ़ाती हैं।

उ. मृदा के टेक्सचर और स्ट्रक्चर भी बहुत अंश में भूमि की नमी संचित रखने में उत्तरदायी हैं। जिस भूमि का टेक्सचर ठीक होगा उसमें रिक्त-छिद्रों की मात्रा अधिक होगी। ऐसा होने से जल की अधिक मात्रा इनमें स्थान पा सकेगी जो भूमि की नमी स्थिर रख सकेगी।

ऊ. हानिकर पौधे की निकाई (Weeding) करके भूमि की नमी बचाई जा सकती है। ये पौधे मोथे, बनप्याज, दूब आदि होते हैं जो फसल की खुराक छीनकर

अपने को जीवित रखते हैं। ये अधिक नमी अपने जीने में व्यय करते हैं और उसे वायुमण्डल में भी उड़ा देते हैं जिससे कृषि का कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

ए. भूमि की नमी रोकने के लिए धरातल पर घास-फूस या भूसा आदि रख देते हैं। इससे सूर्य के प्रचण्ड ताप का प्रभाव भूमि पर सीधे नहीं पड़ता और नमी उड़ने नहीं पाती।

भूमि की नमी का प्रभाव (Effect of Soil Moisture)—जब खेत में नमी की उचित मात्रा मौजूद है तो फसल को निम्नलिखित लाभ होते हैं:—

क. फसल की बोआई समय पर होती है,
ख. बीज का जमाव अच्छी तरह होता है,
ग. भूमि की गर्मी बनी रहती है,
घ. पाले का प्रभाव नहीं पड़ता,
ङ. जीवांश का कार्य सरलतापूर्वक चलता है,
च. पौधे का बढ़ाव अच्छा होता है, तथा
छ. फसल के लिए आवश्यक क्रियाएँ—गुड़ाई, निकाई आदि हो सकती हैं।

अधिक नमी से हानियाँ (Harms of Excessive Moisture)—भूमि में अधिक नमी का होना कृषि के हेतु हानिकर होता है। ठीक उसी प्रकार भूमि में नमी की कमी भी फसल को नुकसान पहुँचाती है। यदि भूमि काफी गीली है और फसल की बोआई का समय हो गया है तो बोआई समय पर नहीं हो सकती। भूमि को जोतने योग्य बनाने के लिए अधिक समय लग जायगा, जब तक बोआई का समय ही निकल जावेगा। देर में बोई जाने वाली फसलें अच्छी उपज नहीं देतीं। अधिक नमी होने से भूमि के रिक्त-छिद्र पानी से ही भरे रहते हैं। इनकी वायु निकल जाती है। भूमि में वायु की अनुपस्थिति से पौधों को लाभ पहुँचाने वाली बैक्टीरिया अपना काम बन्द कर देती है। इससे पौधे दुर्बल पड़ जाते हैं। अधिकाधिक नमी के रहने से पौधों की जड़ों का बढ़ाव नहीं हो पाता। ऐसा होने से पौधे आवश्यक आहार नहीं पाते हैं और मुरझाने लगते हैं। अधिक नमी से एक और हानि यह होती है कि बीज का जमाव और पौधे की अभिवृद्धि धीरे-धीरे होती है। इस प्रकार वह पकने के समय तक पूरे बढ़ाव में नहीं आ पाता और इतने में समय और ऋतु के अनुसार पकने लगता है। परिणाम यह होता है कि उसकी बालें और डण्ठल छोटे रह जाते हैं और उपज लाभप्रद नहीं होती।

जब खेत में नमी की मात्रा अधिक हो जाती है और बोआई का समय आ गया हो तो खेत की नमी के सूखने की प्रतीक्षा करने या उसी दशा में बीज बो देने दोनों दशाओं में हानि उठानी पड़ती है। यदि खेत में पानी जमा हो तो जल निकास (Drainage) का प्रबन्ध करना चाहिए। भीतरी जल निकास या बाहरी जल निकास से पानी खेत से बाहर कर खेत बोने योग्य बनाना चाहिए। यदि खेत में पानी नहीं

है या वह अधिक गीला है तो उसमें पाटा चलाना चाहिए। बिना जुती भूमि में पाटे के प्रयोग से भूमि की नमी शीघ्र उड़ जाती है और भूमि जुताई करने के लिए उपयुक्त बन जाती है।

भूमि में नमी के विविध रूप—(Different Forms of Soil Moisture) वर्षा का पानी ही मृदा को नम बनाने की क्षमता रखता है। यह बरसने पर कई भागों में बाँट जाता है। कुछ तो बहकर नदियों में और नालों से समुद्र में चला जाता है, कुछ सूर्य द्वारा शोषित कर लिया जाता है और बाकी भूमि में रिस कर चला जाता है। जो पानी रिस कर मिट्टी के अन्दर जाता है वही पौधे के काम आता है और भूमि की नमी मुख्यतः इसी पर निर्भर करती है। भूमि के भीतर वाला पानी तीन रूपों में वर्तमान रहता है।

(१) अविलगनीय या रासायनिक जल (Hygroscopic Water),
(२) केशीय या कणान्तरित जल (Capillary Water). तथा
(३) गुरुत्वाकर्षक या स्वतन्त्र जल (Gravitational Water)।

रासायनिक जल—मिट्टी के रिक्त-छिद्रों में पानी या वायु भरी रहती है। मिट्टी का यह पानी जब सूर्य की गर्मी से भाप बन कर उड़ जाता है तो भूमि सूखी मालूम पड़ती है। उसके अन्दर नमी की मात्रा बिल्कुल नहीं ज्ञात होती। किन्तु इस दशा में भी पानी की एक बहुत पतली तह कणों के वाह्य पृष्ठ पर जमी रहती है। यह बहुत मजबूती से कणों में चिपकी रहती है और भूमि में स्वतन्त्र रूप से बह नहीं सकती। यह जल मदा-कणों के आकार के अनुसार कम या अधिक होता है। यदि चिकनी मिट्टी जिसके कण बारीक हुए तो इसमें रासायनिक जल की मात्रा अधिक होगी परन्तु बलुई मिट्टी में इसका अभाव-सा रहता है। चिकनी मिट्टी में यह १२ से १५ प्रतिशत और बलुई में १ प्रतिशत पाई जाती है। रासायनिक जल पौधों के लिए किसी काम का नहीं होता।

केशीय जल—यह जल रिक्त स्थानों में और उसके चारों ओर जमा रहता है। इसके स्थिर होने में कणों का पारस्परिक आकर्षण साथ देता है। भूमि के अन्दर रिक्त-छिद्रों की उपस्थिति से एक टेढ़ी-मेढ़ी नली बन जाती है जिसे कैपोलरी (Capillary) नली कहते हैं। इन्हीं नलियों में पानी इकट्ठा रहता है और इन्हीं से होकर आवश्यकता पड़ने पर नीचे की सतह से ऊपर की ओर आया करता है। अतः यह जल केशीय जल कहा जाता है। ऐसी नलिकायें भूमि में अधिक संख्या में पाई जाती हैं जो ऊपरी सतह से निचली सतह तक बिखरी पड़ी रहती हैं। यह जल पृथ्वी के आकर्षण द्वारा भूमि में इतना नीचे नहीं जाने पाता कि पौधे उसे न ले सकें। किन्तु कभी-कभी पृथ्वी का आकर्षण जब कणों के पारस्परिक खिंचाव से अधिक होता है तो यह जल खिंचकर पृथ्वी के भीतर चला जाता है। पहले पौधे ऊपरी धरातल के ही केशीय जल का उपयोग करना शुरू करते हैं और जब यह समाप्त हो जाता है तो कैपिलरी क्रिया (Capillary action)) द्वारा निचली तह का केशीय जल ऊपर आने लगता है

ताकि पौधे उसे ले सकें। जब यह पानी भी समाप्त हो जाता है तो भूमि की सिंचाई करनी पड़ती है। जिस भूमि में रिक्त-छिद्रों की मात्रा अधिक होगी उसमें यह जल अधिकता से पाया जायगा। चिकनी मिट्टी या जीवांश से पूर्ण भूमि में इस जल की मात्रा अधिक होगी। भूमि की जल ग्रहण और धारण करने की शक्ति पर भी केशीय जल निर्भर करता है।

स्वतन्त्र जल—पानी के बरसने पर रिस-रिस कर जो पानी नीचे भूमि में चला जाता है उससे रिक्त छिद्र भर जाते हैं। रिक्त-छिद्रों के भरने पर जल ऊपर से नीचे की ओर पृथ्वी की आकर्षण शक्तिद्वारा स्वतन्त्र रूप से बहने लगता है। इसीलिए यह स्वतन्त्र या आकर्षक जल कहलाता है। इस जल की मात्रा जब कम होती है तो पौधे इसका कुछ मात्रा में उपयोग करते हैं किन्तु अधिक मात्रा हो जाने पर रिक्तछिद्र पानी से भर जाते हैं। ऐसा होने पर वायु का प्रवेश बिल्कुल बन्द हो जाता है और बैक्टीरिया अपना कार्य करना बन्द कर देती हैं। कभी-कभी पौधों की जड़ें सड़ने लगती हैं और वह मुरझा जाता है। अर्थात् भूमि में कृषि के आवश्यक सभी कार्य बन्द हो जाते हैं जिससे फसल को हानि पहुँचती है। अतः जल निकास द्वारा भूमि ठीक करना आवश्यक हो जाता है।

भूमि की नमी का विनष्टीकरण—भूमि की नमी चार प्रसाधनों से समाप्त होती रहती है—

(१) वाष्पीकृत होकर (Evaporation)
(२) भूमि में रिस-रिस कर (Percolation),
(३) पत्तियों की सतह से उड़कर (Transpiration), तथा
(४) ऊपरी धरातल से बहकर (Runoff Losses)।

वाष्पीभूत होकर भूमि की नमी का उड़ना—सूर्य की गर्मी से भूमि का पानी भाप में परिवर्तित होकर उड़ जाया करता है। पहले ऊपरी धरातल का जल उड़ना शुरू होता है और इसके उड़ जाने पर निचली तह का जल उड़ने लगता है। बरसात के दिनों में इस क्रिया से कोई हानि नहीं होती परन्तु सूखे मौसम में फसल को हानि होती है। गर्मी के दिनों में यह क्रिया जोरों से होती है और नमी शीघ्र ही समाप्त हो जाती है।

भूमि से रिसकर पानी का चला जाना—पानी का रिस कर भूमि की निचली तहों में चला जाना 'परकुलेशन' (Percolation) कहलाता है। इसमें, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, रासायनिक और स्वतन्त्र जल पौधे के काम का नहीं होता। ये जल लाभ की बदले हानि ही पहुँचाते हैं। परन्तु केशीय जल बहुत लाभदायक सिद्ध होता है। भूमि का बहुत जल बहकर निचली तहों में चला जाता है जो पौधों की पहुँच के बाहर रहता है। यह पानी कठोर तहों पर संचित रहता है और वहीं इधर से उधर बहा करता है। कुयें, सोते या झील इस पानी से बनते हैं जिन्हें सिंचाई में प्रयोग करते हैं। यह पानी बहुत कम मात्रा में उपभोग किया जाता है। इसका बहुत अंश व्यर्थ हो जाता है।

पानी का पत्तियों की धरातल से उड़ना—पौधे अपने आहार के साथ पानी भी अपने अन्दर लेते हैं परन्तु यह पानी उनकी पत्तियों द्वारा सूर्य की गर्मी में उड़ा दिया जाता है। पत्तियों द्वारा भूमि की नमी उड़ाने की यह क्रिया ट्रांसपिरेशन या उत्स्वेदन कहलाती है। यह क्रिया प्रत्येक प्रकार को हरी पत्ती या हरा तना करता है। जिस भूमि में अधिक पत्ती वाली फसलें हैं उसकी नमी कम नमी वाली फसलों की मृदा से शीघ्र उड़ेगी। यदि फसल के साथ खर-पतवार की भी मात्रा है तो ये आहार तो खायेंगे ही, नमी का एक अधिक परिमाण भी व्यय करेंगे। अतः इन खर-पतवारों को समूल नष्ट कर देना चाहिए। इस क्रिया के विषय में हम अगले अध्याय में विस्तार-पूर्वक अध्ययन करेंगे।

भूमि के पानी का बहकर निकल जाना—यह क्रिया बरसात के दिनों में अधिकाधिक रूप में होती है। इसमें पानी बह कर निकल जाता है। इस बहाव में पानी के साथ पौधों के अनेक आवश्यक तत्व घुल कर बह जाते हैं और मिट्टी भी कट-कट कर बह जाती है। इससे किसानों को बहुत हानि उठाना पड़ती है। ढालवें स्थानों पर यह क्रिया बड़ी तेज होती है। वहाँ की भूमि अधिक कट जाती है और पानी भी नहीं सोख सकती।

पानी के बहाव की रोक-थाम—पानी का इस प्रकार बह जाना कृषि के लिए श्रेयस्कर नहीं है। इसे रोकने के निम्नलिखित ढंग हैं:—

क. खेत की मेड़-बन्दी करने से,
ख. खेत की जुताई ढाल के उल्टा होने से,
ग. भूमि की जलधारण शक्ति बढ़ाने से,
घ. खेत को समतल बनाकर, तथा
ङ. फसल खड़ी होने से।

क. बरसात के दिनों में खेत के चारों ओर मेंड़ बना देना चाहिए ताकि अधिक पानी बरसने पर वह बह न सके बल्कि खेत में जमा रहे। यदि पानी धीरे-धीरे काफी देर तक बरसता है तो अधिक हानि होने की आशंका नहीं होती है।

ख. खेत की जुताई बरसात के दिनों में इस प्रकार करनी चाहिए कि हराई पानी के बहने की एक नली न बन जाय जैसा कि चित्र में है। हराई ठीक उल्टा होनी चाहिए ताकि पानी के बहने में रुकावट पैदा हो। यदि खेत का ढाल पश्चिम से पूरब को है तो जुताई इस दिशा में न कर उत्तर से दक्षिण को करनी चाहिए। जैसा निम्नांकित चित्र में प्रदर्शित किया गया है—
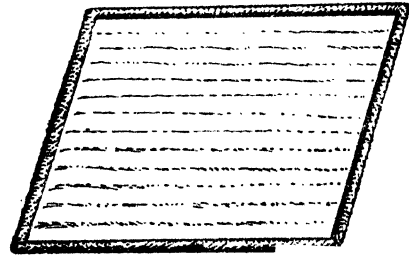
चित्र १६—मेड़ बन्दी

नं० १८ में पानी मिट्टी बहा ले जाता है पर नं० २० में हराई पानी के बाव के विरुद्ध है इसलिए पानी रुकता हुआ जाता है और मिट्टी नहीं बहने पाती।

चित्र १७--पानी के बहाव की ओर हराई
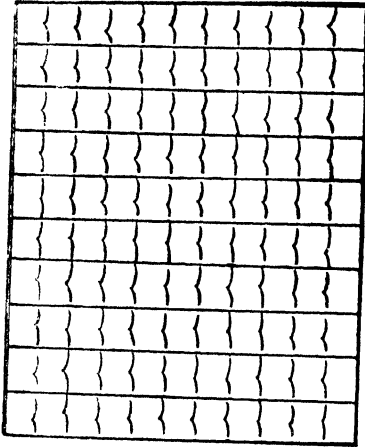
ग. जोवांश या खाद दे कर जब भूमि की जल-धारण शक्ति बढ़ा दी जाती है तो वह धरातल से अधिक पानी सोख सकती है। गर्मी की जुताई का इस पर अधिक प्रभाव पड़ता है। इससे भूमि पानी शीघ्र और अधिक परिमाण में ले लेती है।

घ खेत के ढालवे होने से पानी अधिक बहता है यदि एक बार परिश्रम करके खेत समतल बना दिया जाता है तो वह बहुत दिनों के लिए इस कठिनाई से छुटकारा पा सकता है क्योंकि खेत के समतल होने पर पानी खेत में टिकता है जिससे वह भूमि द्वारा सोख लिया जाता

ङ. खेत में फसल के होने चित्र से पानी के बहने में काफी असुविधा होती है और वह मिट्टी बहा ले जाने मे असमर्थ हो जाता है। यद्यपि इस पानी की रुकावट में विशेष सहायता नहीं मिलती तथापि कुछ तो रक्षा होती ही है।
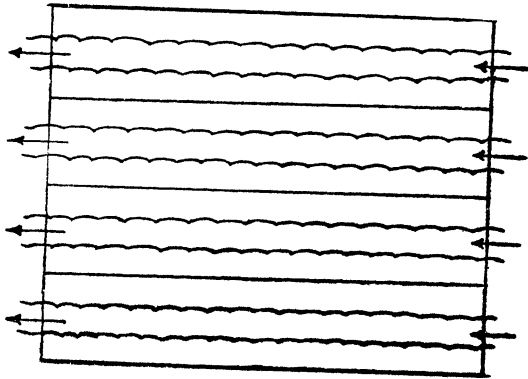
चित्र १८--पानी के बहाव के विरुद्ध हराई

मदा-क्षरण (Soil Erosion)

जल और वायु का कृषि में बड़ा महत्व है। कोई भी फसल बिना इसकी सहायता के नहीं ली जा सकती। किन्तु कभी-कभी जोरों की मूसलाधार वर्षा और प्रचंड वेग वाली आँधियाँ खेती को बहुत हानि पहुँचा देती हैं। गर्मियों में तीन महीने पछुआ हवा बहने से हमारे देश की लाखों मन भूमि उड़ा दी जाती है। बरसात में वर्षा की तीव्र धार से बहुत-सी उर्वर भूमि कट कर बह जाती है। प्रति वर्ष नदियों की बाढ में भूमि का बहुत बड़ा भाग कट कर मिल जाता है। और किसानों के काम का नहीं रहता। एक ही स्थान की उर्वर भूमि बराबर हवा द्वारा उड़ाने और पानी द्वारा बहने से थोड़े ही दिनों में अपना उपजाऊपन खो बैठती है। यह क्रिया प्रकृति में निरंतर चला करती है। इसे मृदा-क्षरण (Soil Erosion) कहते हैं। मृदा-क्षरण से पौधे के आवश्यक तत्व व्यर्थ ही में विनष्ट हो जाते हैं। अतः इसे रोकने के लिए काफी प्रयत्न करना चाहिए।

मृदा-क्षरण के कारण (Factors responsible for soil erosion)—भूमि के बहाव में प्रोत्साहन देने वाली कई बातें हैं जो निम्नलिखित हैं—

क. भूमि में वनस्पति की अनुपस्थिति,
ख. मानसून की मात्रा,
ग. भूमि की स्थिति,
घ. मृदा का ढाल, तथा
ङ. भूमि पर वायु की गति।

क. खेतों में फसल खड़ी होने पर भूमि-बहाव की क्रिया कम होती है। कारण, कि बूँदों की चोट भूमि पर न पहुँच कर पौधों पर ही रह जाती है। इससे मिट्टी के कण टूटने नहीं पाते। यदि टूट भी जाते हैं तो जल के साथ बह नहीं सकते हैं। फसलों के मौजूद रहने से भूमि की नमी बनी रहती हैं। इससे हवा की तेज गति का भी प्रभाव नहीं पड़ता। नंगी भूमि पर ठीक इसके विरुद्ध क्रिया होती है। वर्षा बिना रोक टोक भूमि पर गिरती है और भूमि कणों को तोड़ देती है। पानी की तेज धार उसे सरलतापूर्वक बहा ले जाती है। वायु की तेज गति भी खाली भूमि की उर्वर मिट्टी को उड़ा ले जाती है।

ख. जिस स्थान पर पानी जोरों से और अधिक मात्रा में बरसता है वहाँ मैदान क्षरण की क्रिया अधिक होती है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि दो-तीन मूसलाधार वर्षा ही साल भर की औसत वर्षा की मात्रा पूर्ण कर देती है। ऐसी दशा में अधिकांश मिट्टी बह जाती है। यदि वर्षा धीरे-धीरे और कम परिमाण में ही अधिक दिनों तक बरस कर अपनी औसत पूरा करती है तो इसमें मृदा क्षरण के कम अवसर रहते हैं

ग. यदि भूमि नदी के किनारे है तो इसका अधिक अंश कट कर बहेगा। ढीली और भुरभुरी भूमि का बहाव तेज होता है। तेज हवा बहने वाले स्थानों पर अधिक

मिट्टी उड़ जाती है। रेगिस्तानों जैसे राजपूताना में भयंकर आँधियों के आने से मिट्टी के बड़े-बड़े ठीले बन जाते हैं।

ध. ढालवीं भूमि पर वर्षा की कम मात्रा भी अधिक प्रभाव दिखलाती है और काफी भूमि बह कर निकल जाती है। समतल भूमि पर इसके अवसर कम होते हैं।

ङ. जिस स्थान पर तेज हवाएँ बराबर बहा करती हैं वहाँ मृदा-क्षरण अधिक होता है। वहाँ की उर्वर भूमि उड़कर दूसरे स्थान पर पहुँच जाती है जिससे खेतिहर कोई लाभ नहीं उठाता। रेगिस्तानों के समीप की उपजाऊ भूमि में बराबर बालू के कण आ-आकर भूमि को बेकार बना देते हैं। इसी गुण के कारण राजपूताने का मरुथल आज भी बढ़ रहा है।

मृदा क्षरण के विभेद—भूमि का वहाव दो प्रकार से होता है—

(१) वायु क्षरण (Wind eroion) तथा
(२) जल क्षरण (Water erosion)।

जल क्षरण तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

अ. शीट क्षरण (Sheet erosion)।
ब. रील क्षरण (Rill erosion) तथा
स. गली क्षरण (Gully erosion)।

वायु-क्षरण—परती भूमि या मरुस्थलों से हवा द्वारा हल्के-हल्के भूमि कण उड़ा लिये जाते हैं। तेज हवा या आँधियों के आने से तो बड़े-बड़े कण भी उड़ जाया करते हैं। किन्तु बड़े कण दूर तक नहीं ले जाये जा सकते। निकट ही गिर कर जमा हो जाते हैं। बारीक और हल्के कण अधिक मात्रा में दूर तक उड़ाये जा सकते हैं। गर्मी के दिनों में पछुआ हवा से पर्याप्त भूमि उड़ जाती है। गर्मी के दिनों में जोत कर छोड़ी गई मिट्टी अधिक मात्रा में उड़ती है। इस प्रकार की उड़ी हुई मिट्टी उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में अधिक पाई जाती है।

जल द्वारा भूमि क्षरण—(Soil erosion by the help of water)—भूमि का अधिक भाग पानी द्वारा कट-कट कर बहता रहता है। साधारणतः यह कटाव हमें जान नहीं पड़ता किन्तु नदी के किनारे तेज धारों से बन खोहों और गड्ढों से तो यह स्पष्ट हो जाता है। बाढ के धीरे-धीरे घटते समय भी मिट्टी की एक पतली तह सतह पर जमी मालूम पड़ती है। यह पर्त मृदा-क्षरण का प्रमाण है। पानी द्वारा भूमि का बहाव तीन प्रकार का होता है। पहला शीट इरोजन। यह बहाव धीरे-धीरे पर्त रूप में होता है। वर्षा का पानी मिट्टी के कणों को तोड़कर खेत की ऊपरी तह को बहा ले जाता है। यह बहाव कृषक को मालूम भी नहीं पड़ता किन्तु पौधों की आवश्यक वस्तुएँ, जो ऊपरी तह पर ही रहती हैं, घुल कर नष्ट हो जाती हैं। खाद और जीवांश बह जाते हैं। फल यह होता है कि उपज अच्छी नहीं होती और किसान को हानि उठानी पड़ती है। कृषकों के इस ओर अधिक सचेष्ट न होने से षतिवर्ष हजारों मन मिट्टी बह जाती है और फिर उपज को अच्छी बनाने के लिए खाद और आवश्यक तत्वों को भूमि में मिलाना पड़ता है।

दूसरे प्रकार का जल द्वारा क्षरण रील इरोजन कहलाता है। इसमें भूमि-बहाव तेज गति से होता है और मिट्टी खरोद कर निकल जाती है। पानी की तेज धार होने से मिट्टी की ऊपरी पर्त तो बह ही जाती है निचली तह में भी पतली-पतली नालियाँ बन जाती हैं।

तीसरे, पानी द्वारा भूमि बहाव **गली इरोजन** हैं जिसमें पानी की धार से बड़ी-बड़ी नालियाँ और खोहें बन जाती हैं। इसमें निचले धरातल की भी अधिक मिट्टी बह कर निकल जाती है। यह बहाव अधिकतर ढालवे स्थानों पर होता है। गली इरोजन से भूमि की अवस्था बड़ी शोचनीय हो जाती है और उस भूमि में खती करना कठिन हो जाता है। कारण, कि पानी अपने दोनों किनारों की मिट्टी को तोड़ता हुआ नाले और नदियों तक पहुँचा देता है। यह बहाव प्रायः परती या बंजर भूमि में होता है।

एक प्रकार का क्षरण नदियों, तालाबों या समुद्रों की लहरों द्वारा होता है। बड़ी-बड़ी नदियाँ तो हजारों एकड़ भूमि ही काट कर व्यर्थ कर देती हैं। समुद्र और तालाबों की लहरों से भी किनारे की कुछ मिट्टी बराबर कटा करती है।

मृदाक्षरण के विभेद (Factors affecting soil erosion)—भूमि के इस प्रकार बह जाने से कृषि को बहुत हानि होती है। अतः किसानों को निम्नांकित उपायों द्वारा भूमि का बहाव रोकना चाहिए :—

(१) **पौधे या वृक्ष लगाकर**—परती भूमि में जहाँ कोई फसल नहीं उगाई जा सकती, भूमि का बहाव अधिक होता है। इसे रोकने के लिए उस स्थान पर लम्बी जड़ वाले वृक्ष लगा देने चाहिए। वृक्षों से पानी की धार में रुकावट आती है। उनकी जड़ों द्वारा वहाँ की भूमि फँसी रहती है जिससे वह बहने नहीं पाती।

(२) **जंगल लगा कर**—जंगल भूमि बहाव में बहुत व्यवधान प्रस्तुत करते हैं। जिस स्थान के जंगल काट लिये जाते हैं वहाँ यह क्रिया अधिक रूप में होती हैं। इसे रोकने के लिए वनों का लगाना बहुत आवश्यक है। नदी के किनारे जहाँ यह क्रिया अधिक होती है, वन लगाना जरूरी होता है। सरकार का भी ध्यान इस ओर सक्रिय रूप में गया है और 'वन महोत्सव' को प्रधानता दी जा रही है। वन लगाने से भूमि का बहाव तो रुकता ही है, बहुमूल्य लकड़ी भी मिलती है।

(३) **चारागाह लगाकर**—जिस भूमि में मृदा-क्षरण के अधिक अवसर होते हैं वहाँ अधिक फैलने वाली घासें लगा देनी चाहिए। ऐसा करने से पानी और हवा दोनों भूमि-कणों को तोड़ सकने में मजबूर हो जायँगे।

(४) **चराई का उचित प्रबन्ध करना**—एक ही स्थान पर बराबर चराई करने से भी अधिक भूमि जानवरों के खुरों से कटती है। इससे हवा को उसे उड़ाने या पानी को बहाने में सरलता होती है। इसे ठीक करने के लिए एक ही चरागाह में जानवरों को अधिक देर तक नहीं रहने देना चाहिए। उन्हें एक चरागाह से दूसरे चरागाह थोड़े-थोड़े दिनों बाद ही ले जाते रहना चाहिए। ध्यान तो इस बात का रखना चाहिए कि जानवरों को चरागाहों पर अधिक रूप से निर्भर न रखा जाय। उनके भोजन का उत्तम प्रबन्ध घर पर ही हो, कभी-कभी चरागाहों में घुमा अवश्य देना चाहिए।

(५) **भूमि को समतल बनाना**—ढालवीं भूमि में मृदा-क्षरण-क्रिया अधिक होती है। इसे दूर करने के लिए भूमि का धरातल समतल बनाना चाहिए। यद्यपि समतल बनाने में व्यय अधिक होता है परन्तु भूमि का बहाव कुछ दिनों तक रुक जाता है।

(६) **भूमि में वनस्पति का होना**—खुली भूमि में मिट्टी का बहाव अधिक होता है। इसे रोकने के लिए बरसात में कभी भी खेत खाली नहीं छोड़ना चाहिए। यदि कोई फसल सम्भव न हो तो हरी खाद के लिए वनस्पतियाँ बो देनी चाहिए। इससे भूमि कटने और बहने से बच जाती हैं।

(७) **फसलों को कतार में न बोना**—भूमि का ढाल जिस दिशा में हो ठीक उसके विपरीत दिशा में फसल की कतार होनी चाहिए। लेकिन घनी फसलों
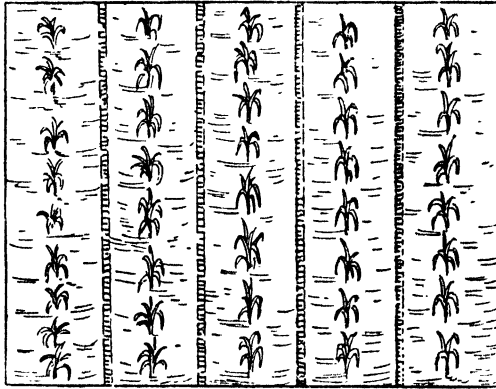
चित्र १९—ढाल के विरुद्ध फसल की कतार

को ढालवी भूमि में कतार में नहीं बोना चाहिए। यदि आवश्यक हो और ढाल पूरब से पश्चिम दिशा में हो तो फसल की कतार उत्तर-दक्षिण होनी चाहिए।

(८) कन्टूर विधि का प्रयोग करना—कन्टूर विधि द्वारा भूमि का कटाव बन्द किया जा सकता है।

(९) **टिरैसिंग विधि द्वारा**—(By Terracing)—ढालवीं भूमि का बहाव अधिक अंश में होता है। ऊँचाई पर जो पानी बरसता है वह नीचे की ओर बहुत तेजी के साथ चलता है। इस धार में बहुत-सी लाभदायक मिट्टी बह जाती है। इसे रोकने के लिए ढालों पर सीढ़ियाँ बनाई जाती हैं। इन सीढ़ियों का प्रयोग उन्हीं ढालों पर होता है जो १ मील में ५० फीट तक पहुँच जाते हैं। ढाल काट कर समतल, तथा बड़ी-बड़ी सीढ़ियाँ बनाई जाती हैं और उन पर खेती की जाती है।

इससे ऊँचाई से आने वाला पानी रुकता हुआ आता है और वह अधिक भूमि नहीं काटता। फसल को पानी की मात्रा भी अधिक रूप में प्राप्त होती है।

(१०) **भूमि में खाद की मात्रा बढ़ाकर**—बलुई और रेतीली भूमि में यह कटाव अधिक होता है क्योंकि इनमें भुरभुरापन अधिक होता है। इनके कण सरलता-पूर्वक अलग किये जा सकते हैं। खाद देने पर यह भूमि अधिक कड़ी हो जाती है। चिपकनाहट बढ़ जाने से साधारण वायु और पानी की गति का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता।
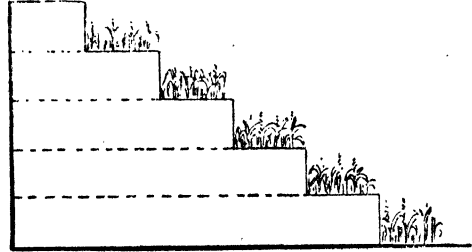
चित्र २०—टिरैसिंग विधि

(११) **खेत की मेंड़बन्दी करना**—जब खेत का ढाल १ मील में १० से १५ फीट तक हो तो वहाँ मेंड़ का प्रयोग किया जाता है। खेत के चारों ओर मजबूत मेंड़ होनी चाहिए। साधारणतः मेंड़ की गहराई ४ फीट, चौ० २ फीट और ऊँचाई २ फीट होनी चाहिए ताकि पानी का बहाव चारों ओर से हो सके। पानी निकलने के लिए नाली (Drain) का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए जिससे खेत का पानी बिना मिट्टी बहाये ही बाहर निकल जाय।

(१२) **बाँध बनाना** (Earth Bunds)—जिस स्थान पर शीट और गली-क्षरण के अधिक अवसर हों वहाँ लम्बे-चौड़े पक्के बाँध बनाने चाहिए। इससे पानी का बहाव बन्द हो जाता है। पानी के निकलने के लिए अच्छी मोरी का प्रबन्ध होना चाहिए। ऐसा करने से जिस स्थान की मिट्टी निकल कर बह गई होती है वह कुछ ही वर्षों के बाद भर जाती है और भूमि समतल हो जाती है। ऐसे बाँध ३० फीट से ३५ फीट प्रति मील के ढाल पर बनाये जाते हैं।

प्रश्न

१. मृदा में ऐन्द्रिक पदार्थ (जीवांश) कहाँ-कहाँ से आते हैं? मृदा पर इसके प्रभाव का विवेचन करो। (१९५०)

२. मृदा (भूमि) की गर्मी से तुम क्या समझते हो? किन कारणों का प्रभाव मृदा पर पड़ता है? (१९५०)

३. रिक्त छिद्र (Pore space) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो। (१९५०, १९५१)

४. नाइट्रोजन (Nitrogen cycle) से क्या समझते हो? उदाहरण देकर समझाओ। (१९५२)

५. खेत की मिट्टी की आत्मकहानी इस प्रकार लिखो कि यह प्रकट हो जाय कि अपनी वर्तमान अवस्था में कैसे आई। (१) ९५२

६. कम वर्षा वाले स्थानों में भूमि के अन्दर अधिक से अधिक पानी रोकने और कम से कम नमी भाप द्वारा उड़ने देने के लिए क्या-क्या प्रयत्न करेंगे ? और क्यों ? समर्थन में सम्बन्धित वैज्ञानिक नियमों का भी उल्लेख करो। (१९५२)

७. ऊसर भूमि या क्षारीय मृदा (Alkali Soil) का प्रमुख लक्षण क्या है ? इसे अन्न-उत्पादन के लिए कैसे उपयुक्त बनाया जा सकता है ? (१९५३)

८. मृदा-विन्यास (Soil texture) व केशाल जल (Capillary water) से क्या समझते हो ? (१९५३)

९. मृदा के लिए जीवांश पाने के क्या साधन हैं ? संक्षेप में वर्णन करो कि जीवांश पौधों के काम कैसे आता है ? (१९५३)

९. मृदा के लिए जीवांश पाने के क्या साधन हैं ? संक्षेप में वर्णन करो कि जीवांश पौधों के काम कैसे आता है ? (१९५३)

१०. विविध रीतियों का वर्णन करो जिनसे भूमि (मृदा) बनती है। (१९५४)

११. मृदा की नमी (आर्द्रता) के विविध रूपों को समझाओ। कौन से रूप में पौधे नमी ग्रहण करते हैं ? (१९५४)

१२. (क) नाइट्रोजन चक्र क्या है ?

(ख) वायु-मण्डल की नाइट्रोजन पौधों के लिए किस प्रकार ग्राह्य होती है ? (१९५४)

१३. संक्षिप्त टिप्पणी लिखो—

रक्ति-छिद्र, जीवांश, अविलगनीयजल, मृदा ताप। (१९५४)

१४. चट्टान किसे कहते हैं। इनका विभाजन कैसे किया जाता है ? समझाओ।

१५. उत्पत्ति के आधार पर मृदा का वर्गीकरण करो और कृषि में अल्यूवियल भूमि का स्थान निर्धारित करो।

१६. कणों के आधार पर भूमि के कितने भेद हो सकते हैं ? प्रत्येक को अच्छी तरह समझाओ।

१७. कृषि में मृदा-क्षरण और भूमि-बहाव का क्या महत्व है ? इन्हें रोकने के लिए कौन-कौन-सी विधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं ?

अध्याय ३

सिंचाई (IRRIGATION)

पौधों का जीवन एक मात्र पानी पर ही निर्भर करता है। पौधे के भीतर ८० से लेकर ९० प्रतिशत पानी का अंश रहता है। पौधा यह पानी अपनी जड़ों द्वारा भूमि से प्राप्त करता है। भूमि में पानी वर्षा द्वारा जाता है जो भूमि की भीतरी सतह में विभिन्न दशाओं में पाया जाता है। पौधों के लगातार पानी खर्च करने से भूमि का पानी भी कभी-कभी समाप्त हो जाता है। ऐसी दशा में पौधे अपनी आवश्यकतानुसार पानी न पाकर मुरझा जाते हैं और सूखना शुरू कर देते हैं। ऐसे स्थल पर यदि पौधों को बनावटी विधि से पानी नहीं दिया जाता है तो फसल हाथ से निकल जाती है। अतः किसी न किसी तरह से पौधों की आवश्यकता को पूरा किया जाता है। **कृत्रिम ढंग से फसलों को पानी देने की क्रिया सिंचाई कहलाती है।** सिंचाई का खेती-बारी में बड़ा महत्व है। जिस स्थान की कृषि एक मात्र प्रकृति पर आधारित होती है वहाँ की उपज का कोई निश्चय नहीं रहता। यदि समय पर वर्षा होती गई तब तो खेत में चार चाँद लग जाते हैं किन्तु पानी की असमय वृष्टि और अनावृष्टि खेती को चौपट ही कर देती है। अतः किसान प्रकृति पर ही न निर्भर होकर अपनी ओर से भी सचेष्ट होता है। जिस वर्ष पानी नहीं बरसा, वह चट अपने बनावटी ढंगों द्वारा पानी प्राप्त कर लेता है और फसल नष्ट होने से बचा लेता है।

सिंचाई का महत्व—हमारे देश में कुछ ऐसे भी स्थान हैं जहाँ पानी इतनी अधिक मात्रा में पड़ता है कि साल भर सिंचाई की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। परन्तु कुछ ऐसे भी स्थान हैं जहाँ बिना सिंचाई के एक भी फसल नहीं उगाई जा सकती। ऐसे स्थानों पर सिंचाई की अन्यान्य विधियाँ प्रयुक्त होती हैं। कुएँ, नहरों, तालाबों आदि से फसलों की सिंचाई करके उपज बढ़ाई जाती है। जहाँ सिंचाई की उत्तम व्यवस्था होती है वहाँ वर्ष भर फसलें ली जाती हैं। विभिन्न तरकारियाँ, चारे, फल-फूल आदि सरलतापूर्वक उगाये जाते हैं। इस प्रकार खेत कभी खाली नहीं रहता। एक न एक फसल बराबर खड़ी रहती है। हानिकारक कीड़ों की अभिवृद्धि नहीं होने पाती। वर्षा होने के पहले ही फसल बोकर समय के पहले ही काट ली जाती है जिससे बाजार में बहुत लाभ प्राप्त हो जाता है। इन फसलों में मक्का, ईख आदि सम्मिलित हैं। पशुओं के लिए लाभदायक चारे वर्ष भर उगाये जा सकते हैं। अनावृष्टि के समय सिंचाई के साधनों का महत्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि फसल की उपज सिंचाई पर ही निर्भर होती है। बनावटी ढंग से हम पानी की पूर्ति आवश्यकता भर ही कर सकते हैं। जिस फसल को जितनी जल की माँग होगी वह उतना ही पानी पावेगी परन्तु वृष्टि

में यह सुविधा नहीं होती। बरसात के दिनों में कभी-कभी अधिक पानी से किसी फसल को हानि हो जाती है और किसी को लाभ। उदाहरणतः अरहर और मूँग की फसलें अधिक पानी से विनष्ट हो जाती हैं जबकि ईख को जल्दी कोई हानि नहीं होती। सिंचाई से भूमि-बहाव (Soil erosion) और पानी के व्यर्थ बहने (Runoff losses) के अवसर ही नहीं आते या होते भी हैं तो बहुत कम।

पौधों की जल की आवश्यकता (Water requirement of crops)—पौधे अपना भोजन घोल के रूप में लेते हैं। भोजन के ठोस पदार्थ को पानी ही घुलाने की क्षमता रखता है। अतः पानी पौधों को भोजन प्रदान करता है। स्वयं पानी भी पौधों का एक भोजन है। भूमि का बहुत-सा पानी पौधे की पत्तियों से होकर उड़ा करता है। इससे भूमि में यदि अधिक नमी होती है तो वह धीरे-धीरे कम हो जाती है। पौधे का प्रत्येक भाग पानी से भरा रहता है। इससे धूप की तीक्ष्णता का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। यदि पौधे के किसी भाग से पानी निकाल दिया जाय तो वह अंश मुर्झा जावेगा और शीघ्र ही सूख भी जायगा। पानी में ऐसी शक्ति होती है कि वह पौधे में प्रवेशकर उसे ऊपर उठाये रहता है। पानी की कमी होने पर पौधा मुर्झा जाता है। पौधा जब तक खड़ा रहता है, पत्तियाँ सूर्य की गर्मी सरलता से पा जाती हैं और इसकी सहायता से अपना भोजन (Carbon assimilation) तैयार करती हैं। मुर्झाई अवस्था में यह क्रिया बन्द हो जाती है और पौधे सूख जाते हैं। जल की आवश्यकता सभी फसलों के लिए एक-सी नहीं होती। लम्बे तनों वाली फसलें अधिक पानी चाहती हैं परन्तु छोटी फसलें कम। इसके अतिरिक्त भूमि की बनावट, ऋतु की स्थिति, पौधे की पत्तियों के आकार आदि पर भी पानी की आवश्यकता निर्भर करती है। प्रत्येक पौधा एक निश्चित सीमा तक ही पानी चाहता है। उस सीमा से अधिक या कम पानी उसके हित में हानिकर होता है। पौधे जो पानी अपने अन्दर लेते हैं उसे अपनी पत्तियों द्वारा धीरे-धीरे उड़ा देते हैं। प्रत्येक हरी पत्ती में छोटे-छोटे छिद्र होते हैं। इन्हें Stomata कहते हैं। ये पत्ती के निचले सतह की ओर होते हैं जिनसे पानी गर्मी पाकर उड़ जाता है। यह क्रिया उत्स्वेदन (Transpiration) कहलाती है। इस क्रिया द्वारा पौधा, जितना पानी चाहता है, उड़ा देता हैं। अतः किसी पौधे की जल की आवश्यकता ज्ञात करने के लिए यह जानना पड़ेगा कि यह पौधा उत्स्वेदन द्वारा कितना पानी उड़ाता है। इससे यह भी जाना जा सकता है कि एक पौंड सूखा गेहूँ पैदा करने के लिए कितने पानी की आवश्यकता पड़ती है। इस बात के जानने की विधि को वाष्पयन अनुपात या उत्स्वेदन अनुपात (Transpiration ratio) कहते हैं। कोई फसल कितना पानी चाहती है, यह उसके ट्रांसपिरेशन रेशियो द्वारा जाना जा सकता है। सूखा पदार्थ पौधे का वह अंश है जो अपने में अन्न और भूसे दोनों की मात्रा रखता है और २१२° फा० पर पानी रहित होकर बच रहता है। यदि कहा जाय कि गेहूँ का ट्रांसपिरेशन रेशियो ८०० है तो इसका अर्थ है कि सूखे गेहूँ की १ मन मात्रा तैयार करने में, जिसमें अन्न और भूसे दोनों हैं, ८०० मन पानी की आवश्यकता होगी। फसलों के इस अनुपात पर जलवायु तथा मिट्टी की स्थिति का

बहुत-प्रभाव पड़ता है। स्थान-स्थान पर इसमें विभिन्नता भी आ सकतीहै। यहाँ हम कुछ फसलों के ट्रांसपिरेशन रेशियो का उल्लेख करेंगे जिससे उनकी जल की आवश्यकता का ज्ञान हो सकेगा। यह अनुपात भूमि की उर्वरता पर भी निर्भर करता है। खाद दी हुई भूमि का पौधा, बिना खाद वाली भूमि की फसल से कम पानी चाहता है।

यह सारिणी किसानों के ज्ञान में आने पर बहुत लाभदायक सिद्ध होगी। उत्स्वेदन अनुपात का अध्ययन कर लेने के पश्चात अब हम पत्तियों द्वारा उड़ाये गये पानी के विषय पर विचार करेंगे। पत्तियों की सतह से पानी उड़ने की क्रिया कई बातों से प्रभावित होती है—

	उत्स्वेदन अनुपात	
फसलें	खाद रहित भूमि में	खाद वाली भूमि में
गेहूँ	८००	४५०—५२०
जौ	८००	४५०—५२०
जई	८७०	५००—५५०
चना	१२६०	६००—६६०
अलसी	१०००—१०९४	६००—६३०
सरसों	८००	४५०—५२०
धान	१०००	८००
मक्का	४५०—५००	३००—३३०
अरहर	१०००	६००

ट्रांसपिरेशन की क्रिया को प्रभावित करने वाली बातें——पत्तियाँ अपने धरातल से किसी दिन कम और किसी दिन अधिक पानी उड़ाती हैं। निम्नांकित बातें इस क्रिया पर प्रभाव दिखाती हैं :——

(१) पत्तियों का आकार,
(२) भूमि में नमी का परिमाण,
(३) धूप की तीव्रता,
(४) वायुमण्डल का तापक्रम
(५) वायुमण्डल में नमी की मात्रा, तथा
(६) हवा की गति और सूखापन।

पत्तियों का आकार—पत्तियाँ अपने आकार के अनुसार ही पानी उड़ाती हैं। जिस पत्ती का आकार बड़ा होगा वह अधिक पानी उड़ायेगी परन्तु जो छोटी और कम लम्बी-चौड़ी होगी उससे कम पानी उड़ेगा। प्रकृति ने चौड़े आकार की पत्तियों वाले पौधों को उन्हीं स्थानों पर उगाया है जहाँ वे अधिकता से पानी पा सकें। पानी वाले पौधों की पत्तियाँ बड़े-चौड़े आकार की होती हैं। रेगिस्तानों या ऐसे स्थानों पर जहाँ पौधे पानी कम मात्रा में प्राप्त कर सकते हैं, छोटे आकार वाली पत्तियाँ या काँटेदार पत्तियाँ निकलती हैं जिससे उनकी धरातल से कम पानी उड़ाया जा सके। बबूल, करौंदा आदि पेड़ और विभिन्न प्रकार की झाड़ियाँ ऐसे ही स्थानों पर पाई जाती हैं।

भूमि में नमी का परिमाण—अधिक नम या पानी वाली भूमि में उगने वाले पौधे पत्तियों द्वारा अधिक पानी उड़ाते हैं क्योंकि पानी की अधिक मात्रा उन्हें उपलब्ध होती है। किन्तु नमी कम होने पर पौधे अधिक पानी उड़ाने में असमर्थ हो जाते हैं।

धूप की तीव्रता—जिस दिन सूर्य की गर्मी अधिक होगी, उस दिन पानी के उड़ने की क्रिया अधिक होगी। प्रातःकाल जब सूर्योदय हो रहा हो या जब सूर्य अभी नीचे हो, यह क्रिया धीरे-धीरे होगी परन्तु ज्यों-ज्यों सूर्य ऊपर चढ़ता जायगा, क्रिया तीव्र गति से होती जायगी। फिर सूर्य के ढलने से क्रिया में मन्थरता आ जायगी और सूर्यास्त होने पर बन्द हो जायगी। रात के समय यह क्रिया लगभग बिल्कुल नहीं होती।

वायुमंडल का तापक्रम—जिस दिन वायुमण्डल का तापक्रम अधिक होगा उस दिन पत्तियों के भाप उड़ाने की क्रिया अधिक होगी।

वायुमंडल में नमी की मात्रा—आकाश में जिस दिन बदली होगी उस दिन वायुमण्डल में नमी पर्याप्त होगी। यदि धीमी-धीमी बूँदें भी पड़ती हैं तब तो नमी और भी बढ़ जायगी। ऐसे दिन ट्रांसपिरेशन की क्रिया बिल्कुल ही कम होगी।

हवा की गति और सूखापन—हवा की गति पर भी पत्तियों की भाप उड़ाने की क्रिया निर्भर करती है। जिस दिन हवाएँ तेज चलती हों और उनमें शुष्कता भी पर्याप्त हो तो इस क्रिया में अभिवृद्धि होगी। हवा के तेज होने और नमी के मौजूद होने से क्रिया में शिथिलता आ जाती है। गर्मी के दिनों में लू चलने से ट्रांसपिरेशन की क्रिया अधिक होती है।

पत्तियों के धरातल से पानी उड़ने की क्रिया पौधे के जीवन भर चलती रहती है। एक समय ऐसा भी आता है जबकि पौधे के फल पकने लगते हैं और भूमि में पानी की मात्रा भी कम हो जाती है तो पत्तियाँ और तने धीरे-धीरे हरे रंग से पीले होने लगते हैं और पानी उड़ने की यह क्रिया मन्द होने लगती है। फिर एक समय ऐसा भी आता है जब यह क्रिया पूर्णरूपेण बन्द हो जाती है और तब फसलों की कटाई शुरू हो जाती है। पौधों के जीवन में कभी-कभी ऐसे स्थल भी आते हैं जबकि भूमि की नमी समाप्त हो जाती है।

शुष्कांक या म्लान बिन्दु (Wilting point)—भूमि की नमी के समाप्त होने पर पौधों को जल की कमी अनुभव होती है। जल की कमी होने से पत्तियों की

भाप उड़ाने की क्रिया बन्द होने लगती है। उत्स्वेदन की क्रिया में पत्तियों की कोशायें (cells) अधिक काम करती हैं और पानी लेकर फूली रहती हैं। इसी अवस्था में ये भोजन बनाने का कार्य भी करती रहती हैं। किन्तु पानी के अभाव से ये संकुचित होने लगती हैं और पौधों के भोजन बनने की क्रिया बन्द होने लगती है। ऐसा होने पर पौधे मुर्झाने लगते हैं और फिर सूख कर अपना जीवन ही समाप्त कर देते हैं। **पौधों को मुर्झाने की इस अवस्था को शुष्कांक** कहते हैं। विभिन्न पौधों में पानी की कमी सहन करने की शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। कुछ पौधे पानी की कमी देख अपने को भी परिवर्तित कर लेते हैं ताकि जीवित रह सकें। कुछ थोड़ा जल ही ग्रहण करके अपनी आवश्यकता पूर्ण करने लगते हैं। पौधों के शुष्कांक पर पहुँच जाने पर फसल की सिंचाई अत्यावश्यक हो जाती है। ऐसे अवसर पर यदि प्रकृति से पानी मिल जाता है तो अधिक अच्छा है किन्तु न मिलने पर सिंचाई कर पौधों को जल प्रदान करना चाहिए। ऐसे स्थल पर किसान की थोड़ी-सी चूक भी अधिक हानि करा सकती है।

सिंचाई के साधन—प्रकृति में पानी अधिक मात्रा में पाया जाता है जिससे पौधों की जल की कमी पूरी की जा सके। वर्षा का पानी नदी, तालाबों, समुद्रों और भूमि में चला जाता है। कृषक समुद्र को छोड़कर अन्य सभी साधन सिंचाई में प्रयोग करता है। भूमि के धरातल पर उपस्थित जल प्राप्त करने में अधिक सरलता होती है परन्तु जिन स्थानों पर इनका अभाव रहता है या इनका जल सूख जाता है, वहाँ भूमि के अन्दर का पानी प्रयोग में लाया जाता है। इसके लिए भूमि की पर्तें तोड़ कर भूमि-जल निकाला जाता है और अनेक विधियों द्वारा सिंचाई के काम में लाया जाता है। सिंचाई के मुख्य साधन कुएँ, नहरें, तालाब, पोखरे, सोते, झील, नदी और नाले हैं। फसलों को प्राकृतिक साधनों द्वारा भी जल प्राप्त होता है। यह जल फसल की आवश्यकता और अनावश्यकता नहीं पहचानता अपितु कम और अधिक पानी दे देता है। वर्षा, ओस, कुहरा आदि, इसके साधन हैं। इनसे पौधा पानी तो अवश्य पा लेता है किन्तु इन्हें सिंचाई का साधन नहीं कहा जा सकता।

हमारे देश में कुएँ से सिंचाई करने की रीति बहुत प्राचीन है। सारे देश म खेती की भूमि का लगभग $\frac{१}{४}$ भाग कुएँ द्वारा सींचा जाता है। कुएँ का पानी गहराई से उठाया जाता है। इसीलिए इसमें अधिक परिश्रम लगाना पड़ता है। बनावट के विचार से ये कुएँ तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) कच्चा कुआँ,
(२) पक्का कुआँ, तथा
(३) ट्यूब वेल।

किन्तु पानी के आधार पर कुओं के निम्नांकित विभाजन किये जाते हैं :—

(१) रिसने वाला कुआँ (Percolation well)
(२) पाताल तोड़ कुआँ (Spring or Artesian well)

कच्चा कुआँ—ये कुएँ उन स्थानों पर बनाये जाते हैं जहाँ पक्के कुएँ का अभाव-

सा रहता है और जहाँ कम गहराई पर ही पानी निकल जाता है। इस प्रकार के कुएँ कम ही खर्च में तैयार हो जाते हैं। और यदि नीचे काली या चिकनी मिट्टी पड़ गई तो ये जल्दी गिरते भी नहीं। इन कुओं की सतह मिट्टी की ही होती है इनमें ईंट नहीं लगाई जाती और न सीमेंट या कंकरीट का ही अंश होता है। अधिक आवश्यकता पड़ने पर पेंदे ईंटों से पोख्ता कर दिये जाते हैं। ये कुएँ रिस-रिसकर ही पानी से भरते हैं। इनमें चर्सा, रहट, इजिपियन स्क्रू आदि यंत्र नहीं लगाये जा सकते। बहुधा ढेंकुल का प्रयोग इनमें किया जाता है क्योंकि इनमें पानी की मात्रा अधिक नहीं होती और मजबूत न होने से इनके गिरने का भी भय रहता है। कृषक एसे कुएँ खेत के एक कोने में बना लेते हैं और फसल की सिंचाई के बाद इन्हें मिट्टी से ढक देते हैं। जो कुएँ बालू की सतह पर खड़े रहते हैं वे अधिक दिनों तक नहीं रुक पाते किन्तु पीली, चिकनी या कंकरीली भूमि पर ये कई वर्ष तक रुके रहते हैं। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में ऐसे कुएँ अधिक संख्या में पाये जाते हैं। कारण, कि कम परिश्रम और कम खर्च में ये तैयार हो जाते हैं। किन्तु उन स्थानों पर जहाँ पानी गहराई पर मिलता है, कच्चे कुओं की कमी रहती है। खेत के निकट होने पर कच्चे कुओं से अधिक सिंचाई होती है परन्तु दूर रहने पर बहुत ही कम भूमि में पानी दिया जा सकता है।

पक्का कुआँ—कच्चा कुआँ जब और गहराई तक खोदा जाता है और उसकी दीवारें पक्की कर दी जाती हैं तो वही पक्का कुआँ कहा जाने लगता है। मिट्टी की अनेक सतहें पार कर कुएँ को चिकनी मिट्टी की तह पर पहुँचाया जाता है। कारण कि अधिक परिश्रम और धन लगने से इसकी मजबूती पर विशेष ध्यान रखा जाता है। बालू की सतह पर छोड़ देन से कुएँ के गिरने की आशंका रहती है। कभी-कभी कुएँ गिर जाते हैं जिससे अधिक हानि उठानी पड़ती है। पक्के कुएँ कच्चे कुएँ की अपेक्षा अधिक दिनों तक स्थिर रहते हैं और अधिक पानी भी देते हैं। कोई-कोई पक्के कुएँ गर्मी के दिनों में सूख जाते हैं क्योंकि उनमें पानी चारों ओर से रिस-रिस कर ही आता है परन्तु कुछ कुएँ ऐसे होते हैं जिनमें पाताल तोड़ पानी आ जाता है, वे जल्दी नहीं सूखते। कुएँ की दीवालें ईंटों, पत्थरों और सीमेन्ट आदि से पक्की बनाई जाती हैं जिससे कुआँ सुदृढ़ बन जाय। दीवालों को पक्का करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि टेढ़ी न हो जायँ क्योंकि ऐसा न होने पर दीवालें बहुत भद्दी जँचती हैं और रहट या चर्सा से पानी निकालने में भी कठिनाई उठानी पड़ती है। इन कुओं में रहट, चर्सा, चर्खी, ढेंकुल आदि सिंचाई की रीति लागू हो सकती है। पक्के कुओं में जो खर्च लगता है वह एक ही बार लगता है, बार-बर नहीं लगता। ये कुएँ ५०-६० फीट गहरे और ८-१२ फी० चौड़े होते हैं।

ट्यूब वेल—ये कुएँ प्रत्येक स्थान पर नहीं बनाये जा सकते क्योंकि इनमें से पानी विद्युत्-शक्ति द्वारा खींचा जाता है। बिजली द्वारा खींचने से अधिक पानी कम ही समय में अधिक गहराई से निकाला जाता है। जिस स्थान पर भूमि में पानी के सोते होते हैं वहीं ट्यूब वेल चल सकते हैं। पानी की कमी से इनका चलना असम्भव है। छोटे-मोटे कुएँ का पानी तो यह शीघ्र ही खींच लेता है। ट्यूब वेल लगाने के

पहले उस स्थान की भूमि का ज्ञान कर लिया जाता है। बोरिंग द्वारा मिट्टी की नर्म और कड़ी तहें मालूम हो जाती हैं। साथ ही यह भी ज्ञात हो जाता है कि पानी कितनी दूरी पर और कितना है? यदि कम है तो क्या निचली सतहों में पानी अधिक मात्रा में मिल सकता है? जब इन बातों का परिज्ञान हो जाता है तभी ट्यूब वेल बनाते हैं। ट्यूब वेल कई प्रकार के होते हैं :—

क. कुएँ के आकार में (Driven well),
ख. छेद के आकार में (Bored well), तथा
ग. निचली सतह से तीव्र धार देने वाले (Jet well)।

उत्तर प्रदेश में ऐसे कुओं की संख्या बहुत है और बढ़ती जा रही है। ये ३०० फी० की गहराई तक भी बनाये गये हैं जिनमें ८० फीट पानी नल के ऊपर रहता है। ये नल स्वयं एक कुएँ का कार्य करते हैं और ६० फी० से ५०० फीट तक गलाये गये रहते हैं। नलों के गलाने में एक बात का ध्यान रखना पड़ता है कि भूमि का बालू नल को भर न दे। इसलिए पहले यह पता लगाते हैं कि बालू कहाँ-कहाँ है। फिर जहाँ बालू होता है वहाँ नल में जाली लगा देते हैं ताकि भूमि का पानी ही नल में प्रवेश कर सके, बालू नहीं। इस प्रकार सादे और जालीदार नल भूमि में लगाते जाते हैं जब तक कि यह पता न लग जाय कि अब पानी ट्यूब वेल के लिए पर्याप्त होगा। छोटे कुएँ में जब ये लगाये जाते हैं तो पानी शीघ्र ही चटक जाता है। इसलिये इनमें नल गला कर काम लिया जा सकता है। जब नल लग जाता है तो इसे विद्युत् शक्ति, भाप अथवा तेल की मशीन द्वारा संचालित करते हैं। ट्यूब नल प्रति घंटा लगभग ३०,००० गैलन पानी निकालता है और इससे प्रतिदिन साधारणतया ३ या ४ एकड़ भूमि सींची जा सकती है। इस प्रकार एक ट्यूब वेल ५०० एकड़ भूमि की सिंचाई कर सकता है। हमारी कांग्रेस सरकार ने प्रत्येक गाँव में कम से कम एक ट्यूब वेल लगवाने की योजना बनाई है और यह कार्य तीव्र गति से चल भी रहा है। एक ऐसे कुएँ के बनवाने में १५ से २० हजार का खर्च है किन्तु बन जाने पर लाभ भी खूब होता है।

रिसने वाला कुआँ—इस प्रकार कुँओं में पानी बहुत कम परिमाण में होता है और ये अधिकतर गर्मी के दिनों में सूख जाया करते हैं। जब कुएँ की खुदाई होने लगती है तो पहले सूखी मिट्टी की तह मिलती है फिर गीली तह और बाद में पानी मिलता है। यह पानी उस वर्षा का जल है जो गत एक या दो बरसात से भूमि में संचित रहता है। यह पानी रिसरिस कर कुएँ में आता है और इकट्ठा हो जाता है। इसे चुआन का जल भी कहते हैं। कभी-कभी ये कुएँ पास के तालाब या नदी से भीतर ही भीतर पानी खींचते हैं और अपनी सतह उनके सतह के समान बनाये रखते हैं और जब ये नदी या तालाब सूखने लगते हैं तो इनका पानी भी घटने लगता है। ऐसे कुएँ बहुत पाये जाते हैं। इनमें ढेकली, चर्सा, रहट आदि दिन भर चल जाते हैं परन्तु गर्मियों में ये सूख जाते हैं।

पाताल तोड़ कुआँ—जब कुएँ की खुदाई चिकनी या मोटी तह तक पहुँच जाती है तो बालू की तह मिलती है। इसी तह से कभी-कभी जोरों का पानी फूट पड़ता है और इतना अधिक पानी देता है कि पृथ्वी के धरातल तक पहुँच जाता है। यह सोते का जल होता है जो पानी के बराबर रिसने पर पृथ्वी की निचली तहों में
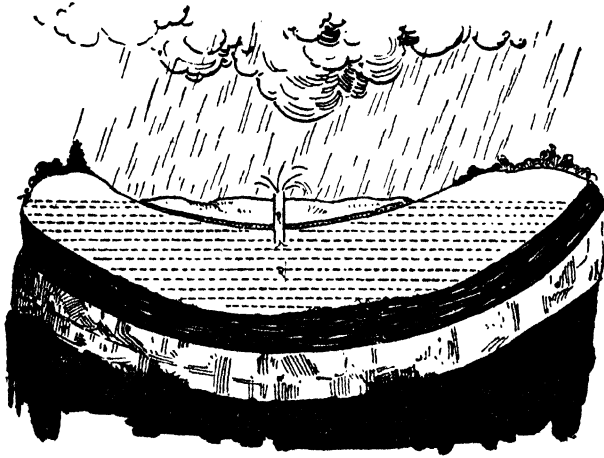
चित्र २१—पाताल तोड़ कुआँ

चला जाया करता है। इन कुओं का जल कभी समाप्त नहीं होता और ये कृषि के लिये बहुत लाभदायक होते हैं। ऊपर के चित्र में पाताल तोड़ कुआँ है जो सतह से निकलता है। यह सतह पानी से भरी रहती है।

नहरें—(Canals)—हमारे देश में नहरों की प्रथा पुरानी है। प्राचीनकाल की बनी नहरें आज भी यमुना के पश्चिमी और पूर्वी भाग में हैं जिनसे कई एकड़ भूमि सींची जाती है। इधर कुछ ही वर्षों से हमारे देश में इतनी अधिक नहरें निकाली गई हैं कि सारे देश में नहरों का जाल-सा बिछ गया है। अभी इतना ही नहीं, सरकार की योजनाओं में अन्य कई नहरों के निर्माण की योजना है। उत्तर प्रदेश में गभगभ ३७,८६,००० एकड़ भूमि की सिंचाई नहरों द्वारा होती है। यहाँ की मुख्य नहरें निम्नलिखित हैं—इन्हें चित्र में देखने से और स्पष्ट हो जायगा।

(१) शारदा नहर,
(२) गंगा की बड़ी नहर
(३) गंगा की छोटी नहर,
(४) यमुना की पूर्वी नहर,
(५) घाघरा की नहर,

(६) उकेन नहर,
(७) घग्घर नहर, तथा
(८) पहुँच नहर

चित्र २२—उत्तर प्रदेश की नहरें

इन नहरों में कुछ ऐसी हैं जिनके द्वारा उनका व्यय निकल आता है और कुछ आय भी हो जाती है परन्तु कुछ ऐसी नहरें हैं जिनका खर्च अपने से नहीं चलता अपितु सरकार को लगाना पड़ता है। किसानों को इससे बहुत अधिक लाभ हुआ है। सिंचाई आसानी से कम समय और कम पैसे में हो हो जाती है। उपज की मात्रा भी बढ़ जाती है और दुर्भिक्ष का कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता। मन चाही फसलें तैयार की जा सकती हैं। इन लाभों के अतिरिक्त नहरों द्वारा सिंचाई करने पर बहुत-सी हानि भी उठानी पड़ती है। पानी की सुविधा से किसान अधिक पानी खेत में ले लेता है जो लाभप्रद न होकर हानि कर जाता है। अनेक प्रकार के हानिकारक लवण पानी के साथ खेत

में पहुँच जाते हैं जो भूमि को कुछ दिनों के पश्चात् ऊसर बना देते हैं। इसके अतिरिक्त नहर के पानी के साथ कभी-कभी पतवार या जंगली घास के बीज बह कर चले जाते हैं जिनसे खेत उन्हीं से भर जाता है और उपज ठीक नहीं हो पाती।

भारतवर्ष के अन्य नहरी प्रदेश पंजाब, मद्रास, बम्बई, उड़ीसा और बंगाल जहाँ बहुत-सी नहरें निकाली गई हैं और निकालने की योजना भी हैं। बंगाल में दामोदर और दक्षिण भारत की महानदी, पैरियार, गोदावरी और कावेरी नदियों से बहुत-सी नहरें निकाली गई हैं। इन नहरों से सिंचाई करने के दो ढंग होते हैं :—

(१) नहरों से नालियों द्वारा पानी खेत में पहुँचाना, तथा

(२) बेड़ी या अन्य साधनों से नहर का पानी खेत में ले जाना।

जब नहर के पानी की सतह खेत की सतह से ऊँची होती है तो पहला ढंग प्रयुक्त होता है। नहर की शाखा पतली-पतली नलियों द्वारा सम्बन्धित रहती हैं और नालियों से कुलाबों द्वारा पानी खेत तक पहुँचता है। नहर के पानी की धरातल खेत की धरातल से नीची होने पर पानी चढ़ता नहीं। अतः कृषक को अन्य साधनों द्वारा पानी को खेत तक चढ़ाना पड़ता है। इससे उन्हें कुछ असुविधाएँ उठानी पड़ती हैं। नहरें दो प्रकार की होती है :—

(१) वर्ष भर बहने वाली, तथा

(२) कुछ दिन बहने वाली

वर्ष भर बहने वाली नहरों से खेती को अधिक लाभ होता है। कुछ नहरें ऐसी भी होती हैं जिनका उपयोग कुछ ही दिनों किया जाता है। इनके द्वारा नदियों की बाढ़ कम की जाती है। बाढ़ आने पर इन नहरों को खोल दिया जाता है और पानी नहरों द्वारा दूर चला जाता है। इस प्रकार बाढ़ का प्रभाव कम हो जाता है।

ताल-पोखरे—ताल-पोखरे सिंचाई के अच्छे साधन हैं। तालों का आकार बड़ा, लम्बा और छिछला होता है। ये बरसात में पानी से भर जाते हैं और अक्टूबर-दिसम्बर तक सूख भी जाते हैं। इनके पानी से खरीफ की पानी चाहने वाली फसलों या रबी की फसलों की सिंचाई या पलेवा कर दिया जाता है। फिर इन्हें जोत कर रबी की फसल बो दी जाती है। इस प्रकार ये तालाब सिंचाई और खेत दोनों काम में आते हैं।

पोखरे गहरे होते हैं। इनमें वर्षा का पानी जमा होता है जो सिंचाई के काम आता है। इनमें पानी आने के रास्ते बने होते हैं जिनके खोलने पर ये बरसात में पानी लेते हैं। भर जाने पर इन्हें बन्द कर दिया जाता है और फसल की सिंचाई के समय खोलकर आवश्यकतानुसार पानी लिया जाता है। हमारे देश में ऐसे ताल-तलयों की संख्या अधिक है जो अधिक दिनों से काम लेते-लेते आधे से अधिक भर गये हैं। यदि उनकी मिट्टी निकाल कर उन्हें गहरा बना दिया जाय तो उनमें अधिक पानी संचित हो सकता है और उनसे निकाली गई मिट्टी खेतों में खाद का काम कर सकती है। हमारी सरकार का ध्यान इस ओर भी गया है। वह इन्हें अधिक परिमाण में गहरा करवाने की बात सोच रही है।

सोते और झील—सिचाई के साधन सोते और झील भी हैं जिनमें पानी की अधिक मात्रा एकत्रित रहती है।

बाँध तथा नदी-नाले—नदियों आदि में बड़े-बड़े बाँध बाँधकर पानी रोक कर सिंचाई की जाती है। नदी नालों से, जिनमें पानी मौजूद रहता है सिंचाई की जाती है। किन्तु गंगा, यमुना, घाघरा आदि बड़ी नदियों से इस विधि से सिंचाई नहीं की जाती। इनसे सम्बन्धित नाले और छोटी-छोटी नदियाँ ही इस काम में आती हैं।

सिंचाई की विधियाँ—सिंचाई के अन्यान्य साधनों से खेतों में पानी लाने अर्थात् सिंचाई करने की अनेक विधियाँ हैं। इनमें निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं—

(१) धरातलीय सिंचाई (Surface Irrigation) और (२) पानी उठाकर (Lift Irrigation)। फिर निम्नांकित विभाजन है—

(१) सतह बराबर सिंचाई (Flood system),
(२) बहाव की रीति (Flow system),
(३) छिड़काव की रीति (Sprinkle system), तथा
(४) कूँड़ों की रीति (Furrow system)

सतह या धरातलीय सिंचाई—इस विधि में पानी धरातल पर मौजूद रहता है। नहर या बाँधों द्वारा पानी खेत में आता है। बाँध या नहर खोलने मात्र से ही खेत में पानी आने लगता है। इसमें किसानों को अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती।

पानी उठाने वाली विधि—इसमें अनेक यंत्रों की सहायता से भूमि के निचली सतह से पानी उठाना पड़ता है और खेत की सतह पर पहुँचाया जाता है। नदी, नाले, झील, तालाब, कुएँ आदि साधनों द्वारा पानी को उठाना पड़ता है। इसमें प्राय: कुओं का ही प्रयोग किया जाता है क्योंकि अन्य साधन प्रत्येक स्थान पर प्राप्य नहीं है। इन साधनों से पानी उठाने वाले विविध यंत्रों के उल्लेख करने के पहले हमें खेत में सिंचाई की जाने वाली विधियों का परिज्ञान जरूरी है जिनसे पौधे जल प्राप्त करते हैं।

सतह बराबर सिंचाई—यह विधि उसी स्थान पर प्रयोग की जाती है जहाँ पानी की बहुत सुविधा रहती है और पानी सतह पर ही होता है। जब फसल के बड़े क्षेत्र को सींचना होता है तो इस विधि का आश्रय लिया जाता है।

नहरी क्षेत्र में या ट्यूब वेल वाले स्थान पर ही ऐसा किया जाता है। इस विधि में दो प्रकार से सिंचाई होती है।

(अ) बरहे-क्यारियों में, तथा
(आ) बिना क्यारियों के।

गेहूँ आदि फसलों की पहली सिंचाई करते समय क्यारियाँ बना ली जाती और नहर से नालियों द्वारा पानी ले जाया जाता है। क्यारियों से पानी उचित रूप में पहुँचाया जाता है। इससे किसी स्थान पर अधिक और किसी स्थान पर कम पानी नहीं दिया जाता। इस विधि में ऐसा होता है कि कृषक पानी की अधिक मात्रा

ले लेते हैं और खेत, मेंड़ बराबर लबालब भर देते हैं। इससे कभी-कभी अधिक हानि उठानी पड़ जाती है। यह विधि बहुत कम प्रयोग की जाती है।

धान की फसल में अधिकतर यह ढंग प्रयोग किया जाता है। धान की फसलें अधिक पानी चाहती हैं। वर्षा के अभाव में उन्हें सिचाई द्वारा ही पानी दिया जाता है। सिंचाई में इसी विधि का प्रयोग होता है। नहरें खोल दी जाती हैं और खेत मेड़ों तक पानी से भर लिये जाते हैं। ट्यूब वेल से भी यह विधि काम में लाई जाती है। इसके लिए खेत का समतल होना अधिक अच्छा होता है क्योंकि अधिक पानी कहीं इकटठा होकर पौधों को चौपट न कर दे।

बहाव की रीति—नहरी क्षेत्रों में यह रीति अधिक उपयुक्त होती है। इसमें नहर की धरातल ऐसी होनी चाहिए कि पानी खेत की ओर आसानी से दौड़ सके। जब खेत में सिंचाई करनी होती है तो खेत में बरहे और क्यारियाँ बना लेते हैं। इस रीति का प्रयोग कुओं, तालाबों आदि से भी सिंचाई करने में होता है। बरहे और क्यारियों के बना लेने से कई लाभ होते हैं :—

(१) पौधों को आवश्यकतानुसार पानी मिल जाता है,
(२) सभी स्थान पर समान पानी मिलता है, तथा
(३) पानी व्यर्थ नहीं जाने पाता।

बरहे बनाने में आवश्यक बातें—पानी खेत में बाँटने के लिए नालियाँ बनानी पड़ती हैं। ये नालियाँ दो प्रकार की होती हैं:—

(१) कच्ची नालियाँ, तथा
(२) पक्की नालियाँ।

कच्ची नालियाँ प्रति वर्ष बनानी पड़ती हैं। सिंचाई करते समय इनके टूट जाने से बहुत-सा पानी बह जाता है। बार-बार बनाने में खर्च और परिश्रम अधिक लगता है। पक्की नालियों के बनाने में जो खर्च पड़ता है वह एक ही बार पड़ता है। बार-बार नहीं बनवाना पड़ता और इनके टूटन का भी भय नहीं रहता। नालियों के बनाने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पानी का बहाव तेजी से हो सके। इसके लिए पानी को ढाल की ओर ले जाया जाता है। प्रत्येक १००" पर १" ढाल होना चाहिए। पानी के अनुसार नालियों की चौड़ाई बनानी चाहिए। ऐसा न हो कि पानी अधिक मात्रा में बहे और नालियाँ कम चौड़ी सँकरी हों। नालियों को खेत के उस किनारे से ले जाना चाहिए जिधर से पानी खेत में सरलतापूर्वक पहुँच सके।

बरहे और क्यारियों की लम्बाई-चौड़ाई फसल के भेद और भूमि की स्थिति पर निर्भर करती है। जब फसल अधिक पानी चाहने वाली है तो क्यारियाँ छोटी और कम चाहने पर बड़ी क्यारियाँ बनाते हैं। यदि भूमि बलुई है अथवा अधिक पानी सोखने वाली है तो क्यारियाँ छोटी बनाते हैं। पानी के बहाव के अनुसार भी क्यारियाँ बनाई जाती हैं। जब पानी तेज गति और अधिक मात्रा में आता है तो क्यारी बड़ी और

मन्द-मन्द तथा कम पानी आने पर छोटी क्यारी बनाना चाहिए। नहरों या टयूब वेल से सिंचाई करने पर पानी अधिक परिमाण में आता है अतः बरहे और क्यारियों का
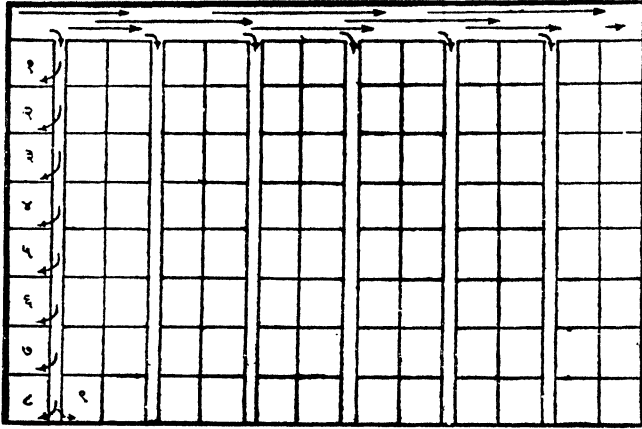
चित्र २३—सिंचाई करने के लिए बरहे और क्यारियों का नमूना

आकार बड़ा होता है परन्तु चर्स या ढेंकली आदि से कम पानी निकलता है। नहरों से सिंचाई करने पर २०' या २५' × २५' या ३०' आकार वाली क्यारियाँ होनी चाहिए; परन्तु चर्स से १०' या १२' × १२' या १५' का आकार होना चाहिए। सिंचाई करते समय नालियों और बरहे-क्यारियों का नमूना उपरिलिखित रूप में होना चाहिए।

बरहे और क्यरियों की मेड़बन्दी उचित रूप में होनी चाहिए। इसमें दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। प्रथम तो यह है कि मेड़ें ऐसी नहीं होनी चाहिए कि पानी उन्हें तोड़ सके। दूसरे मेंड़े इतनी मोटी और मजबूत न हो जानी चाहिए कि वे बाँध का काम करें और मेड़ की मिट्टी सिचाई के पानी से नम भी न हो सके। मेड़ों का निर्माण इस ढंग का होना चाहिए कि क्यारी देखने में सुन्दर जँचे।

छिड़काव की रीति—सिंचाई का यह ढंग छोटे क्षेत्रों में या बाग आदि में किया जाता है। इसमें हजारों (एक बर्तन) आदि से पानी छिड़का जाता है और भूमि में नमी बनाई जाती है। यह विधि बहुत कम पानी चाहती है। योरप में इस रीति का उपयोग अधिक रूप में किया जाता है। इसमें बड़े-बड़े रबर के पाइपों द्वारा खेतों में पानी छिड़का जाता है। खेत में एक स्थान पर पानी मिल जाने पर पाइप दूसरे स्थान को कर दी जाती है। तरकारियों और फूलों की क्यारियों को फव्वारों से सींचा जाता है। सरकारी फार्मों पर इन रीतियों का उपयोग अधिक होता है।

कूँड़ की रीति—यह रीति कूँड़ में बोई गई फसलों में की जाती है। आलू, चुकन्दर, गन्ना आदि फसलें प्रायः कूँड़ों या मेड़ों और नालियों में ही बोई जाती हैं। इस

विधि में बरहे और क्यारी बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है और पानी आवश्यकतानुसार फसल को मिल जाता है। पानी की कम मात्रा देनी पड़ती है और उसका अपव्यय नहीं होता। अधिक पानी भाप बनकर उड़ नहीं सकता और धरातल की ऊपरी सतह सूख कर कड़ी होने से बच जाती है। कूँड़ों के बनाने में इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि मेंड़ें इतनी ऊँची नहीं होना चाहिए कि सिंचाई के पानी से भीग न सकें। कूँड़ों या नालियों द्वारा चित्र २४ और २५ के अनुसार सिंचाई की जाती है।
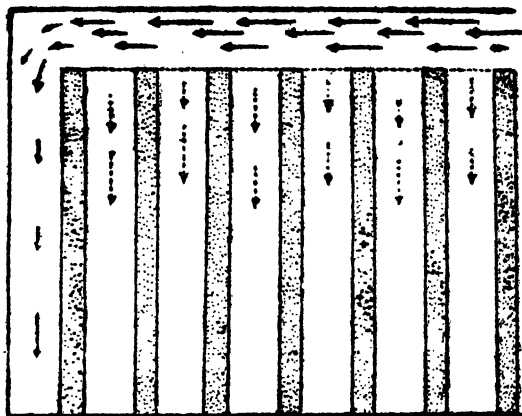
चित्र २४—कूँड़ की विधि से सिंचाई

कृषकों को मेंड़-निर्माण में अधिक सतर्क होना चाहिए। ये सीधी और उपयुक्त होनी चाहिए। इन्हें बनाने में फावड़े और करहे का प्रयोग किया जाता है। जिस स्थान पर मिट्टी कड़ी होती है और सरलतापूर्वक नहीं खींची जा सकती वहाँ करहे का प्रयोग उपयुक्त नहीं होता। मिट्टी के जुती और भुरभुरी होने पर करहे और कुदाली से काम लिया जाता है। मेंड़ बनाने के लिए एक अच्छा यंत्र बना है जो बैलों द्वारा चलाया जाता है। इसका नाम रिजमेकर है। इसकी सहायता से कम समय और परिश्रम से अधिक मेंड़ बन सकती है। देहातों में एक और मेंड़ बनानें का यंत्र प्रचलित है जिसे फरुही कहते हैं। एक आदमी अपने हाथों से पकड़ कर इससे मिट्टी खींचता है और मेंड़ बनाता है।
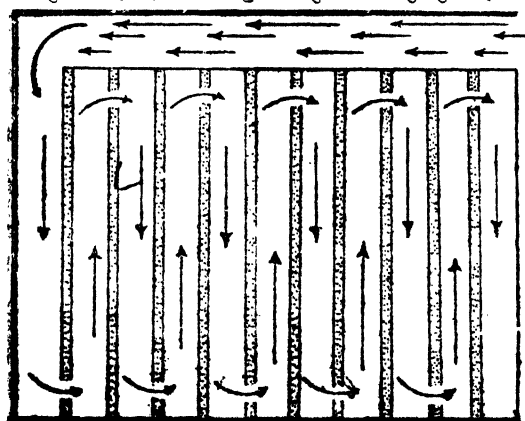
चित्र २५—कूँड़ की विधि से सिंचाई

ड्यूटी ऑफ वाटर (Duty of water) या जल-क्षमता—किसी फसल के पैदा होने से पकने के समय तक एक क्यूसेग बहाव में जितने एकड़ में पानी मिलता है, वह उस फसल की उतने दिनों की जल क्षमता है। जल क्षमता समय की अवधि पर निर्भर करती है। यह पानी का बहाव एक क्यूसेक प्रति सेकेण्ड है और इससे एक एकड़ भूमि की १" तक सिंचाई एक घंटे में हो जाती है, फिर भूमि का आयतन १०० एकड़ हो और पानी लगातार इसी गति में फसल को मिले तो उसकी जल क्षमता १०० कही जायगी।
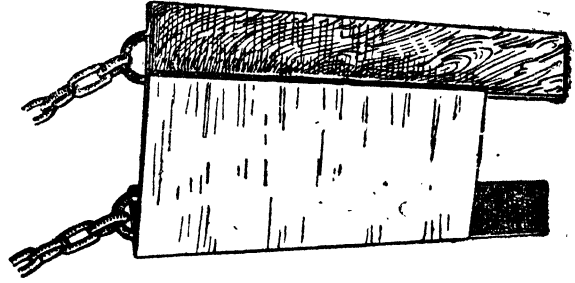
चित्र २६- -रिजमेकर

क्यूसेक (Cusec)—पानी नापने का यह एक पैमाना है जो नहरी क्षेत्रों में प्रयोग किया जाता है। एक सेकेण्ड में एक घनफुट पानी की वही मात्रा क्यूसेक कहलाती है। पानी का क्यूसेक नापने के लिए नहर के गूल से निकलते हुए पानी में खर-पतवार डाल कर घड़ी द्वारा उसकी चाल मालूम कर लेते हैं। फिर स्थान के पानी की चौड़ाई और गहराई से उसमें गुणा कर देते हैं। यदि पानी की चाल ३ फीट प्रति सेकेण्ड है और गूल की चौड़ाई व गहराई ४'×५' है तो पानी ३×४×५=६० क्यूसेक निकलता है। एक घनफुट पानी की तौल ६२.५ पौंड या २६.५ गैलन है।

एकड़ इंच—पानी नापने की यह भी एक इकाई है। समतल खेत में जिसका क्षेत्रफल एक एकड़ हो, जब १" पानी मौजूद रहता है तो वह मात्रा एकड़ इंच कहलाती है। यह २,२७,००० पौ० या ३,६३० घनफीट के बराबर होता है।

नेट ड्यूटी और ग्रास ड्यूटी (Net and Gross duty)—पौधों का जीवन स्थिर रखने वाला पानी नेट ड्यूटी है अर्थात् यह वह पानी है जिसे पौधा अपने में लेता है। ग्रास ड्यूटी में पौधों तक पहुँचाने में जो पानी उड़ता या भूमि द्वारा सोख लिया जाता है वह ग्रास ड्यूटी में आता है।

सीपेज—भूमि-कणों द्वारा पानी के धीरे-धीरे सोखन की क्रिया को सीपेज कहते हैं। भूमि द्वारा शोषित जल का पसीज कर निकलना भी इसी क्रिया में आता है। सीपेज भूमि के कणों पर निर्भर करता है। बड़े कण अधिक जल सोखते हैं और पसीज कर निकालते हैं। बलुई भूमि में चिकनी भूमि की अपेक्षाकृत यह क्रिया अधिक होती है

पानी उठाने के विविध यन्त्र (Different types of water lift)—सिंचाई करने के अन्यान्य यंत्र हैं जिनका प्रयोग उठाने में किया जाता है। कुएँ, झील सोतों, तालाबों या नहरों आदि से पानी उठा कर खेत की सतह पर लाने का

कार्य इन्हीं यन्त्रों द्वारा किया जाता है। इन यन्त्रों में कुछ का प्रयोग अधिकता से किया जाता है जिनका नाम नीचे दिया जाता है:

(१) ढेंकली (Dhenkali)
(२) बेड़ी (Swing Basket)
(३) ढोन (Dhon),
(४) चर्सा (Chersa),
(५) बल्देव बाल्टी (Baldeo Balti),
(६) इजिपियन स्क्रू (Egypian Screw)'
(७) चेन पम्प (Chain Pump),
(८) रहट (Rahat),
(९) चरखी (Charkhi),
(१०) मायादास लिफ्ट (Mayadas lift),
(११) सेक्शन पम्प (Suction Pump), तथा
(१२) सेंट्रीफ्यूगल पम्प (Centrifugal Pump)।

ढेंकली—यह एक साधारण यंत्र है जो सस्ते मूल्य पर तैयार हो जाता है। इससे कम गहराई से पानी उठाया जाता है और दो आदमी इसके लिए काफी होते हैं। इसको बनाने में विशेष कारीगरी की आवश्यकता नहीं होती। पानी उठाने वाले
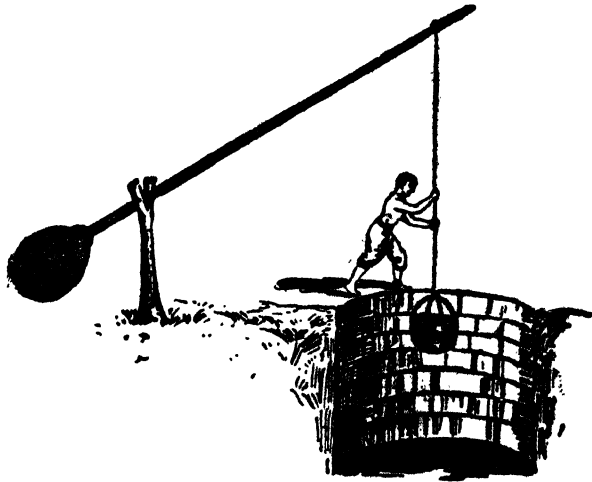
चित्र २७—ढेंकली

स्थान से थोड़ी दूर पर दो कन्धे वाला खम्भा गाड़ते हैं। कन्धों में छेद करते हैं। फिर दो या तीन बांसों को मिला कर बांधते हैं और उनके बीच में एक कील लगा देते

ताकि ये अलग न होने पावें। इस कील के दोनों सिरे दोनों तरफ निकले होने चाहिए। इन सिरों को खम्भे के छिद्रों में पहना देते हैं। ये छिद्र इस ढंग से बने होते हैं कि इसमें पहनाया गया अंश सरलतापूर्वक नहीं निकल सकता। अब बासों के पिछले भाग पर मिट्टी या पत्थर बांध कर अगले सिरे पर रस्सी और पानी उठाने वाला बर्तन बांधते हैं। पत्थर का बोझ ऐसा रहता है कि कूंड़ का पानी उससे तुल सके। इनका तौल ठीक करने के लिए छिद्रों में लगाई हुई बल्ली इस हिसाब से लगी होती है कि बांस का पिछला भाग अगले भाग से लम्बाई में छोटा हो। पीछे रखा गया पत्थर पानी उठाने वाले पात्र के आकार पर निर्भर करता है। यदि पात्र बड़े आकार का है तो पत्थर बड़ा होगा परन्तु छोटे पात्र के रहने पर छोटा पत्थर ही काम दे सकता है। ऐसा करने से पानी खींचने में आसानी होती है। बरहे की सहायता से जब पात्र पानी में डुबोते हैं तो वह थोड़ा सा झटका देने पर ही ऊपर आ जाता है। ढेंकली से कम गहराई पर से पानी उठाने में सरलता होती है और अधिक सिंचाई भी हो सकती है। पानी निकालने के स्थान से यदि खेत काफी दूर है तो कम और समीप रहने पर अधिक खेत सींचा जा सकता है। साधारण तौर से १/४ या १/६ एकड़ खेत एक दिन में ढेंकली से सींचा जाता है।

बेड़ी—यह भी एक सस्ता यंत्र है जिससे पानी २ फीट से ३ फीट की गहराई पर उठाया जाता है। इसमें एक साथ दो आदमी काम करते हैं। यह यंत्र चमड़े अथवा बांस का बना होता है। इसका आकार छिछला होता है ताकि पानी आसानी से उठाया और निकाला जा सके। इसमें दोनों किनारों पर दो-दो करके चार रस्सियाँ लगी होती हैं। प्रत्येक आदमी दोनों हाथों में एक-एक रस्सी पकड़ता है और इन्हीं रस्सियों की सहायता से टोकरी डुबाता और फेंकता है। तालाबों और नहरों से जो खेत की सतह से नीचे होते हैं, पानी उठाने में यह प्रयोग की जाती है। इसकी सहायता से प्रति दिन आठ घंटे काम करके १/२ एकड़ खेत सींचा जा सकता है।
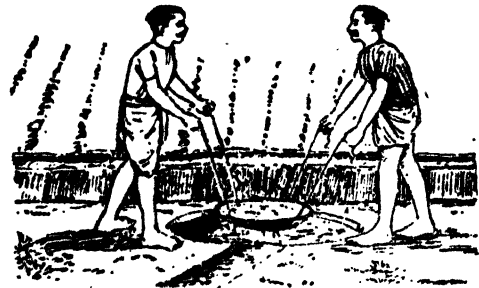
चित्र २८ बेड़ी

डोन—इस यंत्र का प्रयोग उत्तर प्रदेश में बहुत कम होता है परन्तु बंगाल और बिहार में इनकी बहुत चलन है। ये ताड़, खजूर या सेमल के तने को खोखला करके बनाये जाते हैं। इनके एक ओर का किनारा पानी रोकने वाला होता है पर दूसरा किनारा अपने अन्दर आया पानी निकालता है। इसमें भी ढेंकुल की भांति खम्भा और बल्ली लगती है। इनकी सहायता से एक ओर खम्भा बल्ली में लगा रहता है जो ऊपर और नीचे जा सकता है। इसमें एक ओर मिट्टी रखते हैं और दूसरे ओर एक कुहरी

रस्सी लगा देते हैं जो ढोन के बन्द वाले सिरे में पहना दी जाती है। जब पानी उठाना होता है तो दो आदमी रस्सी पकड़ कर ढोन दबाते हैं और पानी में डुबोते हैं हैं। जब यह पानी से भर जाती है तो इसे धक्का देकर ऊपर उठाते हैं। पीछे लगे पत्थर की सहायता से पानी से भरी ढोन ऊपर उठती है पर पानी, दूसरे किनारे के बन्द होने से गिरता नहीं। जब ढोन भूमि की सतह से ऊपर उठ जाती है तो पानी भूमि की ओर ढलक जाता है क्योंकि दूसरा किनारा रोक प्रस्तुत नहीं करता। इस प्रकार पानी उठाने में ४ आदमी लगते हैं। दो आदमियों के आराम करने पर दो कार्य करते हैं। इससे पानी ४'-५' की गहराई तक उठाया जा सकता है। टीन आदि की भी ढोन बनती हैं जो हल्की पड़ती हैं। इस यंत्र से लगभग आधा एकड़ खेत एक दिन में सींचा जा सकता है।

चर्सा—पानी उठाने का यह यंत्र देहातों में बहुत प्रचलित है। इसमें एक या कभी-कभी दो जोड़ी बैल, एक बरहा, एक गरारी या धुरी, एक बाँस (मेझरन) दो खम्भे और कम से कम चार आदमियों की आवश्यकता होती है। एक जुआठा भी होना चाहिए जिसमें बरहा (मोटी रस्सी) लपेट कर बैलों की गर्दन में लगा देते हैं। चर्सा चलाने की दो विधियाँ हैं। पहली लागौर और दूसरी कीली विधि कहलाती है। पहली विधि दूसरी से सस्ती होती है परन्तु कीली विधि से पानी अधिक निकलता है। इसमें दो जोड़ा बैल और चार आदमी होते हैं।

चर्सा में पानी निकालने का एक बड़ा सा चमड़े का थैला (मोट) होता है जिसे मुट्ठियों से नाप कर बनाते हैं। यह चमड़ा बैल या गाय की खाल का होता है। चमड़े को गोलाई में काटते हैं और केन्द्र से होते हुए परिधि से परिधि की दूरी अर्थात् व्यास नाप लेते हैं। यह व्यास मुट्ठियों से ७ से लेकर १० तक होता है। चमड़े के किनारे पर स्थान-स्थान पर छेद करते हैं और रस्सियों से एक गोलाकार लकड़ी में बाँध देते हैं ताकि उसका रूप थैले के आकार का हो जाय और उसमें पानी आ सके। इसी लकड़ी में मोटी रस्सी या बरहा बाँधा जाता है। कुएँ के किनारे पर दो खम्भे गाड़ कर उन्हें एक मजबूत बाँस से सम्बन्धित करते हैं। इस बाँस पर धुरी या गड़ारी रख देते हैं। जुवाठे में बरहा पहले से लगा रहता है। उसे धुरी से लाकर थैले में बाँध देते हैं। जुवाठा बैलों की गर्दन में पहना दिया जाता है। बैलों के आने-जाने के लिए कुएँ की सतह से ही एक पैंडा या पौदर बना होता है। यह ढालवाँ होता है क्योंकि ढालवेंपन से बैलों पर भार कम पड़ता है। पैंडा का ढाल कुएँ से शुरू होकर कुएँ से दूर जाता है। बैलों को पानी से भरकर खींचते समय बैलों को ऊपर की ओर से नीचे की ओर जाना पड़ता है। जब बैल पैंडे के दूसरे किनारे चले जाते हैं तो थैला भी कुएँ के ऊपर आ जाता है। थैला खींचने और उसका पानी गिराने के लिए एक आदमी कुएँ पर खड़ा होता है। जब बैल पैंडे के अन्तिम छोर से लौटने लगते हैं तो थैला नीचे आना शुरू हो जाता है। उसी समय थैले को खींचकर उसका पानी गिरा दिया जाता है और फिर उसे कुएँ में जाने दिया जाता है। जब बैल कुएँ के सिरे पर पहुँच जाते तो थैला पानी तक पहुँच गया रहता है और उसे झकझोरकर पानी से भर लिया जाता है।

खेत की क्यारियों में पानी बाँटने के लिए एक आदमी रहता है जो फसल में

पानी बराबर देता चला जाता है। ये चर्से ३०-३५ फीट की गहराई पर अच्छा
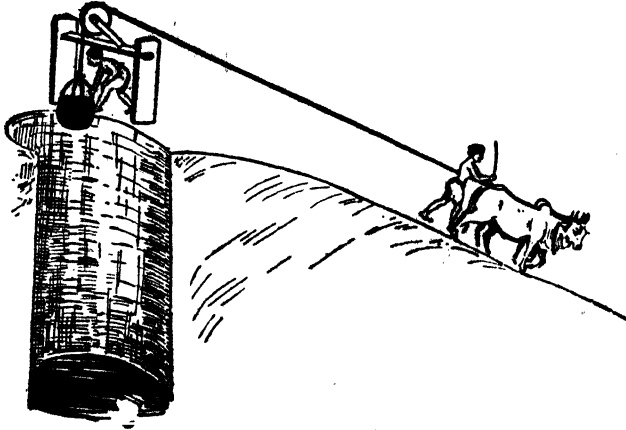
चित्र २९—सूँड़िया

काम करते हैं परन्तु ५०-६० फीट की गहराई से भी पानी निकाला जाता है। साधारणतया इनसे एक दिन में ½ या ¾ एकड़ खेत सींचा जाता है।

सूँड़िया भी एक प्रकार का चर्सा है। इसमें ऐसा प्रबन्ध होता है कि पानी गिराने वाले आदमी की आवश्यकता ही नहीं रहती अपितु, पानी आप ही गिर जाता है। यह कार्य इसमें एक सूँड़ द्वारा होता है जैसा ऊपर के चित्र से ज्ञात होता है।

बल्देव बाल्टी—बल्देव मिश्र के बनाने पर इस यंत्र का नाम ही बल्देव बाल्टी पड़ गया। इसमें दो टीन की लम्बाकार बाल्टियाँ रहती हैं। ये एक सिरे से नाली पर
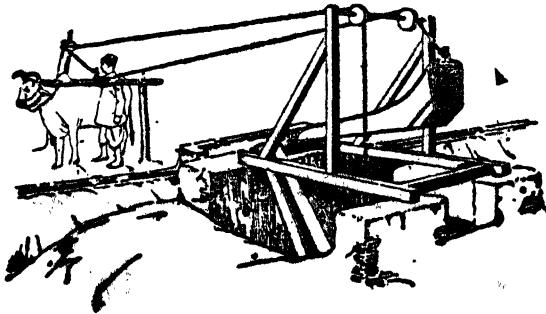
चित्र ३०—बल्देव बाल्टी

रखे गये चौखटे से सम्बन्धित होती हैं और घिर्री पर पड़ी रस्सी द्वारा बारी-बारी से ऊपर-नीचे आती-जाती हैं। प्रत्येक बाल्टी के पेंदे में एक परदा लगा होता है जो बाल्टी के

उठते समय पानी के दबाव से बन्द हो जाता है परन्तु खाली रहने पर उठा रहता है जिससे पानी बाल्टी में प्रवेश कर जाता है।

चित्र ३१—इजिपियन स्क्रू

ये बाल्टियाँ एक घिर्री पर रस्सी द्वारा चलती हैं। इन्हें चलाने के लिए एक
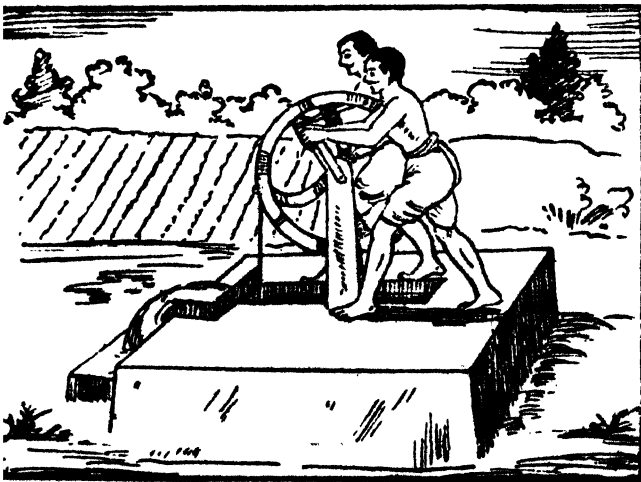
चित्र ३२—सिंगिल हैंड चेन पम्प

जोड़ी बैल की आवश्यकता होती है और इन्हें हांकने के लिए एक आदमी चाहिए। दो फीट की गहराई पर यह यंत्र अच्छी तरह काम करता है। नहरों से पानी निकालने या तालाबों आदि में भी इसका प्रयोग किया जाता है। इससे एक दिन में एक एकड़ भूमि की सिंचाई सरलतापूर्वक हो जाती है।

इजिपियन स्क्रू—यह एक प्रकार का पेंच है जो ४-५ फीट की गहराई तक सरलतापूर्वक काम करता है। इसका आकार लकड़ी के ढोल सा होता है। इसके बीच का भाग खोखला होता है जो लकड़ी के भिन्न पतले आकारों से बनकर एक पेंच का काम करता है। इसका व्यास १६" और लम्बाई १२ फीट से १५ फीट तक होती है। यह पानी निकालते समय ऐसे ढालवें रूप में रखा जाता है कि ३०° या ४०° का कोण बने। इसका एक किनारा पानी में डूबा रहता है और दूसरा भूमि की धरातल पर स्थिर रहता है। भूमि वाले सिरे में एक पेंच लगा होता है जिसके घुमाने पर पानी खींच कर ऊपर आ जाता है। इसमें चार आदमी बारी-बारी से काम करते हैं। इससे ½ एकड़ भूमि एक दिन में सिंचित हो जाती है।

चेन पम्प—एक बड़े से लोहे के पहिए में दो हत्थे लगे रहते हैं। पहिए पर एक लोहे की जंजीर लगी रहती है जिसमें छोटे-छोटे लोहे के तवों की एक शृंखला-सी
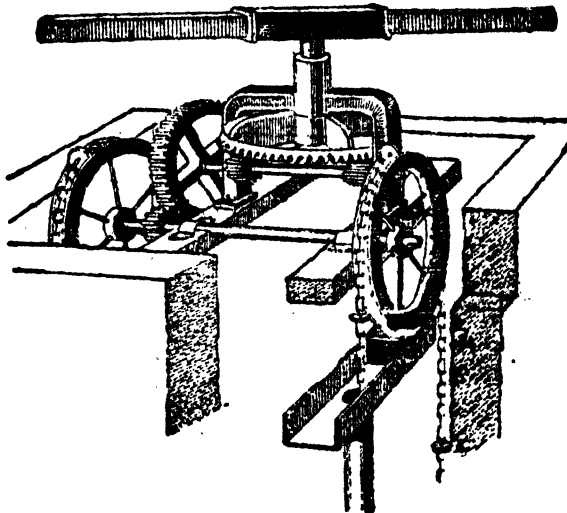
चित्र ३३—बैल से चलाया जाने वाला दुहरा चेन पम्प

लगी होती है। ये तवे और तख्तियाँ ऊपर आते समय अपने साथ पानी भी उठाती आती हैं जो खेतों में पहुँचाया जाता है। यह यंत्र दो प्रकार का होता है जैसा चित्र से प्रकट है: (१) सिंगिल चेन पम्प और (२) डबल चेन पम्प। सिंगिल चेन पम्प आद-

मियों द्वारा चलाया जाता है। जिसमें दो आदमी लगते हैं। दोहरा पम्प बैलों द्वारा चलाया जाता है। इसमें जंजीरों को दो मालाएँ रहती हैं जो २५ फोट तक को गहराई का पानी निकाल सकती। हैं। हाथ से खींचा जाने वाला पम्प ४-१० फी० की गहराई पर ही अच्छा काम कर सकता है। बैलों से खींचे जाने वाले चैन पम्प में पानी खींचने के स्थान पर एक पक्का चबूतरा बनाना पड़ता है जिस पर बैल चारों ओर घूमता है और चैन पम्प संचालित होता है। चैन पम्प अपने आकार के अनुसार एक निश्चित गहराई से निश्चित समय में निश्चित पानी की मात्रा निकालता है। नीचे कुछ भिन्न आकारों के चेन पम्पों की कार्यक्षमता का विवरण दिया जाता है—

भूमि की धरातल से पानी की गहराई	नल का व्यास	एक एकड़ को सींचने का समय
२५ फी०	२½ इंच	५४ घंटे
२० फी०	२¾ इंच	४० घंटे
१५ फी० से १२½ फी०	२½ इंच	३२ घंटे
१२½ से १० फी०	२½ इंच	२८ घंटे
१० से ७½ फी०	३ इंच	२३ घंटे
७½ से ५½ फी०	३¾ इंच	१६ घंटे
५½ से ४½ फी०	४½ इंच	११½ घंटे
४½ से ४ फी०	५ इंच	९ घंटे

रहट—यह कुँओं और तालाबों में लगाया जाता है। अधिकतर १० फीट गकी हराई पर यह अच्छा काम करता है; परन्तु ३० से ४० फीट तक भी रहट का प्रयोग होता है। कम गहराई पर इससे अधिक पानी निकलता है; परन्तु ज्यों-ज्यों गहराई बढ़ती है, पानी निकलने की मात्रा घटती जाती है। इसमें एक लोहे की बड़ी पहिया रहती है जिस पर बाल्टियों की माला-सी लगी होती है। यह माला कुएँ में लगी रहती है। बाल्टियों की माला इस प्रकार जुड़ी होती है कि एक कतार कुएँ से पानी निकालती रहती है तो दूसरी खाली जाती रहती है। लोहे की पहिया एक धुरी से लगी रहती है जो कुछ दूरी पर एक अन्य चक्र से सम्ब-

चित्र ६४—रहट
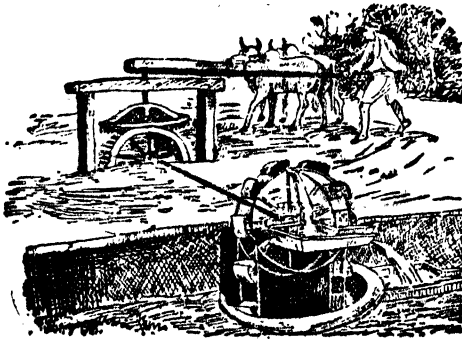
न्धित रहती है। यह चक्र इस प्रकार का बना होता है कि इसे बैलों की एक जोड़ी वृत से घूमती हुई खींचती है और बाल्टियाँ पानी निकालती हैं। बाल्टियों से निकाला पानी एक टीन की नली में गिरता है जो बहकर धरातल पर की नाली की ओर चला जाता है। ऊँटों द्वारा भी रहट खींचा जाता है। इसमें एक आदमी बैलों या ऊँटों के हाँकने के लिए होता है और दूसरा खेत में पानी बँटाता है। कम गहराई पर होने से रहट एक दिन में एक एकड़ खेत सींच देता है। पानी नीचे चले जाने पर रहट का काम अधिक नहीं होता है। जब पानी का धरातल बाल्टियों की माला से नीचे हो जाता है तो और बाल्टियाँ जोड़ कर पानी खींचा जा सकता है।

चर्खी—इसका प्रयोग उस स्थान पर होता है जहाँ पानी की बहुत कम आवश्यकता होती है। इसे कुएँ में लगाते हैं। तालाबों में भी इसका प्रयोग होता है। इसमें दो खम्भों को एक अन्य खम्भे से सम्बन्धित किया जाता है और उसमें बाँसों की एक बनी चर्खी को लगा दिया जाता है। चर्खी पर एक रस्सी लगी होती है जिसके दोनों किनारे में पानी लाने वाले डोल लगे होते हैं। एक डोल जब नीचे जाता है तो दूसरा पानी से भर कर ऊपर आता है। इसमें दो आदमी पर्याप्त होते हैं।

चित्र ३५—चर्खी
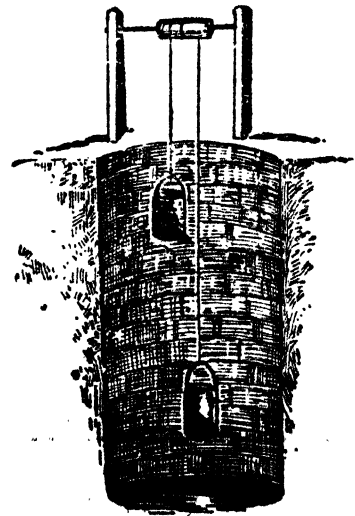
मायादास लिफ्ट—यह रहट को थोड़ा-बहुत परिवर्तित करके बनाया गया है। इसके दो प्रकार होते हैं—सिंगल और डबल। पहले में बाल्टियों की एक ही माला रहती है पर दूसरे में दो मालाएँ। इनमें बाल्टियों की पहिया की धुरी अन्य चक्र से संलग्न नहीं होती है जिससे बैलों को अलग न घूमकर कुएँ के चारों ओर ही घूमना पड़ता है। यह यंत्र नहरों में भी प्रयुक्त होता है और १० फीट की गहराई पर तो एक दिन में २ एकड़ की सिंचाई कर देता है।

सेक्शन पम्प—यह पम्प भूमि में से अधिक गहराई से पानी निकालता है। इसे पक्के कुएँ में बोरिंग कराकर नलों द्वारा लगाते हैं ताकि नीचे का पानी नल से होकर दबाव पड़ने पर ऊपर आ जावे। इसमें एक हत्था लगा होता है जिसके चलाने पर पानी आने लगता है। इसका प्रयोग अधिकतर पीने का पानी निकालने में ही किया जाता है; परन्तु बागों में या छोटी-छोटी फुलवाड़ियों में भी प्रयुक्त होता है। इससे निकला पानी अधिक मात्रा में नहीं होता अतः बड़े-बड़े क्षेत्र की सिंचाई इससे नहीं हो सकती। २५-३० फी० की गहराई तक ये अच्छा काम देते हैं।

सेन्ट्रीफ्यूगल पम्प—यह यंत्र एक इंजिन द्वारा संचालित होता है जो इसमें लगे पंखे को बड़ी तेजी से घुमाता है। पंखे के घूमने से पानी नीचे से ऊपर फेंक दिया जाता है और इस प्रकार यह भूमि की धरातल पर आ जाता है। इससे गहराई से भी पानी निकाला जा सकता है। गहरे तालाबों, नहरों और कुओं से पानी निकालने में यह अच्छा काम देता है। इंजिन के होने से काम कम ही समय में अधिक हो जाता है। बड़े-बड़े क्षेत्रों की सिंचाई में ऐसे यंत्र काम में लाये जाने चाहिये। यद्यपि इसका मूल्य अधिक पड़ता है पर मूल्य के अनुसार इसकी कार्यक्षमता अधिक होती है। निम्नाँकित सारिणी से विभिन्न यंत्रों की कार्यक्षमता मालूम होती है :—

नाम यंत्र	प्रति घंटा निकला हुआ पानी	गहराई जहाँ तक काम किया जाय	एक एकड़ सींचने में लगा हुआ समय
ढेकली	५००० गैलन	१५-२० फी०	१५० घंटे
बेड़ी	३५०० ”	३–४ ”	२२ ”
चर्सा	१६०० ”	२५–३० ”	४८ ”
वल्देव बाल्टी	३००० ”	५ ”	२६ ”
इजिपियन स्क्रू	६५०० ”	२–३ ”	१५ ”
चेनपम्प (सिंगल)	४५०० ”	४–१५ ”	१७ ”
” डबल	६५०० ”	५–१५ ”	१२ ”
रहट	२५०० ”	२०–३० ”	३१ ”
मायादास लिफ्ट	२६०० ”	२५–३० ”	३० ”
डबल माया-दास लिफ्ट	६५०० ”	१०–२० ”	१२ ”

उपर्युक्त यंत्रों का उचित उपयोग भिन्न-भिन्न स्थानों पर होता है। सरकार का ध्यान इस ओर इस समय ऐसा हुआ है कि वह प्राचीन यंत्रों का बहिष्कार कर नवीन वैज्ञानिक यंत्रों का प्रचलन करना चाहती है। चर्सा, रहट, ढेंकली आदि यंत्र पानी उठाने के लिए प्रयोग में आते हैं परन्तु इनमें अधिक समय और श्रम लगता है और काम भी अच्छा नहीं होता। ट्यूब वेल, सेंट्रीफ्यूगल पम्प आदि यंत्र यद्यपि मँहगे पड़ते हैं परन्तु इनसे कार्य अधिक होता है और समय कम लगता है। पंचवर्षीय योजना में सरकार को धारणा प्रत्येक गाँव में ट्यूब वेल लगा देने की है। नहर और बाँधों द्वारा भी सिंचाई में सुविधा उत्पन्न की जा रही है जिससे हमारी कृषि प्रकृति पर निर्भर न रहे। प्रकृति पर निर्भर रहने से उपज किसी वर्ष बढ़ जाती है तो किसी वर्ष बिल्कुल ही नष्ट हो जाती है। अमेरिका में कृषि की इस दशा पर बहुत ध्यान दिया गया है। वहाँ वैज्ञानिक ढंग से खेती की जाती है और फसल को आवश्यकतानुसार बनावटी विधि से पानी पहुँचाया जाता है। हमारे यहाँ भी इसका यत्न किया जा रहा है। सफलता मिल जाने पर हमारी उपज बढ़ जायगी।

जिस स्थान पर सिंचाई की कोई सुविधा न हो और पानी की नमी के उड़ जाने का भय हो, वहाँ नमी की रक्षा के लिए सचेष्ट होना चाहिए। ऐसी फसलें बोनी चाहिए जो पानी की कम मात्रा उपयोग करें। चना, ज्वार, बाजरा आदि फसलें कम पानी में भी निर्वाह कर सकती हैं और उनका बढ़ाव भी समुचित रूप में हो सकता है। इसके अतिरिक्त भूमि भुरभुरी होनी चाहिए क्योंकि भुरभुरी होने से केशाल नालियाँ (Capillary tubes) टूट जाती हैं और भूमि का पानी उड़ने नहीं पाता। खाद या जीवांश मिला देने पर भी भूमि की नमी बनी रहती है। खेत में नमी बचाने के लिए पाटा देकर अवरोध-परत (Mulching) बना देनी चाहिए। अवरोध परत उस परत को कहते हैं जो भूमि के ऊपरी धरातल पर नमी को उड़ने से बचाने के लिए पाटा या रोलर से बनाई जाती है। इस परत से भूमि में प्रकाश और वायु का आना-जाना अत्यधिक रूप में नहीं होता, जिससे नमी शीघ्र नहीं समाप्त होने पाती। उचित जुताई, गुड़ाई और जंगली पौधों की निकाई से भी भूमि की नमी सुरक्षित रखी जा सकती है।

आवश्यकता से अधिक पानी देने से हानियाँ—कभी-कभी कृषकगण अधिक पानी पाने पर फसल में पर्याप्त पानी दे देते हैं। इससे फसल को बहुत हानि उठानी पड़ती है। हानियाँ निम्नलिखित हैं :—

१. अधिक पानी से पौधों का बढ़ाव रुक जाता है,

२. भूमि में हवा-प्रवेश नहीं होता,

३. बैक्टीरिया हवा की अनुपस्थिति में अपना कार्य बन्द कर देती है,

४. जड़ें टूट जाती हैं और खुराक उचित रूप में नहीं बन पाती,

५. पत्तियाँ अधिक रूप में पानी उड़ा कर पानी का अपव्यय करती हैं,

६. फसल के पकने में देर हो जाती है,

७. अधिक पानी देने से पौधे के आवश्यक तत्व घुल कर भूमि के नीचे चले जाते हैं, और पौधा उनसे लाभ नहीं उठा पाता, तथा

८. अधिक देर तक भूमि के नम होने से मृदा-ताप कम होने लगता है। इससे फसल की अभिवृद्धि नहीं हो पाती और पौधे मुर्झाने लगते हैं।

सिंचाई के समय थोड़ी-सी त्रुटि पर बड़ी हानि उठाने की आशंका होती है। अतः सिंचाई करते समय इस बात से पूरा सावधान होना चाहिए कि पौधे आवश्यकता से अधिक पानी न पा सकें। अनुभवी व्यक्ति को ही खेत में पानी बँटाने के लिए नियुक्त करना चाहिए। बरहे और क्यारियों का निर्माण भी ऐसा होना चाहिए कि फसल समान पानी पा सके। कहीं अधिक और कहीं कम पानी फसल के लिए ठीक नहीं होता।

फसलों को पानी देने की मात्रा—फसलों के लिए जितना पानी आवश्यक हो उतना ही देना चाहिए। यह मात्रा कई बातों पर निर्भर करती है जो नीचे दी गई हैं :—

१. फसल की दशा,

२. फसल की किस्म,

३. ऋतु की अवस्था, तथा
४. मृदा का रूप।

फसल के जमने, बढ़ने, फलने, फूलने आदि दशाओं पर पानी की मात्रा निर्भर होती है। धान और गन्ना की फसलें अधिक पानी चाहती हैं पर गेहूँ, जौ, चना आदि की फसलें कम पानी देकर ही पैदा की जाती हैं। गर्मी में अधिक पानी और जाड़े में कम तथा चिकनी मिट्टी में कम पानी और बलुई भूमि में अधिक पानी दिया जाता है।

प्रश्न

१. उत्तर प्रदेश में सिंचाई के लिए जल कहाँ-कहाँ से प्राप्त किया जा सकता है ? आवश्यकता से अधिक सिंचाई करने की हानियों का वर्णन करो। (यू० पी० १९५०)

२. निम्नलिखित अवस्थाओं में तुम क्या करोगे और क्यों ?

(क) जब खेत की मिट्टी बहुत गीली हो और तुमको खेत तैयार करके समय के अन्दर बोने की जल्दी हो।

(ख) जब पानी चाहने वाली खड़ी फसलों को वर्षा द्वारा कुछ जल मिलने के अन्दर बोने की जल्दी हो।

३. हमारे देश में सिंचाई की आवश्यकता का वर्णन करो। पानी उठाने के किसी अच्छे यंत्र की कार्य-प्रणाली का वर्णन करो।

४. असींच कृषि की दशा में तुम भूमि की नमी की रक्षा किस प्रकार करोगे ? ऐसे स्थानों के लिए उपयुक्त फसलों के कुछ नाम लिखो।

५. उत्तर प्रदेश में सिंचाई के क्या-क्या प्रमुख साधन हैं। अधिक अन्न उपजाने के लिए उनके पूर्ण विकास तथा उपयोग के सुझाव दो।

७. कम वर्षा वाले स्थानों में भूमि के अन्दर अधिक से अधिक पानी रोकने और कम से कम नमी भाप द्वारा उड़ने देने के लिए क्या-क्या प्रयत्न करेंगे ? और क्यों? समर्थन में सम्बन्धित वैज्ञानिक नियमों का भी उल्लेख कीजिये।

८. म्लान बिन्दु (Wilting point) और उत्स्वेदन (Transpiration) पर टिप्पणी लिखो।

९. उत्स्वेदन क्या है ? उन कारणों का विवेचन करो जिनका उत्स्वेदन पर प्रभाव पड़ता है।

१०. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखो :—

रहट, सोड बेड, मूँड़िया, बरसा, वेनपम्प, बाढ़।

११. सिंचाई करने में कौन-कौन सी विधियाँ प्रयुक्त होती हैं ? प्रत्येक को संक्षेप में समझाओ।

१२. अधिक पानी दे देने से क्या हानियाँ हैं ? उनके लिए कृषक को किन सावधानियों पर ध्यान रखना चाहिए ?

अध्याय ४

पानी का निकास

(DRAINAGE)

पौधों के लिए पानी देना जितना आवश्यक है उतना ही अनावश्यक पानी को खेत से बाहर निकालना भी महत्व रखता है। यद्यपि यह सत्य है कि पौधों का जीवन पानी की अनुपस्थिति में स्थिर नहीं रह सकता तथापि अत्यधिक पानी या नमी भी पौधे के हित में हानिकर होती है। यह नमी पोधे की बाढ़ रोक देती है और वे मुर्झाना प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसी दशा में इस अनावश्यक जल को खेत से बाहर करना अत्यावश्यक हो जाता है। प्राकृतिक या बनावटी विधि से पौधों को यह अनावश्यक जल खेत से बाहर निकालना 'पानी का निकास' अथवा ड्रेनेज (Drainage) कहलाता है।

पानी के जमा होने की अवस्थाएँ—किसानों के सम्मुख अनेक ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जब कि पानी भूमि की सतह पर एकत्रित हो जाता है और शीघ्र न तो सूखता है और न बहकर निकलता ही है। कभी-कभी पानी ऊपरी सतह से रिस कर निचली तह में चला जाता है और वहीं जमा रहता है। यह जल भी पौधों को लाभ न पहुँचा कर हानि ही करता है। इस दशा में इस जल का निकास कृषि के हित में जरूरी होता है। ये परिस्थितियाँ निम्नांकित हैं:

१. मूसलाधार वर्षा से पानी खेत के धरातल में एकत्र हो जाता है और कई दिनों तक वैसे ही बना रहता है, सूखता नहीं।

२. बाढ़ आने पर खेत पानी से भर जाते हैं। इसके हटने पर ऊपरी खेतों का पानी तो निकल जाता है किन्तु निचले खेतों में पानी जमा हो जाता है और शीघ्र निकलता नहीं।

३. चिकनी मिट्टी अपने धरातल पर संचित पानी धीरे-धीरे सोखती है क्योंकि इसके कण अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। इससे पानी ऊपर अधिक दिनों तक टिका रहता है, जो पौधों के लिए हानिप्रद है।

४. वर्षा का पानी बह कर निचले धरातल वाले खेतों में लग जाता है और काफी समय तक भरा रहता है।

५. खेतों में ढलवाँ होने से पानी ढालवें भाग की ओर लग जाता है और शीघ्र नहीं सूखता। इससे ऊपर वाला खेत का अंश तो जोतने-बोने योग्य होता है परन्तु आधा खेत बेकार हो जाता है।

६. निचली धरातल के कड़ी हो जाने से ऊपर का पानी नीचे नहीं जा पाता। सूर्य की गर्मी द्वारा ही जो सूखता है वह सूखता है, शेष वैसे ही जमा रहता है। ऐसा

होने से खड़ी फसल चौपट हो जाती है। यदि फसल नहीं है और खेत रबी के लिए तैयार करना है तो भूमि तैयार नहीं हो पाती और समय निकल जाता है।

७. नहरी क्षेत्रों में नहर से नीचे धरातल वाले खेत में पानी रिस-रिस कर जमा होता रहता है जो कृषि के हक में बुरा होता है।

८. नदियों के डेल्टों और तराई के दलदली भागों को खेती के योग्य बनाने के लिए पानी का निकास किया जाता है।

जल-निकास की आवश्यकता—यदि खेत में पानी भरा हो और उसे रबी की फसल बोने के लिए तैयार करना है तो पानी निकालना पड़ता है। यदि यह पानी निकाला न जाय तो खेत वैसे ही छूट जाता है या पानी सुखा कर देर में बोआई की जाती है। इससे फसल अच्छो नहीं होती और परिश्रम तथा खर्च व्यर्थ हो जाता है। समय पर पानी की निकासी हो जाने पर खेत की अत्यधिक नमी निकल जाती है और भूमि जुताई के लिए तैयार हो जाती है।

सतह पर बराबर पानी के लगे रहने से हवा का प्रवेश भूमि में नहीं होता और रिक्त-छिद्रों में भी हवा को हटा कर पानी घुस जाता है। ऐसी परिस्थिति में खड़ी फसल वायु चाहती है क्योंकि वायु के न रहने पर भूमि में रहने वाली बैक्टीरिया काम करना छोड़ देती है और पौधे की खूराक में कमी आ जाती है। अतः फसल को वायु देने के लिए पानी का निकास आवश्यक होता है।

पानी के जमा होने पर खड़ी फसलें पीली पड़ने लगती हैं और उनकी अभि-वृद्धि संतोषजनक नहीं होती। कुछ स्थानों पर जंगली घासें उग आती हैं जो कृषि को नुकसान पहुँचाती हैं। जल में रहने वाले अनेक प्रकार के हानिकारक कीटाणु पानी में अण्डे देने लगते हैं। अतः इन हानिकर दशाओं से भूमि को बचाने के लिए खेत का फाजिल पानी निकाल देना चाहिए।

पानी के बराबर जमा रहने से भूमि का जल-स्तर (water table) निकट आ जाता है। इससे फसलों के आवश्यक तत्वों का घोल नीचे चला जाता है और पुनः पौधों को नहीं प्राप्त होता।

जल निकास न होने से हानियाँ—भूमि का पानी जो फाजिल होता है उसे न निकालने से बहुत-सी हानियाँ हो जाती हैं जो निम्नलिखित हैं:—

१. **तापक्रम गिर जाता है**—पानी के बराबर लगे रहने से सूर्य की गर्मी उसी पानी को भाप बनाने में खर्च हो जाती है और भूमि गर्मी नहीं ले पाती। इससे उसकी अपनी गर्मी भी समाप्त हो जाती है। ऐसा होने से इस भूमि में पौधों का जमाव या बढ़ाव नहीं हो पाता।

२. **वायु का अभाव**—ऊपरी सतह का पानी हवा को निचली सतह में जाने नहीं देता। रिक्त-छिद्रों में भरी हवा भी धीरे-धीरे पानी में प्रवेश करने पर हट जाती है और बुलबुले के रूप में बाहर निकल जाती है। हवा के न रहने पर पौधों की जड़ें बढ़ नहीं पातीं और सिमट जाती हैं जिससे खुराक में अभाव आ जाता है।

३. **लाभदायक कीटाणुओं की कमी**—भूमि में हवा के न रहने पर कृषि की सेवा करने वाले बैक्टीरिया अपना काम बन्द कर देते हैं या मर जाते हैं इनकी कमी हो जाने से पौधों को बड़ी हानि उठानी पड़ती है।

४. **हानिकारक कीटाणुओं की अभिवृद्धि**—जो बैक्टीरिया हवा की अनुपस्थिति में काम करते हैं और जीवित रह सकते हैं तथा फसल को हानि पहुँचाते हैं, संख्या में काफी बढ़ जाते हैं। वे भूमि में स्थित नाइट्रोजन खा जाते हैं। इस प्रकार भूमि की शक्ति कम हो जाती है।

५. **जड़ों की श्वास क्रिया का रुक जाना**—पौधों की जड़ें साँस नहीं पातीं क्योंकि पानी के भरे रहने से भूमि में हवा नहीं आ-जा सकती। जड़ें उथली हो जाती हैं और सड़ने लगती हैं। बाद में तेज वायु बहने पर ये गिर कर अपना जीवन ही समाप्त कर लेती हैं।

६. **फसलों की जुताई-बोआई का समय पर न होना**—भूमिको सूखने के लिए अधिक दिनों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। जुताई करने पर बड़े-बड़े ढेले निकलते हैं और शीघ्र फूटते नहीं। इससे खेत तैयार नहीं हो पाता। बोआई कर देने पर समय के पिछड़ जाने से फसल निरीह और निर्बल होती है।

७. **हानिकारक नमकों का जमा होना**—पानी के भाप बन कर उड़ने से उसमें घुले क्षार धरातल पर ही रह जाते हैं और कुछ ही दिनों में भूमि को ऊसर बना देते हैं। कुछ क्षार पानी के न बहने पर पौधों की जड़ों के समीप जमा हो जाते हैं और काफी हानि कर देते हैं। पौधे अपने भोजन लेने में असमर्थ हो जाते हैं।

८. **भूमि का दलदली होना**—अधिक नमी होने से खड़े पौधे पीले पड़ने लगते हैं और सूख कर विनष्ट हो जाते हैं। उनके स्थान पर ऐसी फसलें उग आती हैं जो भूमि के लिए श्रेयस्कर नहीं होतीं। अधिक नमी से फफूंदी आदि छोटे पौधे उग जाते हैं। भूमि दलदली हो जाती है और काम करने योग्य नहीं रह जाती।

जल-निकासी का प्रबन्ध—भूमि के अनावश्यक जल को बहाने में दो शक्तियाँ काम करती हैं—प्रथम तो प्रकृति और दूसरे मानव। प्रकृति ऐसा नहीं चाहती कि किसी स्थान पर पानी व्यर्थ रुके और वहीं सड़े। वह उसे बहा ले जाने का पूरा उद्योग करती है। यदि स्थान ऐसा होता है कि समान धरातल उससे ऊँची हो या चारों ओर ऊँची मेड़बन्दी हो तभी पानी नहीं बहने पाता। मेड़ों के काटने पर पानी बह तो जाता है परन्तु इससे भूमि के कटकर बह जाने का भय रहता है। अतः इस बात को ध्यान में रखते हुए पानी निकालना चाहिए। जब पानी धरातल से नहीं बहता तो रिक्त-छिद्रों से होकर नीचे जाना शुरू कर देता है। ऊपर से सूर्य की गर्मी भी उसे उड़ाती रहती है। यदि सब तरह से प्रकृति इस पानी को समय में उड़ा सकने में असमर्थ हो जाती है तो मानव अपने कृत्रिम ढंगों का प्रयोग करता है। कृत्रिम जल निकास के दो ढंग हैं:—

(१) खुली नालियों से (By open drains), तथा
(२) बन्द नालियों से (By under drains)

खुली नालियाँ—ये नालियाँ ऊपरी धरातल पर बनी होती हैं। ये अधिक पानी अपने साथ बहा सकती हैं। सस्ती होने के कारण हमारे देश में इसी विधि का अधिक उपयोग होता है। जिस स्थान पर निचली सतह में कंकड़-पत्थर आदि होते हैं वहाँ बन्द नालियाँ या भीतरी धरातल में नालियाँ नहीं बनाई जा सकतीं। अतः वहाँ भी

चित्र ३६—बनावटी रूप से पानी का निकास

यही विधि प्रयोग में आती है। किन्तु इस विधि में बहुत से दोष भी हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जाता है :—

(१) भूमि की सतह बराबर न होने से कुल पानी नहीं बह पाता,
(२) उपजाऊ भूमि में नालियों के बन जाने से व्यर्थ हो जाती है,
(३) अधिक भूमि बेकार हो जाती है,
(४) नालियों की उपस्थिति में खेती समुचित रूप से नहीं हो पाती, तथा
(५) नालियों के बार-बार बनाने में यथेष्ट व्यय हो जाता है।

बन्द नालियों से—यह विधि भूमि के भीतर प्रयोग की जाती है। भूमि में नालियाँ लगा दी जाती है। और ऊपर का पानी रिस-रिस कर इन नालियों में आता

है तथा इनसे होकर बह जाता है। यह पानी भूमि के भीतर ही भीतर निकल जाता है और ऊपरी धरातल, पानी से रिक्त हो जाती है।

इन नालियों के बनाने में पत्थर, लकड़ी या टाइल्स (खपड़ों) का प्रयोग होता है। इनमें टाइल्स अधिक प्रचलित हैं, यद्यपि मँहगे पड़ते हैं। पत्थर पाये जाने वाले स्थानों पर पत्थरों का ही प्रयोग होता है। लकड़ी की नालियाँ ठीक नहीं पड़तीं क्योंकि इनका सड़ाव शीघ्र ही शुरू हो जाता है और खर्च बढ़ जाता है। नालियों के बनाने में ढाल का अधिक ध्यान रखना पड़ता है। ढाल पर बनी नालियों से ही बहाव सम्भव होता है। यह बहाव प्राकृतिक ढाल की ही दिशा में होना चाहिए। इससे अधिक सरलता होती है। इन नालियों की एक दूसरे से दूरी भी पानी के बहने में अधिक सहयोग देती है। उचित दूरी की नालियाँ अधिक उपादेय होती हैं। यह दूरी भूमि की बनावट पर निर्भर करती है। अधिक भुरभुरी भूमि में ७० फी० से १०० फी० और चिकनी मिट्टी में ३० फी० की दूरी रखी जाती है। सामान्यतः ८५ फी० की दूरी प्रयुक्त होती है। बड़ी नालियों की सहायक नालियाँ भी उचित परिमाण में बनी होनी चाहिए। इनकी मात्रा ढलवें भाग में अधिक की जा सकती है। अच्छा तब होता है जब कि सहायक नालियाँ न बनाकर समानान्तर नालियाँ ही निर्मित की जाती हैं। इन नालियों का निर्माण घुमावदार न होकर सीधा होना चाहिए क्योंकि घुमवदार होने पर पानी के बहाव में अवरोध हो जाता है। जहाँ अधिक पानी हो वहाँ चौड़ी और गहरी नाली होनी चाहिए।

बन्द नालियाँ भूमि में ३ फी० से ४½ फी० की गहराई पर बननी चाहिए कारण कि कम गहराई पर होने से बोई गई फसलों की जड़ों का फैलाव ठीक रूप में नहीं हो पाता, पौधों के आहार में कमी आ जाती है और जड़ें विकसित नहीं हो पातीं। कभी-कभी समतल भूमि न पाने पर नालियाँ १½ फी० पर भी बना लेते हैं किन्तु इससे पौधों को निचली धरातल का जल उपलब्ध नहीं होता।

सीमेंट और ईंटों की नालियाँ भी बनाई जाती हैं। सीमेंट को नाली के आकार में यंत्रों की सहायता से ढालते हैं और फिर भूमि में लगा देते हैं। भूमि के ऊपरी सतह का पानी रिस-रिस कर नाली में आ जाता है। ईंटों की नालियों में यह क्रिया अधिक होती है क्योंकि ईंटें आपस में जुड़ते समय पानी के रिसने का मार्ग छोड़ देती हैं। खपरैलों में भी यही सुविधा प्राप्त होती है। पत्थरों या सीमेंट की नालियों में दो के जुड़ने के स्थान पर ही पानी रिसता है।

जल-निकास का प्रभाव—भूमि से अनावश्यक जल निकाल देने से उस पर निम्नलिखित प्रभाव पड़ते हैं :—

१. पानी के निकल जाने से भूमि की गर्मी (Soil Heat) बढ़ जाती है। इसकी अनुपस्थिति या अभाव में फसल का बढ़ाव ठीक रूप में नहीं हो पाता और पत्तियाँ सिकुड़ जाती हैं। सूर्य की गर्मी जो पानी उड़ाने में खर्च होती थी, अब भूमि को गर्मी देने लगती है।

२. आक्सीजन का अधिक अंश उपलब्ध होने लगता है। रिक्त छिद्रों से पानी के हट जाने से वायु वह स्थान ले लेती है और जड़ों को बढ़ाव की ओर अभिप्रेत करती है।

३. भूमि की जल-धारण शक्ति बढ़ जाती है और वह पानी की अधिक मात्रा शोषित करने लगती है। इससे भूमि-बहाव के अवसर अधिक उपलब्ध नहीं होते। जिस भूमि में पानी सोखने की शक्ति कम होती है, उसमें भूमि-बहाव अधिक होता है।

४. पानी के हट जाने से भूमि में जुताई-गुड़ाई, बोआई आदि क्रियाएँ सरलता-पूर्वक हो सकती हैं और समय पर बीज जम भी सकते हैं। अधिक नमी होने पर जमाव भी ठीक नहीं होता और भूमि के कड़ी हो जाने से भूमि का भुरभुरापन समाप्त हो जाता है।

५. वायु की उपस्थिति में काम करने वाली बैक्टीरिया जल निकास पर खूब काम करने लगती है। दालवाली फसलें नाइट्रोजन वायुमण्डल से खींचकर जमा करने लगती हैं। नाइट्रोफाइंग बैक्टीरिया नाइट्राइट और नाइट्रेट पैदा करने लगते हैं जिनसे फसलों का बढ़ाव संतोषप्रद होता है। डीनाइट्रीफाइंग बैक्टीरिया जो हवा की अनुप-स्थिति में जमा नाइट्रोजन को ही समाप्त कर जाती हैं, स्वयं समाप्त हो जाती हैं और फसल की हानि होने से बच जाती है।

६. भूमि के ऊपर संकलित या जड़ों के समीप के हानिकर नमक घुल कर बह जाते हैं जहाँ से उनका लौटना कठिन होता है। इस प्रकार भूमि ऊसर होने से बच जाती है।

७. मृदा का जल-स्तर (Water table) नीचे हो जाता है। इससे पौधों की जड़ों के फैलाव का पर्याप्त स्थान प्राप्त होता है और वे भोजन भी पूर्णरूप से पा जाती हैं।

८. दलदली या तराई वाली भूमि सुधर जाती है। इनमें उगे हानिकर पौधे समूल विनष्ट हो जाते हैं और भूमि में सड़ कर जीवांशों की उत्पत्ति करते हैं। हानिकर कीड़े, पतंगे जो जल में अण्डे-बच्चे बढ़ाने लगते हैं, मर जाते हैं।

९. भूमि में पानी के बराबर जमा रहने से उसके रिक्त-छिद्रों में संचित आकर्षित जल का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और पौधे की जड़ों के बढ़ाव के लिए अधिक स्थान मिलता है।

१०. जल के बहाव में भूमि कट-कट कर बह निकलने से बच जाती है क्योंकि नालियों में कम ढाल के होने से इसका अवसर ही नहीं प्राप्त होता।

जल-निकास का सिंचाई से सम्बन्ध—खेत की सिंचाई करने पर कभी-कभी अधिक पानी हो जाता है जो फसल के लिए हानिप्रद होता है। शाम की सिंचाई होने के बाद ही रात में यदि पानी पड़ जाता है तो उस खेत में अनावश्यक पानी की मात्रा अधिक हो जाती है। सींचे खेत में उसके धरातल के नीचे होने पर नहर का पानी रिस-रिस कर आता है और फसल के लिए फाजिल पानी इकट्ठा कर देता है। पौधे अपने सिंचाई द्वारा प्राप्त जल को ही लेने में किसी प्रकार समर्थ हो पाते हैं।

पानी की अत्यधिक मात्रा उनके लिए हानिकर ही होती है। सींचे खेतों में नालियों से पानी फूट कर भी बह जाता है और खेतों में जमा हो जाता है। पानी बँटाने वाले की मूर्खता से भी कभी-कभी अधिक पानी खेतों में पहुँच जाता है। यह फाजिल पानी नालियों की सहायता से खेत के बाहर कर दिया जाता है। ऊपरी धरातल के जल निकास के हेतु बनी नालियाँ पानी निकालने में काफी सहायता करती हैं और सिंचाई करते समय पानी ले आने का भी काम करती हैं। यह अत्यधिक पानी बन्द नालियों द्वारा भी बहा दिया जाता है। इससे फसल को कोई नुकसान नहीं पहुँचता।

जल-निकास का जहाँ उत्तम प्रबन्ध नहीं होता वहाँ इस अनावश्यक जल से फसल विनष्ट हो जाया करती है। कृषि की प्रगति के लिए सुव्यवस्थित जल-निकास का प्रबन्ध होना चाहिए। विदेशों में इसका प्रबन्ध अच्छा हो गया है। हमारे यहाँ भी इसका प्रबन्ध होने जा रहा है परन्तु अभी तो हमारे किसान ऊपरी धरातल की ही विधि का उपयोग करते हैं।

प्रश्न

१. हमारे देश में पानी की निकासी की आवश्यकता का वर्णन करो। (१९५१)

२. पानी के निकास की अन्यान्य विधियों का सविस्तार वर्णन करो।

३. पानी के समुचित निकास का प्रबन्ध न होने से कृषक को कौन-कौन सी हानियाँ उठानी पड़ती हैं, लिखो।

अध्याय ५

टिलेज (Tillage)

फसल के बोने के लिए खेत की तैयारी से लेकर फसल के काटने के समय तक पौधे के बढ़ाव के लिए की गई क्रियाएँ टिलेज में आती हैं। कृषि में यह शब्द बहुत व्यापक है। इसी पर फसल की सफलता और असफलता निर्भर करती है। यदि भूमि का टिलेज उत्तम ढंग से समयानुसार किया गया हो तो उपज अच्छी होती है। थोड़ी-सी भी असावधानी से पैदावार में कमी आ जाती है। भूमि की जुताई करना, पाटा देना, बोआई करना, गोड़ाई, निकाई आदि सभी क्रियाएँ टिलेज में ही आती हैं। ये क्रियाएँ बिना यंत्रों की सहायता से नहीं होतीं। अतः टिलेज में अच्छे-अच्छे यंत्र प्रयोग में आते हैं, प्राचीनकाल से ही यह क्रिया खेती-बारी में होती आयी है; किन्तु उन्नतिशील औजारों के न होने से आज से कुछ ही वर्ष पहले इसमें इतनी प्रगति नहीं थी। वैज्ञानिक यंत्रों ने इसमें पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है। किन्तु आज भी देहातों में किसान अपने प्राचीन यंत्रों की सहायता से कृषि कार्य सम्पादित करते हैं जिससे काफी प्रगति नहीं हो रही है। इन यंत्रों के न प्रयोग करने का एक और कारण यह है कि ये इतने महँगे हैं कि निर्धन कृषक इन्हें खरीदने में असमर्थ हो जाते हैं।

जब खेत जोताई करने योग्य हो जाता है तभी से टिलेज की क्रिया प्रारम्भ होती है। अनेक प्रकार के हलों से खेत की भूमि इधर-उधर उलटी-पुलटी जाती है। बड़े-बड़े ढेले आदि फोड़कर भूमि को समतल बनाने के लिए पटेला और रोलर का प्रयोग किया जाता है। खेत की मिट्टी के पूर्णरूपेण तैयार हो जाने पर फसल की बोआई कर दी जाती है। बोआई के तीन या चार दिनों बाद ही कभी-कभी पानी बरस जाता है। इससे भूमि पर एक पर्त बन जाती है जिसे अवरोध-परत (Mulch) कहते हैं। यह पर्त कड़ी होती है। इसे तोड़ कर पौधा भूमि में से बाहर निकलने में मजबूर होता है। अतः हैरो (Harrow) या कल्टिवेटर (cultivator) नामक दो यंत्रों द्वारा यह पर्त तोड़ते हैं ताकि बीज का जमाव अच्छी तरह हो सके। बीज के जमने पर पौधे के बढ़ाव के लिए आवश्यकतानुसार पानी दिया जाता है। पानी देने के बाद गुड़ाई की जाती है। जंगली घास-फूसों के उग आने से उन्हें निकालना जरूरी होता है, अतः विभिन्न यंत्रों से गोड़ाई और निकाई की जाती है। ऊख या आलू के पौधों पर मिट्टी भी चढ़ाई जाती है जो उपयोगी सिद्ध होती है। इस प्रकार फसल के कटने के समय तक जितनी भी क्रियाएँ होती हैं वे सभी टिलेज में सम्मिलित की जाती हैं।

टिलेज के उद्देश्य—इस क्रिया के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

१. मिट्टी को बीज के उगने योग्य बनाना,

२. मिट्टी के जल ग्रहण करने की शक्ति बढ़ाना,
३. भूमि की जल-धारण शक्ति बढ़ाना,
४. हानिकारक कीड़ों को निर्मूल करना,
५. घास-फूस निकाल देना,
६. मिट्टी में वायु का प्रवेश कराना,
७. भूमि की नमी स्थिर रखना,
८. मिट्टी का तापक्रम ठीक करना,
९. भूमि-बहाव कम करना, तथा
१०. मिट्टी में खाद और जीवांश मिलाकर पौधों का आहार तैयार करना।

१. भूमि खोदकर भुरभुरी और खुली हुई बनाई जाती है जिससे बीज भूमि में रहकर नमी, वायु और गर्मी पा सकें। बड़े-बड़े ढेलों के रहने से खेत की नमी शीघ्र उड़ जाती है। इसके लिए पाटा देकर अवरोध परत कायम की जाती है। मिट्टी उलटने वाले हल से भूमि भुरभुरी बनाई जाती है। जब खेत पूरा तैयार हो जाता है तो बीज बो दिया जाता है। भूमि में नमी की कमी या अत्यधिक नमी में बीज का जमाव ठीक नहीं हो पाता।

२. गर्मी के दिनों की जुताई से सूर्य की गर्मी द्वारा खेत की मिट्टी काफी जल जाती है। बराबर पलटते रहने से ऊपर से नीचे की भूमि पूर्ण तापित हो जाती है। अतः भूमि पहली वर्षा से पानी सोखना शुरू कर देती है और अन्त तक सोखती रहती है।

३. पानी सोखने के साथ-साथ पानी धारण करने की भी क्षमता बढ़ जाती है। भूमि उसे न तो भाप द्वारा उड़ाती है और न निचली तहों में जाने ही देती है। उसे अपने भीतर धारण करती है जिससे आवश्यकता पड़ने पर पौधे ले सकें।

४. भूमि बिना जुते या बिना गोड़े छोड़ देने पर अनेक हानिकारक कीड़े अपने अण्डे-बच्चे देने लगते हैं जो कृषि को क्षति पहुँचाते हैं। भूमि में रहकर वे उसकी खुराक खाते हैं और फसलों का आहार कम कर देते हैं। गर्मियों के दिनों में इन कीड़ों और चिड़ियाओं की संख्या बढ़ जाती है परन्तु जुताई से ये विनष्ट हो जाते हैं।

५. फसलों में अधिकतर ऐसे जंगली पौधे उग आते हैं जो पौधों की खुराक छीन कर खा जाते हैं और पौधों को दुर्बल बना देते हैं। हैंड हो या हैरोकल्टिवेटर से ये पौधे निकाल दिये जाते हैं। इस प्रकार निकाई द्वारा इन पौधों को विनष्ट कर देते हैं।

६. भूमि के भुरभुरी होने से वायु का प्रवेश अधिक होता है। जड़ें श्वास क्रिया सरलतापूर्वक करतो हैं और बैक्टीरिया का कार्य वायु की उपस्थिति में खूब होता है। रिक्त-छिद्रों में वायु इकट्ठी रहती है जिससे पौधों की जड़ें काफी विकसित हो जातो हैं। टिलेज द्वारा भूमि को गहराई तक भुरभुरी बना दिया जाता है।

७. बराबर मिट्टी उलटने-पलटने से भूमि के भीतर की केशाल नलियाँ (Capillary tubes) टूट जाया करती हैं। इससे नीचे का पानी नलियों से होकर

नहीं उड़ पाता। भूमि के भुरभुरी होने पर गर्मी की मात्रा अधिक प्रभाव नहीं जमा पाती। इससे नमी शीघ्र नहीं सूखती बल्कि अधिक दिनों तक जमी रहती है।

८. भूमि में अधिक नमी होने से भूमि का तापक्रम गिर जाता है जिससे फसल का बढ़ाव समुचित नहीं होता। नमी के सूख जाने पर भी भूमि कड़ी हो जाती है और जलने लगती है। इससे फसल ठीक नहीं हो पाती। जब तापक्रम उचित रूप में भूमि में बना होता है तो फसल का रूप संतोषजनक होता है।

९. जल-धारण और जल-ग्रहण करने की शक्ति बढ़ने पर भूमि में अधिक पानी शोषित होता है। इससे भूमि का कटाव रुक जाता है और उपजाऊ भूमि बच कर स्थिर रह जाती है।

१०. खेत के ऊपरी सतह पर रखी हुई खाद उलट-पुलट कर भूमि में मिलाई जाती है। इससे इसका प्रत्येक अंश घुल-मिल कर फसल के काम आता है। खाद के न देने पर भी भूमि में रह गई फसलों की जड़ें सड़कर खाद बन जाती हैं। पौधों की गिरी हुई पत्तियाँ भी जीवांशों का निर्माण करती हैं। इसी आधार पर एक अँग्रेजी विद्वान् का कथन है कि टिलेज ही खाद है (Tillage is manure)। भूमि में टिलेज की सभी क्रियाओं को समुचित रूप से करने से भूमि खाद का काम देने लगती हैं।

टिलेज का विभाजन—टिलेज की सारी क्रियाएँ दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं :—

१. प्रारम्भिक
२. सम्बन्धित

प्रारम्भिक टिलेज में खेत की जुताई और पाटा चलाने का कार्य आता है। अतः बीज बोने से पहले यंत्र द्वारा भूमि में की जाने वाली क्रियाएँ प्रारम्भिक कहलाती हैं और बोआई के बाद से कटाई तक की क्रियाएँ सम्बन्धित कही जाती हैं। सम्बन्धित क्रियाएँ खड़ी फसल में की जाती हैं। प्रारम्भिक तैयारी में खेत जोतकर मिट्टी में भुरभुरापन लाते हैं जिससे खेत की नमी बनी रहती है। जुताई इतनी गहराई तक हो जाती है, जहाँ तक पौधों की जड़ें फैल सकें। वायु का प्रवेश भली-भाँति होता है ताकि पौधे की जड़ें श्वास क्रिया कर सकें और बैक्टीरिया का काम भी अनुकूल हो। भूमि इस योग्य हो जाती है कि वह पौधों को दृढ़तापूर्वक पकड़ सके क्योंकि ऐसा न होने पर फसल के गिर जाने का भय बना रहता है। खेत के ढेले आदि फोड़कर समतल बना देते हैं ताकि सिंचाई में सरलता हो। खेत के समतल न होने पर वर्षा का पानी नीचे वाले भाग में जमा हो जाता है और कृषि को बहुत नुकसान पहुँचाता है। सम्बन्धित क्रियाओं में फसल के खर-पतवार निकाल कर फेंक देते हैं। भूमि के ऊपरी सतह की कड़ी पर्त तोड़कर भूमि भुरभुरी बनाते हैं और नमी रोकने के लिए अवरोध परत का प्रबन्ध करते हैं। अनेक फसलों की जड़ों पर, उन्हें पूरी खुराक देने के लिए मिट्टी चढ़ाते हैं।

खेत की जुताई—कृषि-विज्ञान में खेत की जुताई का अधिक महत्व है। जुताई का अर्थ खेत की मिट्टी उलटना होता है। उलटने में खेत की ऊपर वाली मिट्टी नीचे और नीचे की ऊपर हो जानी चाहिए क्योंकि ऊपर की भूमि अपनी खुराक पौधों को दे चुकी रहती; किन्तु नीचे वाली भूमि के तत्व अभी संचित रहते हैं। ऊपर की भूमि जब नीचे चली जाती है तो उसे सुअवसर प्राप्त होता है और वह फिर अपनी खोई शक्ति प्राप्त कर लेती है। मिट्टी उलटने की यह क्रिया देशी हल से नहीं हो पाती। इसके लिए उन्नतिशील कृषि-हल जैसे मेस्टन, पंजाब, विक्टरी आदि की आवश्यकता होती है। इन्हें जाड़ा, गर्मी और बरसात सभी ऋतुओं में प्रयुक्त कर सकते हैं। खेत की जुताई ऋतुओं के आधार पर तीन वर्गों में बांटी जा सकती है :—

१ वर्षा की जुताई (Rainy season cultivation),
२. जाड़े की जुताई (Winter cultivation), तथा
३. गर्मी की जुताई (Hot weather cultivation)

वर्षा की जुताई—यह जुताई गेहूँ और गन्ने की फसल के बोने की तैयारी में जुलाई से प्रारम्भ होकर सितम्बर के महीने तक की जाती है। पहली वर्षा या दूसरी-तीसरी वर्षा के बाद से यह शुरू की जाती है और बरसात भर जारी रहती है। खेत जोतने से पानी की अधिक मात्रा सोखता है और उसे धारण भी करता है। इससे भूमि-बहाव के अवसर कम मिलते हैं। भूमि पर उगे अनेक प्रकार के खर-पतवार उलट-पलट कर नष्ट हो जाते हैं और मिट्टी में मिल कर जीवांश की अभिवृद्धि करते हैं। देशी हल से यह जुताई अच्छी तरह नहीं होती। मिट्टी पलटने वाले हल इसके लिए अति उपकारी होते हैं।

सर्दी के ऋतु की जुताई—रबी की फसल की बोआई के लिए यह जुताई की जाती है। इसमें मिट्टी अधिक भुरभुरी बनायी जाती है। साथ ही बीज के जमने के लिए पर्याप्त नमी का भी ध्यान रखा जाता है। यदि भूमि में नमी की कमी हो तो पलेवा (हल्की सिंचाई) द्वारा भूमि को नम बना देते हैं। इससे खेत के बड़े ढेले फूटने योग्य हो जाते हैं और अधिक नमी भी संचित हो जाती है। इस जुताई में मिट्टी उलटने वाले हल प्रयुक्त नहीं होते बल्कि देशी हल या हैरो और कल्टिवेटर काम में लाये जाते हैं। इस जुताई का मुख्य उद्देश्य भूमि को काफी भुरभुरी और बारीक बनाना होता है। इससे, दूब आदि घास-फूस उखड़ कर विनष्ट हो जाते हैं। जब खेत जुत कर पूरा तैयार हो जाता है तो उसे पाटा देकर समतल बनाते हैं। इस प्रकार उसकी नमी स्थित रहती है, शीघ्र नहीं उड़ पाती।

गर्मी की जुताई—खेती-बारी में यह जुताई अधिक महत्व रखती है क्योंकि इसके लिए गर्मी की पूरी ऋतु मिलती है जबकि किसान को अन्य कृषि कार्यों से अवकाश-सा रहता है। रबी की फसलों की कटाई के बाद ही यह जुताई प्रारम्भ कर देनी चाहिए। कारण, कि उस समय भूमि कुछ नम-सी रहती है और उसमें फसलों के गिरे पत्ते-डंठल आदि मौजूद रहते हैं। फसलों की जड़ें भी उलट-पुलट कर सड़ाव शुरू कर देती हैं और भूमि के लिए खाद का काम करती हैं। प्रायः देखा जाता है कि

इन दिनों किसान खाद के ढेर भूमि के ऊपरी धरातल पर छोड़ देता है जो उसी स्थिति में रहने पर सूर्य की गर्मी और वायु के झोंकों से अपनी उपयोगिता विनष्ट कर देती है। जुताई से यह खाद मिट्टी में मिला दी जाती है जो भूमि की उर्वरता बढ़ाती है। अधिक गर्मी से संतप्त होकर अनेक कीड़े या पतिंगे भूमि में ही अपना घर बनाते हैं और अंडे-बच्चे देना शुरू कर देते हैं। इससे कृषि को हानि पहुँचती है। किन्तु गर्मी की जुताई से ये हानिकारक कीड़े विनष्ट हो जाते हैं। खेत के जुते रहने पर ढेले पाये जाते हैं। पछुआ हवाओं द्वारा उड़ाई गई पत्तियाँ इन ढेलों में रुक जाती हैं और भूमि में जीवांश बढ़ाती हैं। उलटने-पलटने से सूर्य की गर्मी से मृदा काफी सूख जाती है। सूखने से उसमें पानी अधिक सोखने की शक्ति आ जाती है और वह वर्षा का पानी खूब सोखती है। इससे भूमि कट कर बहने से बच जाती है, साथ ही जंगली घास-फूस जो उग आये रहते हैं, उखड़ कर सूख जाते हैं और इस प्रकार उनके हानि पहुँचाने का भय ही नहीं रहता।

टिलेज में प्रयुक्त होने वाले यंत्र—इस क्रिया में बहुत से यंत्रों का उपयोग होता है जो भिन्न-भिन्न समय पर विभिन्न कार्यों में लाये जाते हैं। हलों का प्रयोग टिलेज में सर्वप्रथम होता है। ये हल कई प्रकार के होते हैं। देशी हल इनमें बहुत प्राचीन काल से चलता आ रहा है। इसका प्रयोग आज भी होता है किन्तु आजकल इसके स्थान पर अनेक उन्नतिशील वैज्ञानिक हल बना लिये गये हैं।
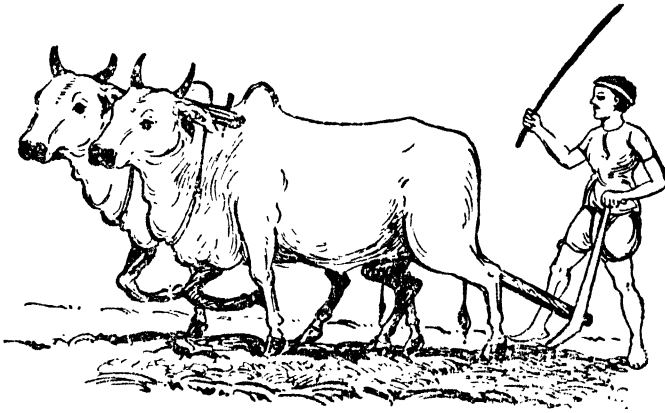
चित्र ३७—देशी हल से जुताई

देशी हल—ये हल बहुत सस्ते और साधारण होते हैं। इनके बनाने में विशेष कारीगरी की आवश्यकता नहीं होती और न बहुमूल्य सामान ही लगते हैं। गाँव का मामूली बढ़ई भी इसे तैयार कर सकता है और टूटने पर बना सकता

है। ये हल भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयोग किये जाते हैं परन्तु इनका कार्य लगभग एक ही-सा होता है। ये भूमि में ३" से ४" तक की गहराई तक की मिट्टी कुरेदते हैं और २" से ३" चौड़ी कूँड़ बनाते हैं। इनकी कूड़ों का आकार अँग्रेजी के अक्षर 'वी' (V) की भाँति होता है। इससे दो कूड़ों के मध्य का भाग बिना जुते रह जाता है। इसलिए इससे उपज अच्छी नहीं मिलती। कुछ लोग तो देशी हल को हल कहने में भी संकोच करते हैं क्योंकि हल उस यंत्र को कहते हैं जो मिट्टी को पलटता है। यह हल मिट्टी को इधर से उधर कर देता है। इससे नीचे की मिट्टी ऊपर और ऊपर की मिट्टी नीचे नहीं हो पाती। इस हल के कई भाग होते हैं जिनका विवरण नीचे दिया जाता है:—
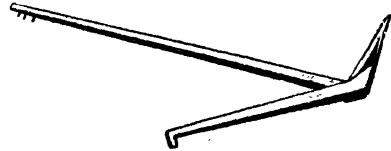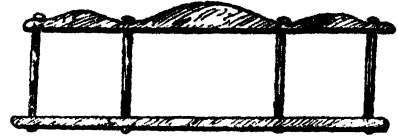
चित्र ३८—देशी हल और जुवाठा

१—हरिस या हलस, २—परौथा या पाथा, ३—फार, फारी या फाली, ४—हत्थी या मुठिया, ५—पचासे या फाना, ६—वरील, गोखरू या नेसक और ७—धड़।

हरिस लम्बाकार लकड़ी का टुकड़ा होता है जो बैल के जुए से हल के अन्य भागों को सम्बन्धित करता है। यह शीशम, महुए या बबूल की लकड़ी का बना होता है: इसके अगले सिरे पर छिद्र या कटाव बनाये गये होते हैं जिनमें रस्सी डालकर जुए से बाँध दिया जाता है। इसकी लम्बाई भूमि की गहरी जुताई पर निर्भर करती है। फार और हरिस के बीच बना हुआ कोण कूँड़ को उथला और गहरा बनाता है। हल का दूसरा भाग परौथा या पाथा कहलाता है जो हल के पिछले अंग में रहता है। यह अलग से लगाया जाता है। पर कभी-कभी हल के धड़ की ही लकड़ी से बना होता है। तीसरा अंग फार या फाली होता है जो मिट्टी चीरता है। फार कास्ट आयरन का बना होता है। यह परौथा में लगा रहता है और इसकी आगे की नोक बाहर निकली रहती है। इसे दृढ़ रखने के लिए दो या तीन कीलें लगायी गई रहती हैं। फार आवश्यकतानुसार बाहर निकाला जा सकता है क्योंकि चलते-चलते ये घिस या मुड़ जाते हैं। ऐसी दशा में उन्हें निकाल कर ठीक किया जाता है और फिर पूर्ववत् लगा दिया जाता है। परौथा का ऊपरी भाग मुठिया कहलाता है जिसे हलवाहा हाथ से पकड़ कर बैलों को हाँकता है। कूँड़ गहरा करने के लिए परौथा को जोरों से दबाना पड़ता है। हल्का कर देने पर कूँड़ उथली हो जाती है। परौथा में हरिस को मजबूत करने के लिये पचासे या फाना का प्रयोग किया जाता है। यह लकड़ी का छोटा टुकड़ा है जो हरिस की जड़ में उसी के समानान्तर लगा रहता है। परौथा के पिछले भाग में हरिस की जड़ में एक छेद बना रहता है जिसमें लकड़ी या लोहे की कील लगा कर इस योग्य बना देते हैं कि ये शीघ्र अलग न हों

सकें। इसे नेसक या वरीस कहते हैं। हरिस को छोड़ कर बाकी सब भाग धड़ में सम्मिलित होते हैं।

दूसरे प्रकार के हल मिट्टी को पलटने वाले (Soil inverting plough) होत हैं। इन्हें मोल्ड बोर्ड हल (Mould Board plough) कहते हैं। इनमें मेस्टन, गुर्जर आदि साधारण कोटि के होते हैं। पंजाब, विक्ट्री आदि पहियों वाले होते हैं और महँग होते हैं। हैरो और कल्टिवेटर भी हल की ही श्रणी में आते हैं।

मेस्टन हल––उन्नतिशील हलों में मेस्टन हल का प्रयोग आजकल बहुत हो रहा है। इसकी बनावट बिल्कुल साधारण और हल्की है। इसकी कुल तौल लगभग १७ सेर की होती है। इसे खींचन में ३ मन का बोझ पड़ता है जिसे बैलों को साधारण जोड़ी भी खींच सकती है। यह भूमि में ५" से ७" चौड़ा और ४" से ५" गहरा कूँड़ निर्मित करता है। इसमें लगा मोल्ड-बोर्ड मिट्टी को पलट देता है और ऊपर की मिट्टी नीचे तथा नीचे की मिट्टी ऊपर कर देता है। मूल्य कम होने से किसान इसे खरीद सकन में भी समर्थ होत हैं। मेस्टन हल के निम्नाँकित भाग होते हैं:––
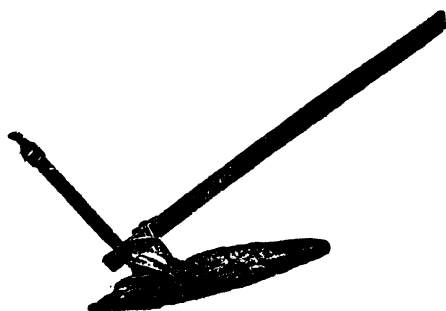
चित्र ३९––मेस्टन हल

(१) **हरिस**––यह पतला, लम्बा लकड़ी का भाग है जिसके सिरे पर कई छेद किए रहते हैं।

(२) **मोल्ड बोर्ड**––फार द्वारा कटी मिट्टी इसी पर आ जाती है और यह उसे उलट देता है। यह लोहे का होता है।

(३) **हैंडिल या मुठिया**––इसे पकड़ कर हल चलाया जाता है।

(४) **फाल या शेयर**––यह लोहे की चौड़ी धार वाला भाग है जो मिट्टी काटता है।

(५) **बाडी या धड़**––इस भाग में सभी जोड़ आ जाते हैं।

(६) **बोल्ट और नट**––इस हल में कई कील और ढिबरियाँ होती हैं जिनके द्वारा हल के पुर्जे कसे जाते हैं।

मेस्टन हल का प्रयोग दोमट भूमि में बहुत अधिक होता है क्योंकि इसे पलटने में आसानी पड़ती है। किसानों को इस हल का उपयोग ज्ञात हो गया है। इसीलिए अब वे देशी हल के स्थान पर इसका प्रयोग करने लगे हैं।

गुर्जर हल––गुर्जर हल ठीक मेस्टन की भाँति होता है। यह बहुत हल्का और कम दाम का होता है। इससे बैलों की साधारण जोड़ी भी इसे खींच सकती है। अतः

इसका प्रयोग अधिक रूप में होता है। यह एक दिन में ½ एकड़ से एक एकड़ तक की भूमि जोत सकता है। इसके कूँड़ ५"–७" चौड़े और ४"–५" गहरे होते हैं।

शाबाश हल—यह मिट्टी उलटने वाला हल है जो तौल में केवल १६ सेर होता

चित्र ४०—शाबाश हल (बीज बोने की नली के साथ)

चित्र ४१—शाबाश हल

होता है। इसे साधारण शक्ति वाले बैल आसानी से खींच सकते हैं। यह एक दिन में ३' से ४' एकड़ खेत की जुताई कर सकता है। इस हल से ४" से ६" गहरी कूँड़ बनती है और भूमि की जुताई के साथ-साथ खेत के खर-पतवार भी विनष्ट हो जाते हैं। इसमें हैंडिल, बाडी, हरिस, मोल्ड-बोर्ड और शेयर (फार) पाँच अंग होते हैं।

पंजाब हल—यह हल मिट्टी उलटने वाला है जिसमें दो हैंडिल लगे रहते हैं। हैंडिल पीछे की ओर झुके होते हैं। आगे की ओर लकड़ी की हरिस लगी होती है। इसमें आगे सिरे पर एक छेद वाला लोहे का छड़ लगा रहता है जिसमें एक छल्ले पर कुंदा लटकता रहता है। इसे आवश्यकतानुसार कम और अधिक चौड़ा बनाया जाता है। हरिस में एक पहिया लगी होती है जिससे कूँड़ की गहराई कम-अधिक बनाई जा सकती है। गहराई कम करने के लिए पहिए की ढिबरी को ढीला और नीचा करके कस देते हैं। पर गहराई बढ़ाने के लिए पहिए को ऊँचा कर ढिबरी द्वारा कसना चाहिए। इस हल द्वारा ८"-१०" चौड़ा और ८"-६" गहरी कूँड़ बनती है। इसमें दो आदमियों

की आवश्यकता होती है। एक बैलों को हांकता है तो दूसरा हैंडिल सीधा रखता है। इसमें बैलों को अधिक बल लगाना पड़ता है क्योंकि हल भारी होता है और अधिक
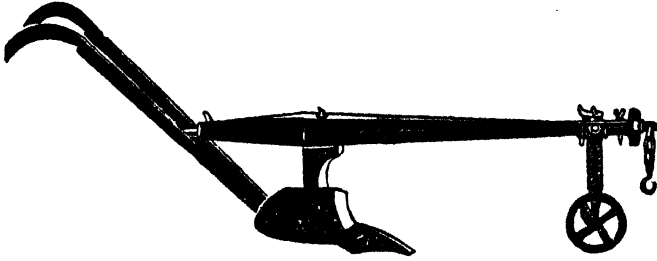
चित्र ४२—पंजाब हल

मिट्टी उलटता है। इसलिए साधारण बैलों द्वारा काम न लेकर मजबूत बैलों से ही इसे चलाना चाहिए। इससे एक दिन में एक एकड़ भूमि सरलतापूर्वक जोती जा सकती है। पंजाब हल अधिक महँगा पड़ता है। इसीलिए गरीब किसान इसे खरीदने में मजबूर हो जातेहैं और इससे फसल को लाभ नहीं पहुँच पाता।

इस हल का प्रयोग हरी खाद वाली फसल को उलटने में अधिक अच्छा होता है क्योंकि यह एक ओर को ही मिट्टी उलटता है। परती भूमि जोतने में भी यह अच्छा काम देता है। गन्ना की फसल के लिए नालियाँ बनाने या ग्रीष्म ऋतु की जुताई में यह प्रयुक्त होता है।

विक्ट्री हल—विक्ट्री हल पंजाब हल से मिलता-जुलता है। इसमें भी दो हैंडिल होते हैं जो लोहे या लकड़ी के बने होते हैं। इसका शेयर कम लम्बा पर अधिक चौड़ा होता है। यह मध्य भाग में उथला और दाहिनी ओर अधिक झुका रहता है। मिट्टी को काटने वाला अंग अधिक तेज और कड़ा होता है। कभी-कभी अच्छा काम करने के लिए इसमें कोल्टर लगाया जाता है जो तेज काम करता है और कड़ी भूमि को शीघ्र काट देता है। इसमें सामर्थ्य भी अपेक्षाकृत कम लगानी पड़ती है।
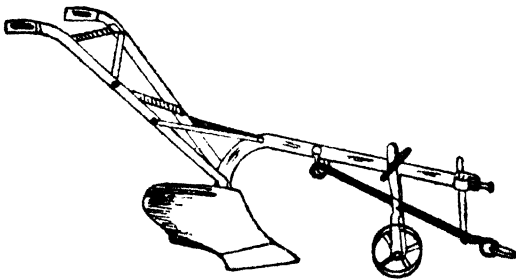
चित्र ४३—विक्ट्री हल

इसके प्रधान अंग मोल्ड-बोर्ड हैंडिल हरिस, पहिया, शेयर, ब्रैकेट और छल्ले होते हैं। इससे २"–६" गहरी और ६"–१०" चौड़ी कूँड़ बनती है। पंजाब हल की भाँति यह भी महँगा पड़ता है। इसीलिए इसका प्रयोग साधारणतया सभी लोग नहीं कर पाते।

चित्र ४४—मानसून हल

मानसून हल—यह हल (चित्र ४४) भी अन्य वैज्ञानिक हलों की भाँति उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसका प्रयोग कड़ी भूमि में अधिकतर होता है। इसमें सामर्थ्य तो अधिक लगाना पड़ता है पर काम अच्छा होता है। इसके शेयर की नोक दोनों ओर से काम दे सकती है। यदि एक ओर से घिस जाय तो दूसरी ओर से भी काम कर सकती है। इसकी कूँड़ काफी गहरी और चौड़ी होती है।

चित्र ४५—वाहवाह हल

वाहवाह हल—इस हल को वाह वाह साहब ने बनाया है। यह विक्ट्री हल से हल्का होता है और साधारण किसानों के लिए अच्छा काम देता है। इससे एक दिन में एक एकड़ से डेढ़ एकड़ तक खेत जोता जा सकता है।
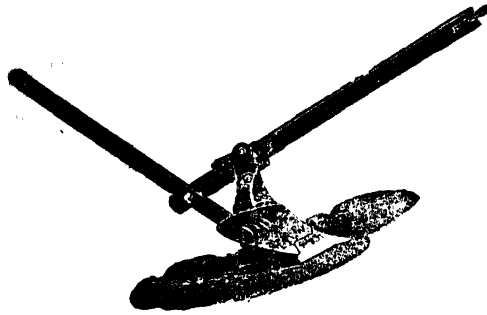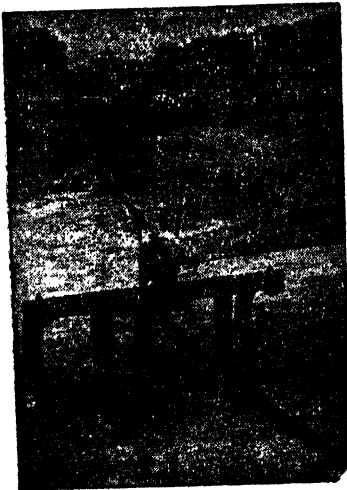
वाट्स हल—वाट्स हल दो प्रकार का होता है। प्रथम बड़ी हरिस वाला होता है और दूसरा छोटी हरिस वाला। छोटी हरिस वाले को खींचने के लिए जुए में जंजीर लगानी पड़ती है। यह हल घुमाने में सुविधाजनक होता है। इसकी कूड़ ६" से ७" गहरी और इतनी ही चौड़ी होती है।

टर्नरेस्ट हल—यह पंजाब और विक्ट्री हल की भाँति दो हैंडिल का होता है। इसकी नोक कास्ट आयरन की बनी होती है। इसका मोल्ड-बोर्ड सरलता

पूर्वक बदला जा सकता है। इसी सुविधा से इस हल द्वारा खेत को जुताई खेत के बीच से ही की जाती है और बैलों को किनारे-किनारे नहीं घूमना पड़ता। पहले कूँड़ में ही दूसरे कूँड़ की मिट्टी गिरती है : इससे भूमि ऊँची नीची नहीं होने पाती समतल ही बनी रहती है। इस हल में हरिस, हैंडिल, हेड शेयर और मोल्ड-बोर्ड मुख्य अंग हैं। टर्नरेस्ट हल कई प्रकार का होता है जिनमें ए० टी०, बी० टी० और सी० टी० तीन मुख्य हैं। इनमें ए० टी० हल हल्की भूमि में और सी० टी० कड़ी भूमि में गहरी जुताई करने के लिए प्रयुक्त होता है। सामान्यतः इस हल से बनी कूँड़ ८" चौड़ी और ४" गहरी होती है।
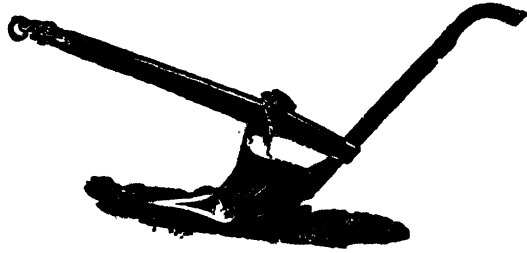
चित्र ४६—वाट्स हल

यू० पी० हल नं० १—यह हल जड़ों पर मिट्टी चढ़ाने मेंड़ बनाने और नाली बनाने के काम आता है। २"–६" की खुदाई करने में भी यह अच्छा काम करता

चित्र ४७—यू० पी० हल नं० १

है। इसके कूंड़ ६" चौड़े और ४"–६" गहरे होते हैं। एक हल पर १० से १२ एकड़ खेत जोता जा सकता है। यह बहुत मजबूत होता है क्योंकि इसकी हरिस इस्पात लोहे की बनी होती है। ९ या १० मन तौल वाले बैल इसे आसानी से खींच सकते हैं।

यू० पी० हल नं० २—यह हल गर्मी की जुताई, हरी खाद के पलटने और मिट्टी उलटने में अच्छा काम करता है। इसमें एक विशेष भाग 'कटर' लगा होता है

जिसकी सहायता से कड़ी भूमि जोती जाती है। यह एक दिन में एक एकड़ खेत जोत सकता है। इसके कूड़ ८" गहरे और इतने ही चौड़े होते हैं।
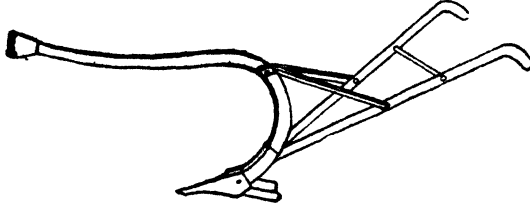
चित्र ४८—यू० पी० हल नं० २

इन हलों के अतिरिक्त पत्थर तोड़, जोट आदि कई हल हैं जिनका प्रयोग कृषि में खेतों की मिट्टी उलटने में किया जाता है।

देशी और वैज्ञानिक हलों में अन्तर

उपर्युक्त विवरण से हमें देशी और वैज्ञानिक हल की बनावट और इनकी कार्य-क्षमता का स्पष्टीकरण हो गया है, यहाँ हम इनके अन्तर समझेंगे—

देशी	वैज्ञानिक
१. इस हल को गाँव का साधारण बढ़ई मामूली हथियारों से तैयार कर सकता है।	इन्हें तैयार करने में विशेष कारीगरी की जरूरत होती है।
२. यह 'वी' (V) के आकार का कूँड़ बनाता है। इससे अधिक भूमि बिना जुते छूट जाती है।	ये मिट्टी इस प्रकार उलट देते हैं कि थोड़ी-सी भी भूमि बिना जुते नहीं छूटती।
३. यह भूमि को चीरता है और बहुत कम मिट्टी को ही कुरेद पाता है।	यह ८"-१०" गहरा और १०"-१२" चौड़ा कूँड़ बनाता है।
४. यह भूमि में जुताई, गुड़ाई आदि लगभग सभी अवस्थाओं में प्रयोग किया जाता है।	इन हलों को गर्मी की जुताई, हरी खाद देते समय अथवा कड़ी भूमि को जोतते समय प्रयोग किया जाता है।
५. देशी हल सस्ते और हल्के होते हैं। इन्हें बैलों की साधारण जोड़ी भी खींच सकती है।	वैज्ञानिक हल महँगे और भारी होते हैं। खींचने के लिए बड़े और मजबूत बैलों की आवश्यकता होती है।
६. इन हलों से भूमि के खर-पतवार विनष्ट नहीं हो पाते।	ये हल भूमि के घास-फूस को जड़ समेत काट देते हैं और निचली सतह में ढँक देते हैं। जिससे ये सड़कर खाद बन जाते हैं।

देशी	वैज्ञानिक
७. यदि देशी हल के ही भरोसे खेती की जाय तो साधारण उपज वाली कृषि ही हो सकती है।	केवल मिट्टी पलटने वाले हल पर कृषि नहीं की जा सकती। देशी हलों का भी प्रयोग करना पड़ता है।
८. इससे जुताई करने में समय बहुत अधिक लगता है।	इन हलों से कम ही समय में खेत अधिक मात्रा में जोते जा सकते हैं।

ट्रैक्टर—यह एक नए प्रकार का हल है जो इंजिन द्वारा संचालित होता है। इससे फसल की जुताई, बोआई, खाद देना, बोझा ढोना, कुट्टी काटना, जंगल साफ करना, मेड़ें बनाना आदि कृषि कार्य किये जाते हैं। प्रायः इसका प्रयोग कड़ी भूमि वाले क्षेत्रों में किया जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं। पहला चैन या ट्रक वाला होता है। यह भारी, कड़ी और गीली भूमि में काम में आता है। काँस वाली भूमि और जंगलों को साफ करने में यह सफल सिद्ध होता है। दूसरा ट्रैक्टर पहिया वाला है जिसमें पहिये लगे होते हैं। यह बड़े क्षेत्रों के अतिरिक्त छोटे-छोटे खेतों में भी चलाया जाता है क्योंकि इसके घूमने में आसानी होती है। इसको चलाने के लिए एक संचालक की आवश्यकता होती है जो ट्रैक्टर को इच्छानुसार घुमाता रहता है। इसके द्वारा पर्याप्त गहराई की मिट्टी पलटी जाती है। यह ऊपर की मिट्टी को नीचे और नीचे की मिट्टी को ऊपर कर देता है। जुती मिट्टी को समतल बनाने के लिये देशी हल की आवश्यकता होती है।
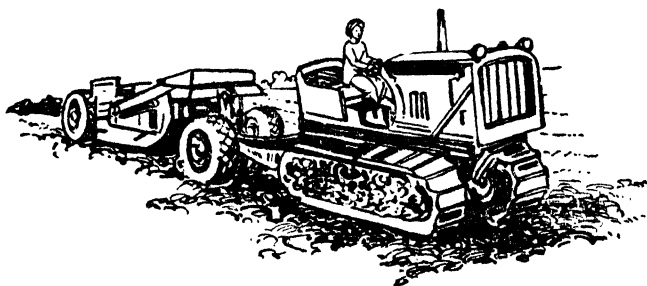
चित्र ४९—ट्रैक्टर

इसकी सहायता से गन्ना पेरना, तेल निकालना, गहराई से पानी उठाना आदि कार्य भी किये जाते हैं।

हैरो—(Harrow)—यह यंत्र कृषि कार्य में अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसमें पतले और लम्बे आकार के नुकीले काँटे होते हैं जिन्हें लकड़ी के ढाँचे में लगाया गया रहता है। इसमें आगे की ओर बैलों के जुए से सम्बधित होने का प्रबन्ध होता है। इसके चलाने में एक जोड़ी बैल और एक हाँकने वाले की आवश्यकता होती है। हैरो का प्रयोग निम्नलिखित दशाओं में किया जाता है:—

१. बोआई के बाद पानी बरसने पर पपरी तोड़ने में,
२. भूमि को भुरभुरी बनाने में,
३. खेत के खर-पतवार निकालने में,
४. गोबर की खाद के ढेर को बिखेरने में, तथा
५. पौधों के लिए भूमि में नमी स्थिर रखने में।

हैरो कई प्रकार के होते हैं। आकार के अनुसार इनके निम्नांकित वर्गीकरण हो सकते हैं——

१. स्प्रिंग टूथ हैरो या कमानीदार हैरो,
२. स्पाइक टूथ हैरो या खूँटीदार हैरो,
३. डिस्क हैरो या तवादार हैरो, तथा
४. तिकोना हैरो या ट्रैंगुलर हैरो।

कमानीदार हैरो——यह हैरो कँकरीली भूमि को खोदने के लिए प्रयोग होता है। इसके दाँत लम्बे और अर्धचक्राकार होते हैं। ये दाँत लीवर द्वारा एक ढाँचे में लगे होते हैं जिन्हें आवश्यकतानुसार ऊपर और नीचे किया जाता है। जुताई करते समय फालों को नीचे कर लिया जाता है। परन्तु एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाते समय इन्हें ऊपर कर लेते हैं। यह हैरो देशी हल की जगह प्रयोग किया जाता है क्योंकि यह उससे पाँच गुना काम उतने ही समय में कर लेता है। जब वर्षा के मारे रबी के खेत तैयार न हों और बोआई का समय बिल्कुल आसन्न हो तो कमानीदार हैरो प्रयुक्त होता है। यह भूमि को भुरभुरी करता है और नीचे दबी घासों आदि को भी निकाल कर बाहर कर देता है। यह एक दिन में ३-४ एकड़ खेत जोत देता है। इसमें बहुधा सात, पाँच या तीन कमानियाँ लगती हैं।
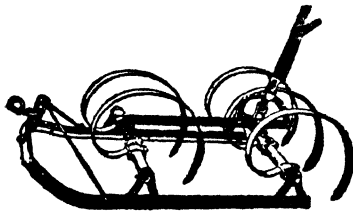
चित्र ५०——कमानीदार

खूँटीदार हैरो या स्पाइक टूथ हैरो——इस हैरो में खूँटियाँ लोहे के चौकठ में लगी होती है। चौकठ के बीच में घुमाने वाले आँकड़ों में सम्बन्धित पटरियाँ जुड़ी होती हैं। ये खूँटियाँ लीवर द्वारा सीधी और तिरछी की जाती हैं। इन्हें आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ा सकते हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने पर खूँटियो को तिरछी कर देते हैं। इसकी सहायता से भूमि की पपरी तोड़ी जाती है। खड़ी फसल के खर-पतवार को भी इसकी सहायता से निकाला जाता है। खेत के बड़े-बड़े ढेलों को फोड़ कर बारीक बनाने के लिए भी यह उपयोगी होता है।
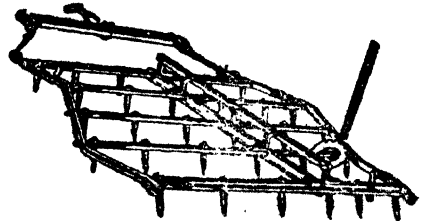
चित्र ५१——स्पाइक टूथ हैरो

तवादार हैरो—ये हैरो कई प्रकार के होते हैं। गोल किनारे या पूरे तवे वाले, तेज नोक वाले और आरीनुमा तवे वाले। इनका प्रयोग चरागाहों की कड़ी भूमि जोतने, पथरीली भूमि को ठीक करने और गीली भूमि को सुखाने में होता है। बड़े-बड़े ढेलों को भुरभुरा करने में ये काम में लाये जाते हैं।
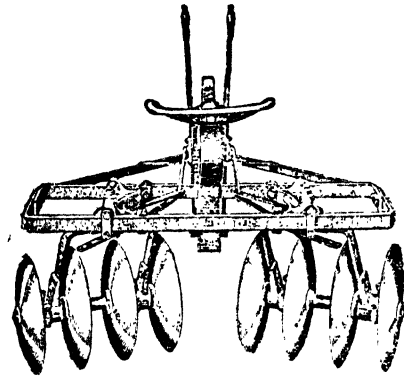
चित्र ५२—तवादार हैरो

तिकोना हैरो—तिकोने ढाँचे में लगे रहने के कारण इसे तिकोना हैरो कहते हैं। इसका ढाँचा लकड़ी का होता है। इसी में लम्बे-लम्बे काँटे लगे होते हैं; परन्तु इनके सीधे और तिरछे करने का कोई प्रबन्ध नहीं होता है। पहले से ही ये काँटे इस प्रकार
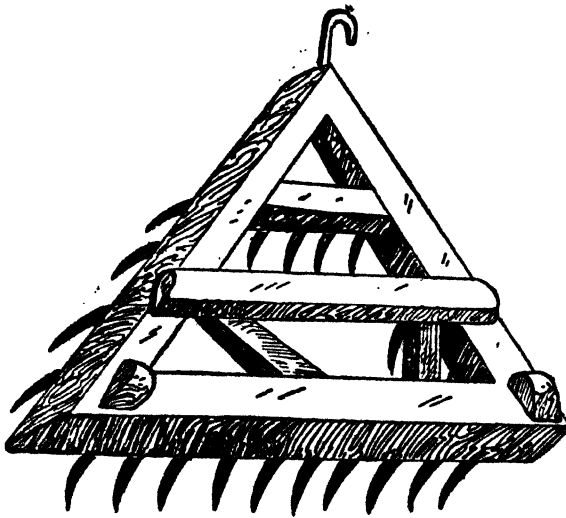
चित्र ५३—तिकोना या तिकोनिया हैरो

सध कर लगाये गए होते हैं कि पपड़ी वाले खेत में लगाने पर बड़ी सरलतापूर्वक पपड़ी

तोड़ी जा सकती हैं। सिंचाई के बाद गुड़ाई करने में भी इस हैरो से अच्छा काम होता है। यह सस्ता और आकार में भी छोटा होता है।

कल्टिवेटर—यह हैरो की ही कोटि का यंत्र है जो ढांचों में लोहे की लम्बी और नुकीली कीलों के लगाने से बनता है। ये कांटे हैरो के कांटों की अपेक्षा लम्बे होते हैं और सिरे पर झुके रहते हैं। इन कांटों की पारस्परिक दूरी कम या अधिक करने का प्रबन्ध इसमें रहता है जिससे पंक्तियों में बोई गई फसलों में बड़ी सरलता-पूर्वक गुड़ाई की जा सके। इसके अतिरिक्त खेत की मिट्टी भुरभुरी करना, खेत में खाद अच्छी तरह मिलाना और छिटकवां विधि से बोई गई फसल के बीजों को भूमि में मिला देना भी कल्टिवेटर के कार्य हैं। बोआई के पहले या बाद में हल्की वर्षा होने पर कल्टिवेटर का प्रयोग किया जाता है। ये कई प्रकार के होते हैं :—

१. मेकोर्मिक कल्टिवेटर,
२. कानपुर कल्टिवेटर तथा
३. वाह वाह कल्टिवेटर।

मेकोर्मिक कल्टिवेटर—इस यंत्र का प्रयोग उत्तर प्रदेश में अधिक रूप से है। इसमें पतले, चौड़े और भूमि उलटने वाले फाल लगे होते हैं। इन फालों की संख्या
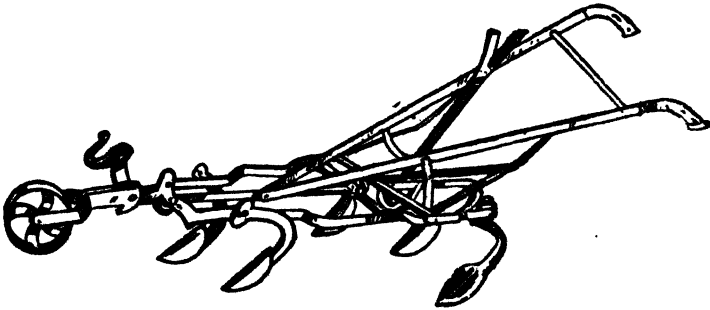
चित्र ५४—मेकोर्मिक कल्टिवेटर

५ से ९ तक होती है। चौड़ाई घटाने और बढ़ाने के लिए इसमें एक लीवर लगा होता है। यह लीवर एक स्प्रिंग द्वारा यंत्र में निश्चित किया गया होता है। इसे बैलों द्वारा चलाते हैं और २ से ३ एकड़ भूमि एक दिन में जोत देते हैं।

कानपुर कल्टिवेटर—यह सस्ता कल्टिवेटर है। इसमें कांटों की संख्या ५ होती है। कांटों की चौड़ाई घटाई-बढ़ाई जा सकती है। पंक्तियों में बोई गई फसल की निकाई इस यंत्र से कम ही समय में अधिक हो सकती है। एक दिन में २ एकड़ से

लेकर ३ एकड़ तक की गुड़ाई हो सकती है। इसका खिचाव ढाई हंडरवेट के लगभग पड़ता है।
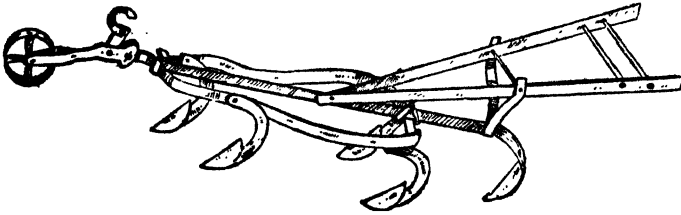
चित्र ५५——कानपुर कल्टिवेटर

वाहवाह कल्टिवेटर——अपनी अधिक कीमत और भारीपन के कारण इसका प्रचार अभी तक अधिक नहीं हो पाया है।

हो——यह एक यंत्र है जिसे कृषि में अधिक प्रयोग किया जाता है। मिट्टी भुरभुरी करना, खर-पतवार निकालना, नमी स्थिर रखने के लिये अवरोध परत बनाना आदि कार्य इससे पूरे होते हैं। हो दो प्रकार के होते हैं। अकोला हो तथा हाथ वाला या हैंड-हो। अकोला हो एक तिकोने ढाँचे में लगा होता है। इसमें तीन खुर्पियाँ लगी रहती हैं जो आवश्यकतानुसार नीचे-ऊपर हटाई जाती हैं। कतार वाली फसलों——गन्ना, मूँगफली, कपास आदि में इसका उपयोग किया जाता है। इससे एक दिन में २-२॥ एकड़ भूमि गोड़ी जाती है।

हैण्ड हो का प्रयोग हाथ से किया जाता है। इसमें एक या दो पहिया लगी होती है। इसे दोनों हाथों से खींचा जाता है। हल्की गुड़ाई करने के लिए यह अच्छा होता है। अधिकतर तरकारियों की गुड़ाई में यह यंत्र सफल सिद्ध हुआ है।

चित्र ५६——हैण्ड हो
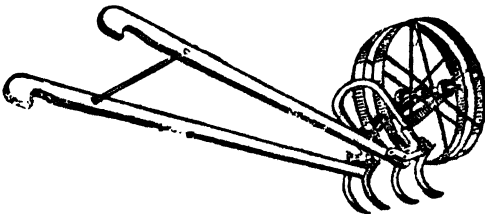
हाथ का हो एक और प्रकार का होता है जिसे सिंह हैंड हो के नाम से पुकारा जाता है। इसमें आगे लोहे की खुर्पियाँ लगी होती हैं जिन्हें लकड़ी या बाँस के डंडे में जकड़ दिया गया रहता है। यह लाइन में बोई गई फसलों के अतिरिक्त छिटकवाँ बोई गई फसलों में सरलतापूर्वक चलाया जाता है। इसके अलावा

और बहुत स हथियार खेती में काम आते हैं जो नीचे के चित्र में दिखाये गये हैं :—
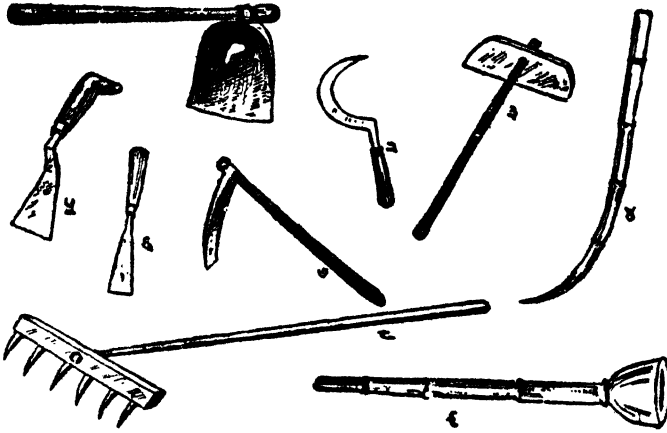
चित्र ५७—खेती के औजार—१—फावड़ा, २—हंसिया, ३—फरुही, ४—अखैनी, ५—खुरपा, ६—खुर्पी, ७—कुदाली, ८—पचरवा और ९—नरका।

खुर्पी और फावड़ा—ये छोटे-छोटे यंत्र हैं जिनका प्रयोग कृषि में बड़ा श्रेयस्कर होता है। तरकारियों, बागों आदि की गोड़ाई तथा फसलों की निकाई करने में खुर्पी बहुत सहयोग देती है। प्याज, लहसुन आदि फसलों की पौद या बीज लगाते समय इनका प्रयोग होता है। कुछ खुर्पियाँ घास छीलने और गड्ढा खोदने में भी काम आती हैं। इनका आकार विभिन्न प्रकार का होता है। ये लोहे के फल से निर्मित होती हैं और काष्ठ के हेंडिल में लगा दी जाती है जिन्हें पकड़ कर खुर्पी से काम किया जाता है।

फसलों के खेत की मेड़बन्दी करने, मिट्टी इधर से उधर करने व बड़े-बड़े गड्ढे तैयार करने में फावड़े या फरसे का प्रयोग किया जाता है। कुएँ खोदने या क्यारी और बरहे बनाने में भी वह काम देता है। इसका फल लोहे और बेंट लकड़ी का होता है।

पटेला और रोलर या बेलन—कृषि शास्त्र में जुताई का कार्य जितना महत्व रखता है उससे कम महत्व पटेला नहीं रखता। यह लकड़ी के एक तख्ते से बना होता है जिसके दोनों किनारों पर एक-एक कुन्दे लगे होते हैं। इन कुन्दों में जंजीर या रस्सी लगा कर पटेला बैलों के जुए से संबंधित किया

जाता है। कभी-कभी वह पटेला बाँस के तीन सीधे टुकड़ों को एक साथ आपस में जोड़ कर बनाया जाता है। इन्हें चलाने के लिए लोग पटेला पर चढ़ जाते हैं। और चढ़े हुए ही बैलों को हाँकते हैं। इसमें बैलों की एक या दो जोड़ी काम करती है। खेत में ढेले अधिक होने पर मजबूत जोड़ी की आवश्यकता होती है। पटेला कई कार्य करता है :—

चित्र ५८—पाटा चलाता हुआ किसान

१. खेत की मिट्टी भुरभुरी करना,
२. भूमि को समतल बनाना,
३. नमी रोकने के लिए अवरोध परत स्थापित करना, तथा
४. छिटकवाँ बीजों को मिट्टी में ढँकना।

कभी-कभी पटेला के स्थान पर लोहे, लकड़ी या पत्थर के बने बेलन प्रयोग किये जाते हैं। ये लम्बाकर गोलाई लिये हुए होते हैं जो लुढ़क-लुढ़क कर मिट्टी को भुरभुरी करते रहते हैं। इनमें लगी रस्सियों या जंजीरों की सहायता से इन्हें बैलों या आदमियों से खींचा जाता है।

बखर—इस यंत्र में मिट्टी भुरभुरी करने और घास काटने के लिए २०" या २५" चौड़ी लोहे की प्लेट लगी होती है। ऊँची-नीची भूमि को काबू में करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। बुन्देलखण्ड में हल की जगह यह अच्छा काम करता है। यह एक दिन में डेढ़ एकड़ खेत जोत सकता है। वर्षा के दिनों में खेतों में काफी नमी रहने पर बखर का प्रयोग किया जाता है। गर्मी की जुताई में कड़ी मिट्टी को उलटने के लिए यह उपयोगी सिद्ध होता है।

रेक—इस यंत्र की सहायता से खेत की निकली घास इकट्ठा की जाती है। खेत की मिट्टी को समतल करने में भी यह प्रयुक्त होता है। यह बाँस या लकड़ी के डण्डे में लगा होता है। इसके दाँत झुके हुए होते हैं। डण्डे को पकड़ कर इसे खींचा जाता है।

इन यंत्रों के अतिरिक्त वीडर, स्कूपर, कुदाली आदि अन्यान्य यंत्र कृषि कार्य में प्रयुक्त किये जाते हैं। इनसे किसानों को कृषि कार्य में काफी सहायता मिलती है।

यहाँ हम कुछ प्रसिद्ध हलों, हैरो तथा कल्टिवेटर की कार्यक्षमता को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक सारिणी बनाते हैं जिससे उनके एक दिन का कार्य और उनके द्वारा निर्मित कूँड़ की चौड़ाई और गहराई ज्ञात हो जायगी।

नाम	कूँड़ की चौड़ाई इंचों में	कूँड़ की गहराई इंचों में	एक दिन का कार्य एकड़ में	खिचाव हंडरवेट में
मेस्टन	६	५	३/४	२
गुर्जर	६	५	३/४	२
वाट्स हल	७	६	१	२ १/२
विक्टरी हल	९	६	१	३ १/२
पंजाब हल	८	६	१ १/४	३
टर्न रेस्ट हल सी० टी०	९	६	१[illegible]	४ १/२
टर्न रेस्ट हल ए० टी०	७	५	१	४
देशी हल	४	५	३/४	२
कानपुर कल्टिवेटर	—	—	२ १/२	२ १/२
मेकोमिक ”	—	—	३	—
स्पाइक टूथ हैरो	—	—	३″	—
तिकोना हैरो	—	—	२	—
स्प्रिंग टाइड हैरो	—	—	३	—
अकोला हो	—	—	१ १/२	१ १/२
हैण्ड हो (३–४ आदमी) गुड़ाई	—	—	१	—
	—	—		
कुदाली (८–१० आदमी)	—	—	१	—
खुर्पी—(६–८–आदमी) निराई		—	१	—

प्रश्न

१. कृषि कर्म के उन यंत्रों के नाम बताओ जो उत्तर प्रदेश में प्रचलित हैं। ओताई का क्या उद्देश्य है? (१९५३)

२. भारतवर्ष में खेती के लिए देशी हल की नितान्त आवश्यकता है। इस विश्वास से तुम कहाँ तक सहमत हो? कारण देकर विचार करो। (१९५०)

३. मृदा पर गोड़ाई का क्या प्रभाव पड़ता है? वर्णन करो और कुछ उदाहरण भी दो। (१९५०)

४. अच्छी जुताई की क्या पहचान है? इससे क्या लाभ हैं? वर्णन करो। (१९५३)

५. हैरो और कल्टिवेटर से क्या लाभ हैं? इनके अन्तर को समझाते हुए प्रत्येक के कार्य समझाओ।

६. टिलेज के उद्देश्यों को बताते हुए देशी और वैज्ञानिक हलों की उपयोगिता बताओ और दोनों हलों के अन्तर भी बताओ।

७. गर्मी की जुताई से क्या तात्पर्य है? इससे कृषक को क्या लाभ है? समझाओ।

अध्याय ६

खाद (Manure)

मृदा पौधों के समस्त आवश्यक तत्वों का भण्डार है। पौधों का जीवन और बढ़ाव मृदा की इसी शक्ति पर आधारित रहता है। किन्तु भूमि से पौधों को बराबर उगाने से इस भण्डार में कभी-कभी कमी आ जाती है। यह कमी यदि यों ही छोड़ दी जाय तो परिणाम यह होगा कि पौधे का बढ़ाव संतोषप्रद न हो सकेगा और उसका कोई न कोई अंग दुर्बल पड़ जायेगा। भूमि की यह कमी बनावटी ढंग से पूरी की जाती है। इस विधि में बनावटी तत्व भूमि में इस प्रकार मिला देते हैं कि वे उसमें घुल-मिल जाते हैं और पौधों के काम आ जाते हैं। **मृदा में तत्वों का यह अभाव कृत्रिम विधि द्वारा दूर करना खाद देना (Manuring) और उस पदार्थ को खाद (Manure) कहते हैं।** एक दूसरी परिभाषा है—

"वह पदार्थ जो खेत में फसल की उपज बढ़ाने के लिए दिया जाता है, खाद कहलाता है।"

पौधे अपनी खुराक हवा से भी खींचते हैं। जैसा कि पिछले अध्याय में हमने हवा के विषय में पढ़ा है, कि हवा नाइट्रोजन, कारबोनिक एसिड, आक्सीजन, पानी की भाप, धूल के कण और जीवांश से मिलकर बनी है। पौधे अपने अन्दर थोड़ा-बहुत नाइट्रोजन खींच लेते हैं और कार्बोनिक एसिड लेकर कार्बन एसिमिलेशन की क्रिया करते हैं जिसमें आक्सीजन तो निकल जाता है किन्तु कार्बन उसके बढ़ाव में काम आता है। भूमि में नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटास तीन तत्व प्रधानतया उपस्थित रहते हैं। इनके अतिरिक्त कैल्शियम, गन्धक, मैगनीशियम, लोहा, ताँबा और जस्ता भी मिट्टी में मिले रहते हैं। इन तत्वों का परिमाण भूमि में एक-सा नहीं रहता। किसी स्थान पर कोई तत्व अधिक रहता है तो कहीं कम। नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटास का पौधे के बढ़ाव में बहुत महत्व है पर ये भूमि में अधिकांशतः कम पाये जाते हैं। अन्य तत्व, जिनकी आवश्यकता पौधे के जीवन में बहुत ही कम रहती है, अपेक्षाकृत अधिक पाये जाते हैं। तत्वों का यह अभाव गोबर की खाद, हरी खाद, कम्पोस्ट, विष्ठा की खाद और खलियों द्वारा दूर किया जाता है। कुछ रासायनिक खादें तो ऐसी बनी हैं जिनसे भूमि की एक ही कमी दूर हो सकती है। जैसे यदि भूमि में नाइट्रोजन की कमी है तो नाइट्रोजनस खाद का प्रयोग करेंगे। यह पौधे को केवल नाइट्रोजन देगी और भूमि को नाइट्रोजन से धनी बना देगी। इसी प्रकार फासफोरस और पोटास का अभाव फास्फेरिक तथा पोटैसिक खादों द्वारा दूर किया जा सकता है। रासायनिक खादों के अतिरिक्त अन्य खादें किसी विशेष तत्व की कमी नहीं दूर करतीं वरन् थोड़ी या अधिक मात्रा में लगभग सभी तत्व प्रदान करती हैं। अतः दोनों प्रकार की खादों का अपने-अपने स्थान पर महत्व है।

खाद का वर्गीकरण—खाद बनावट के आधार पर दो वर्गों में विभाजित की जा सकती है:—

(१) प्राकृतिक खादें और
(२) कृत्रिम या बनावटी खादें।

इन खादों को गुण के विचार से जीवांशपूर्ण या कार्बनिक और रासायनिक या अकार्बनिक खाद, तत्वों के आधार पर—पूर्ण और अपूर्ण खाद और व्यय के दृष्टिकोण से—साधारण और विशेष खादें कहते हैं। यह वर्गीकरण नीचे दिये गये खाके से और भी स्पष्ट हो जायगा।
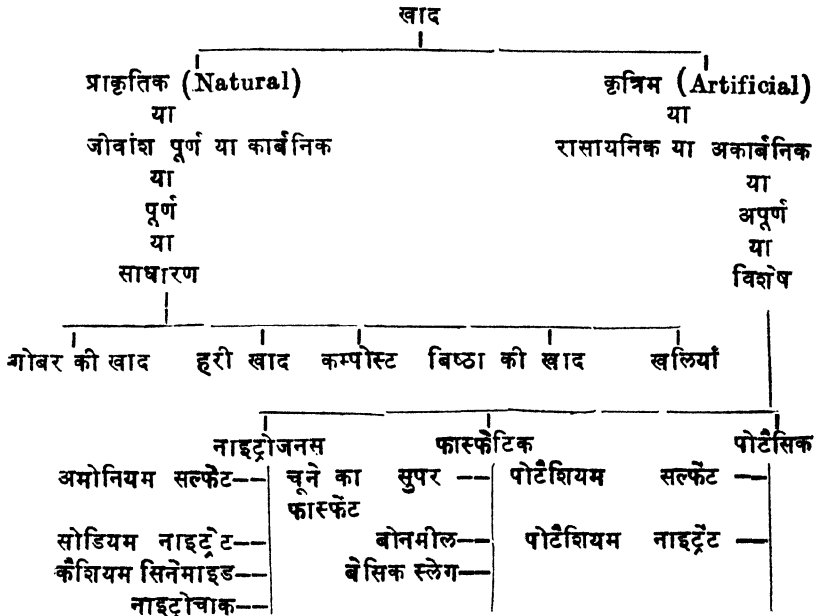
प्राकृतिक खादें—इस खाद के बनाने वाले पदार्थ प्रकृति में स्वतंत्रतापूर्वक पाये जाते हैं। इसी कारण इसे प्राकृतिक खाद कहते हैं। इसमें जीवांश की संख्या अधिक होती है। यह गलाने पर राख के रूप में बदल जाती है। इसमें पौधों के आवश्यक तत्वों की मात्रा किसी न किसी अनुपात में वर्तमान रहती है। इसे बनाने में विशेष खर्च और परिश्रम नहीं करना पड़ता। यह प्रत्येक किसान को प्राप्त हो सकती है। इसीलिए इसे साधारण खाद के नाम से भी पुकारा जाता है। पौधे अपने अन्दर आवश्यक तत्वों को भूमि से लेते हैं। इनके सूखने या कट जाने पर भी ये तत्व मौजूद रहते हैं। जानवर इनके डंठलों और पत्तियों को कुट्टी या भूसे के रूप में लेते हैं और पुनः गोबर और मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकाल देते हैं। मनुष्य अन्न ग्रहण करता है जिनका निर्माण इन्हीं तत्वों से हुआ करता है और वह भी विष्ठा के रूप में इनका कुछ

अंश चूस कर निकाल देता है। गोबर और विष्ठा में इन तत्वों की कुछ न कुछ मात्रा वर्तमान रहती है। हरे डंठलों और पत्तियों में ये तत्व अधिक मात्रा में उपस्थित रहते हैं जो सड़ा देने पर फिर से भूमि में इकट्ठा हो जाते हैं। सूखी, बिखरी पत्तियों में ये रहते हैं। सरसों, अलसी, महुए आदि की खलियों में भी ये पाये जाते हैं।

गोबर की खाद—(Farm yard Manure)—गोबर की खाद का उपयोग हमारे देश में बहुत प्राचीन काल से होता आया है किन्तु हमारे किसान आज भी इसे तैयार करने और खेत में देने की विधि में भयंकर भूलें कर बैठते हैं। वे गोबर का बहुत अंश उपले आदि बनाकर खर्च कर देते हैं। जो गोबर शेष बचता है उसे लापरवाही से घर के पिछवाड़े या गाँव के बाहर किसी ऊँचे स्थान पर जमा करते रहते हैं और जब अधिक गोबर इकट्ठा हो जाता है तो उसे खेत में फेंक दिया करते हैं। ऐसा करने से गोबर का अधिक उपयोगी अंश बरसात के दिनों में पानी के साथ बह कर निकल जाता है। गर्मी के दिनों में तीखी गर्मी से कुछ अंश उड़ जाता है और तेज पछुआ हवाओं से बिखर भी जाता है। इस प्रकार खाद का बहुत थोड़ा भाग पौधों के काम आता है। किसान जानवरों के मूत्र की तो कोई कीमत ही नहीं समझते और उसे पशुशाला में या अन्य स्थानों पर यों ही बह जाने देते हैं। मूत्र से सनी मिट्टी या पशु-शाले की राख आदि इधर-उधर फेंक दिया करते हैं या पानी के गड्ढों में छोड़ देते हैं। जो खाद वे खेत में देते हैं वह भी अच्छी तरह से सड़ नहीं पाती। उसका पर्याप्त भाग पौधों के उपयोग का नहीं रहता। गोबर की खाद को तैयार करने में मुख्यतः तीन अंश पाये जाते हैं:—

(१) जानवरों का गोबर,
(२) जानवरों का मूत्र तथा
(३) पशु-शाला की राख और मिट्टी।

पौधों के लिए उनके आवश्यक तत्वों की कमी गोबर की खाद द्वारा पूरी करने पर उनका अनुपात भिन्न-भिन्न होता है। इससे खाद में नोषजन की मात्रा ·६%, फास्फोरस ·२५% और पोटास ·३% होती है; किन्तु यह मात्रा कई बातों पर निर्भर करती है जो नीचे दी जाती हैं:—

(१) जानवर की जाति,
(२) जानवर की आयु,
(३) जानवर की अवस्था,
(४) जानवर की खुराक,
(५) पशु-शाला का बिछावन और राख, तथा
(६) खाद बनाने की विधि।

जानवर की जाति—विभिन्न जानवरों का गोबर तात्विक विश्लेषण में भिन्न होता है। गाय और भैंस का गोबर भेड़ और बकरियों की मेंगनी से घटिया होता है। गाय के गोबर में नोषजन की मात्रा भेड़ के गोबर से कम होती है। यह अनुपात निम्नांकित सारिणी से स्पष्ट हो जाता है:—

तत्व (गोबर में)	गाय	भेड़	घोड़ा
नोषजन	.४४%	.७२%	.५६%
फासफोरस	.१२%	.०४%	.३५%
पोटास	.०४%	—	.११%
जल	८६%	५६.५%	७५%

पशुओं के मूत्र में भी ये तत्व भिन्न अंश में पाये जाते हैं।

तत्व (मूत्र में)	गाय	भेड़	घोड़ा
नोषजन	.०५%	१.३१%	१.५२%
फासफोरस	—	.०१%	—
पोटास	१.३६%	—	९१%
जल	९१.०५%	८५.५%	९०%

जानवरों की आयु—कम आयु वाले जानवरों के गोबर में नाइट्रोजन की मात्रा तो अवश्य अधिक रहती है परन्तु फासफोरस और पोटास कम होते हैं। दुर्बल और रोगी जानवर का गोबर दोषयुक्त रहता है।

जानवरों की दशा—जानवर यदि बुड्ढा है तो उसके गोबर में जवानों की अपेक्षा ये तत्व अधिक होंगे। काम करने वाला पशु न काम करने वाले से नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटास अधिक मात्रा में गोबर द्वारा अपने शरीर से निकालता है।

जानवरों का भोजन—पौष्टिक पदार्थ खाने वाला पशु साधारण भोजन पर जीवित रहने वाले पशुओं से अधिक बलिष्ठ होगा। इसलिये उसके गोबर में इन तत्वों की मात्रा भी ज्यादा होगी।

पशुशाले का बिछावन—पशुशाले में जानवरों के बैठने के लिए पुवाल या सूखी पत्तियाँ रखी जाती हैं और वे मल-मूत्र में सन कर इनका अधिक भाग सोख लेती हैं। इस प्रकार खाद की मात्रा तो बढ़ती ही है, तत्वों का अनुपात भी बढ़ जाता है।

खाद बनाने की विधि—यदि खाद देहाती और प्राचीन ढंग से न रखकर आधुनिक वैज्ञानिक ढंग पर रखी जाती है तो उसका सड़ाव भली-भाँति होता है। इस प्रकार उपयोगी तत्व बह या उड़ कर निकलते नहीं और खाद पौधों के लिए अधिक श्रेयस्कर होती है।

गोबर की खाद तैयार करने की रीति—जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है, ऊँचे स्थानों पर गोबर रखने से उसका अधिक अंश व्यर्थ चला जाता है। अतः इन्हें बचाने और खाद अच्छी तरह सड़ाने के लिए गड्ढे तैयार किये जाने चाहिए। ये गड्ढे पशुशाला के निकट रहें पर स्वच्छता पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अच्छा तो यह हो कि पशुशाला बस्ती के बाहर हो। पशुशाला में नालियों का ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि पशुओं का मूत्र बह कर गड्ढे में जाया करे: गड्ढे बनाने में एक बात का और ध्यान रखना चाहिए कि वर्षा का जल खाद को हानि न पहुँचावे। गड्ढे के चारों ओर एक या डेढ़ फीट चौड़ी मेड़ बना देने से इस जल का प्रभाव रोका जा सकता है। गड्ढे की लम्बाई-चौड़ाई जानवरों की संख्या पर निर्भर करती है। प्रायः गड्ढे ८'×६' के आकार के बनाये जाते हैं। किन्तु पशुओं की संख्या अधिक होने पर यह आकार बढ़ा कर १२'×८' भी कर दिया जाता है। गड्ढों की गहराई ४' रखी जाती है क्योंकि इससे अधिक बढ़ाने पर निचले तह की खाद काफी मात्रा में वायु नहीं प्राप्त कर पाती। वायु की कमी से खाद में काम करने वाले उपयोगी बैक्टीरिया अपना कार्य अच्छी तरह नहीं कर पाते। कृषक के पास यदि अधिक पशु हों तो उसे इस प्रकार के दो या तीन गड्ढे तैयार कर लेने चाहिए। गड्ढे के पेंदे से भी खाद का बहुत रस रिस-रिसकर भूमि के अन्दर चला जा सकता है और दीवालें भी सोख सकतीं हैं। खाद को इस संकट से बचाने के लिए गड्ढे पक्के बनाते हैं या इंटों की दीवालें बना देते हैं। इससे कुछ खर्च तो अधिक हो जाता है परन्तु खाद के तत्व बच जाते हैं। कभी-कभी कंकड़-पत्थर द्वारा पेंदे को कूट कर सख्त बनाया जाता है। जिससे खाद का रस बह न सके। सूर्य की गर्मी और तेज हवा से खाद को बचाने के लिए छप्पर का प्रबन्ध किया जाता है। इससे बरसात के दिनों में पानी का भी प्रभाव नहीं पड़ता। छप्पर का प्रबन्ध न होने पर गड्ढों को पेड़ों के छाये में बनाया जाता है। गोबर नित्यप्रति गड्ढे में भरते रहना चाहिए। उसके साथ-साथ उसमें मूत्र और पशुशाला का बिछावन तथा मूत्र से सनी मिट्टी भी मिलानी चाहिए। यदि गोबर सूखा-सूखा रहेगा तो खाद का सड़ाव ठीक न होगा। अतः मूत्र की मात्रा अवश्य होनी चाहिए। जब गड्ढा पूर्णरूपेण भर जाय तो ऊपर से पशु-शाले की मिट्टी की ½' मोटी तह बिछा देनी चाहिए। छप्पर के प्रबन्ध न होने पर यह तह खाद के उपयोगी अंशों को उड़ने से बचाती है और उसकी मात्रा भी बढ़ाती है। खाद को इसी प्रकार ६ मास तक छोड़ देने पर वह सड़ जाती है और खेत में डालने के लिए तैयार हो जाती है। जब खाद एक गड्ढे में सड़ रही हो तो दूसरा गड्ढा भरना चाहिए।

गोबर की खाद को खेत में देने की विधि—१२ फी० लम्बे और ८ फी० चौड़े गड्ढे में लगभग ५० मन खाद तैयार होती है। जब खाद अच्छी तरह सड़ जाय तो उसे खेतों में डालना चाहिए। बहुधा किसान अनभिज्ञता से ताजा गोबर ही खेत में डाल देते हैं। इससे लाभ के बदले हानि होती है क्योंकि ताजा गोबर दीमकों का आहार है। खेत में इसके उपस्थित होने पर दीमक पैदा हो जाते हैं और गोबर के साथ-साथ बोई जाने वाली फसल को भी खा जाया करते हैं। अतः जब तक खाद का सड़ाव अच्छी तरह न हो जाय, उसे खेत में नहीं डालना चाहिए। सड़ी खाद की पहचान यह है कि उसका रंग

बदल गया रहता है। प्रायः सड़ी खाद काले रंग की होती है। ताजी खाद से एक प्रकार की दुर्गन्ध आती है परन्तु सड़ी खाद से किसी प्रकार की गन्ध नहीं आती। इस प्रकार सही पहचान कर लेने पर खाद खेत में ले जाते हैं। खेत में ले जाने के लिए दो ढंग अपनाये जाते हैं :—

(१) टोकरियों द्वारा और
(२) गाड़ियों द्वारा।

पहली विधि में किसान टोकरियों से खाद उठा कर खेतों में फैला देता है। यह ढंग खेत के समीप रहने पर प्रयुक्त होता है। दूर रहने पर खाद गाड़ियों में लाद कर ले जाते हैं और खेत में ढेर लगा देते हैं। ये ढेर बाद में टोकरियों से बिखेर दिये जाते हैं।

गोबर की खाद खेत में फसल के कट जाने के बाद और बोआई के पहले दी जाती है। जब खेत की कटाई हो जाय तो एक बार जुताई करके भूमि में खाद मिला देनी चाहिए। खाद को बुआई करने के १ या १½ माह पहले भूमि में डालनी चाहिए जिससे वह मिट्टी में घुल-मिल जाय। उसे अच्छी तरह मिलाने के लिए जुताई करते रहना चाहिए। इस समय भूमि में नमी का रहना अत्यन्त आवश्यक है। यदि नमी का अभाव हो तो खेत में एक हल्की सिंचाई कर देनी चाहिए। जब खाद भूमि में खूब मिल जाती है तो बोआई करना लाभप्रद होता है क्योंकि पौधे खाद का उपयोग पूरा-पूरा कर सकते हैं। गोबर की खाद का भूमि की बनावट पर अधिक प्रभाव पड़ता है। बलुई भूमि की दशा सुधर जाती है। वह जल ग्रहण करने और धारण करने की शक्ति पा जाती है। चिकनी मिट्टी में वायु-प्रवेश होने लगता है। साधारण भूमि उर्वर हो जाती है और उसमें पौधों के आवश्यक तत्वों की प्रचुरता हो जाती है।

कम्पोस्ट—गोबर की खाद पौधों के लिए उपयोगी है किन्तु इसकी अधिक मात्रा अहितकर भी होती है। अतः एक प्रकार की ऐसी खाद तैयार की जाती है जिसमें गोबर की बहुत कम मात्रा प्रयुक्त हो। गोबर में घर का कूड़ा-करकट, राख, सूखी पत्तियाँ और डंठल आदि मिलाये जाते हैं और गड्ढों में उलट-पलट कर सड़ाया जाता है। इस प्रकार बनाई गई खाद कम्पोस्ट कहलाती है। कम्पोस्ट की खाद बनाने का पहला ढंग १९२१ ई० में इंगलैंड में निकाला गया। भारत में इन्दौर में इसका प्रयोग किया गया। तत्पश्चात् सारे देश में इसका प्रचार हुआ।

कम्पोस्ट बनाने में प्रयोग किए जाने वाले पदार्थ—ये नीचे दिये जाते हैं :—

(१) घरों से निकाला हुआ कूड़ा-करकट,
(२) घास-पात और खर-पतवार,
(३) पेड़ो की सूखी पत्तियाँ और नर्म डण्ठल,
(४) तालाबों की जल कुम्भी,
(५) चकबढ़ आदि पौधे जो टीले पर उग आए हों,
(६) उथले तालाबों की काली मिट्टी,

(७) परनाले का पानी, तथा

(८) छप्पर तथा पशुशाले की मूत्र से सनी मिट्टी।

कम्पोस्ट में प्रयुक्त होने वाली चीजें ऐसी हैं जो देहातों में व्यर्थ में ही फेंक दी जाती हैं और इधर-उधर बहकर विनष्ट ही जाती हैं। घर के अगवाड़े-पिछवाड़े जमे अनेक हरे पौधे कम्पोस्ट के काम आ जाते हैं और सड़कर अच्छी खाद बनाते हैं। जलकुम्भी नामक पौधा जिस तालाब में हो जाता है वह पूरे तालाब को ढक देता है। यदि इसे खाद के रूप में प्रयोग किया जाय तो तालाब साफ हो जाय और खाद भी बन जाय। तालाबों की मिट्टी जीवांश से परिपूर्ण होती है क्योंकि पानी बरसने पर उर्वर भूमि का ऊपरी भाग कट-कट कर बह जाता है और तालाबों के पेंदे में जमा हो जाता है। परनाले का पानी बहकर तालाबों में चला जाता है जिससे कृषक को कोई लाभ नहीं होता। कम्पोस्ट में यह अच्छा काम करता है। यह सूखी पत्तियों और डंठल आदि को सड़ाने में सहायता करता है। यदि कोई बड़ा डंठल कम्पोस्ट में प्रयोग किया जाय तो उसे छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर कुचल लेते हैं। कुचलने के लिए ऐसे पदार्थों को बैलगाड़ी के आने-जाने वाले मार्ग पर रख देते हैं। इस प्रकार पहियों द्वारा कुचल कर ये कोमल हो जाते हैं। उदाहरण के लिए बाजरे या ज्वार के डंठल कड़े होते हैं। कम्पोस्ट में पशुशाले के मूत्र से सनी सारी मिट्टी खोद कर खाद में मिला लेते हैं और उस स्थान पर नई मिट्टी लाकर भर देते हैं। जब यह मिट्टी पुनः मूत्रादि से भीग जाती है तो उसे निकाल कर गड्ढे में छोड़ आते हैं। इस प्रकार गोबर की बहुत थोड़ी-सी मात्रा से ही अधिक खाद तैयार हो जाती है और खर्च भी कोई विशेष नहीं पड़ता। भूमि पर कम्पोस्ट का प्रभाव किसी-किसी क्षेत्र में गोबर की खाद से भी अच्छा पड़ता है।

कम्पोस्ट बनाने की रीति—कम्पोस्ट बनाने की दो रीतियाँ प्रचलित हैं जो ऋतु के अनुसार काम में लाई जाती है:—

(१) गर्मी और जाड़े में कम्पोस्ट बनाने की विधि, तथा

(२) बरसात में कम्पोस्ट बनाने की विधि।

पहली विधि में कम्पोस्ट में सड़ने के लिए गड्ढे तैयार किए जाते हैं जिनमें खाद की सामग्रियाँ तह पर तह रखी जाती हैं। सामायतः गड्ढों का आकार ८ फी० × ६ फी० × ३ फी० होता है। कभी-कभी गड्ढे की गहराई एक सिरे पर ३ फी० और दूसरे पर ३½ फी० कर देते हैं। सामग्रियों के अनुसार इसका आकार बढ़ाया-घटाया भी जा सकता है किन्तु गहराई ३½ फी० तक होनी चाहिए। खुदी मिट्टी गड्ढे के तीन ओर रखनी चाहिए और उसे खुला ही छोड़ देना चाहिए। यह मिट्टी बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। खर-पतवार और कूड़े-करकट की ६" मोटी तह गड्ढे में छोड़ देनी चाहिए। फिर २" गोबर और मूत्र की पतली तह छोड़नी चाहिए और उसके ऊपर घास-फूस और पशुशाला के बिछावन आदि की ३" मोटी तह फैलाकर उसे ½" भुरभुरी मिट्टी की तह से ढक देना चाहिए। इसी क्रम से प्रति दिन गड्ढे भरते जाते हैं। गड्ढे को भरने में एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें ऐसे कड़े और

सख्त डण्ठल न चले जायँ जिनका सड़ाव शीघ्र सम्भव न हो। उन्हें अच्छी तरह कुचल कर डालना चाहिए या जला कर राख के रूप में छोड़ना चाहिए। खाद के प्रत्येक तह में थोड़ी नमी प्रदान करते रहना चाहिए। जब गड्ढा ऊपरी धरातल के ६" ऊपर आ जाय तो उसको ९" मिट्टी की तह से ढक देते हैं। इससे खाद पर प्रचुर ताप का प्रभाव नहीं पड़ता और उपयोगी तत्व जैसे अमोनिया आदि उड़ने नहीं पाते। प्रायः ऊपरी मिट्टी की तह गुम्बजाकार बनाते हैं जो अधिक लाभदायक होती है। यदि सामग्रियों का परिमाण कम हो तो गड्ढे के तीन भाग कर लेने चाहिए और एक के भरने के बाद दूसरा भरना चाहिए। जब तीनों भर जायँ तो खाद की पलटाई करना प्रारम्भ करते हैं। एक गड्ढा तीन मास में भर जाता है। खाद भरने के तीन सप्ताह बाद पहली पलटाई और ६ सप्ताह बाद दूसरी पलटाई करनी चाहिए। इस प्रकार उलटते रहने से खाद ६ माह में पूर्ण तैयार हो जाती है। इस गड्ढे की खाद लगभग ६० मन होती है जो २ बीघे खेत के लिए पर्याप्त होती है।

बरसात की कम्पोस्ट गड्ढे में नहीं तैयार की जाती अपितु इसे किसी ऊँचे स्थान पर रखा जाता है जहाँ वर्षा का पानी जमा न हो सके। इसमें पशुशाले के समीप ही किसी स्थान पर ८'×६'×६" का चबूतरा तैयार किया जाता है। इसी पर खाद की साम-ग्रियों को तह में सिल्ली के रूप में रखना प्रारम्भ करते हैं। ये सिल्लयाँ कूड़ा-करकट के हिसाब से बढ़ाई-घटाई जा सकती हैं। यदि कूड़ा कम हुआ तो चबूतरा चार बराबर हिस्सों में बाँट देते हैं और बारी-बारी से उन्हें भरते जाते हैं। जब यह सिल्ली पूरी हो जाय तो इसे उलटना प्रारम्भ करना चाहिए। यह उलटाई महीने में एक बार अवश्य हो जानी चाहिए। पूरी बरसात में कम से कम तीन बार खाद को ऊपर से नीचे की ओर नीचे से ऊपर करना चाहिए। पहली पलटाई जुलाई के महीने में तेज पानी बरसने के बाद कर देनी चाहिए और सनई का बीज बो देना चाहिए। इससे खाद की मात्रा बढ़ जाती है और खाद की हानि भी नहीं होने पाती। आखिरी पलटाई सितम्बर माह में होती है और खाद पलट कर ऐसे ही छोड़ देते हैं। अक्टूबर में यह खाद तैयार हो जाती है। खाद पलटने में एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि वर्षा में खाद न पलटी जाय। इससे उपयोगी तत्वों के बह जाने का भय रहता है। खुले दिन या वर्षा के न होने वाले दिन ही पलटाई करनी चाहिए।

कम्पोस्ट तैयार करने से आस-पास की गन्दगी दूर हो जाती है और वह सड़ कर पौधों के काम आ जाती है। मक्खियाँ और अन्य कीड़े मकोड़े जो कूड़े करकटों में अंडे-बच्चे देते हैं, समाप्त हो जाते हैं। पौधे इस खाद से अपनी आवश्यकता के सभी तत्व प्राप्त कर पाते हैं।

कम्पोस्ट बनाने की एक और विधि काम में लाई जाती है जिसे इन्दौर विधि कहते हैं। इसमें गड्ढों की कई पंक्तियाँ बनाई जाती हैं। गड्ढों से गड्ढे की दूरी ६' और पंक्ति से पंक्ति की दूरी १२' होती है। प्रत्येक गड्ढे ३०'×१४'×२' होते हैं। इन्हें भरने के लिए नीचे २" कूड़े-करकट और घास-पात की तह बिछानी चाहिए।

उस पर पेशाब से सनी मिट्टी की १" मोटी तह बिछा देते है। इसी क्रम से कई तहें लगाई जाती हैं। जब गड्ढा भर जाता है तो १५ दिन बाद पलटाई की जाती है। पलटाई से ऊपर की खाद नीचे और नीचे की ऊपर हो जाती है। प्रायः खाद के सड़ने में तीन पलटाई काफी होती है और इस प्रकार तीन माह में खाद खेत में देने के लिए तैयार हो जाती है। यह रीति अधिकतर सरकारी फार्मों पर प्रयोग की जाती है।

कम्पोस्ट बनाने में गड्ढों का उपयोग—खाद जब गड्ढे में रहती है तो उसे हवा द्वारा बिखरने और पानी द्वारा बह जाने से बचाया जा सकता है। वायु का वेग उस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता क्योंकि वह पृथ्वी की दीवालों में रहती है। गड्ढे के चारों ओर मेड़ों के निर्माण से बरसात का पानी इधर-उधर निकल जाता है। इससे वह खाद को अपने में घुलाकर बहाने में मजबूर हो जाता है। देहातों में ऐसा देखा जाता है कि खाद ऊँचे स्थान पर रखी जाती है जिससे उपयोगी अंश बह-बह कर इधर-उधर निकल जाते हैं। बरसात में कम्पोस्ट तैयार करने की जो विधि काम में लायी जाती है, उसमें उपयोगी अंशों के बह जाने का अवसर रहता है; किन्तु इनकी रक्षा करने के लिए इसके चबूतरों को खेत में ही बनाते हैं ताकि आवश्यक तत्व बहकर खेत में ही रह जायँ। खाद पर सूर्य की प्रचण्ड गर्मी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। केवल उसका ऊपरी भाग ही अधिक तापित होता है। गड्ढों के रहने से खाद में उचित नमी रखी जा सकती है जिससे उसके सड़ाव में काम करने वाली उपयोगी बैक्टीरिया भली-भाँति काम कर सके। इन गड्ढों में खाद के रहने से एक प्रकार की स्वच्छता-सी रहती है।

हरी खाद—हरी अवस्था में जो खाद भूमि की उर्वरा शक्ति की अभिवृद्धि करने के लिए दी जाती है, हरी खाद कहलाती है। इसमें फलीदार फसलें उगा कर मिट्टी में दबा दी जाती है। मिट्टी में दब कर ये पौधे सड़ने की क्रिया प्रारम्भ कर देते हैं और शीघ्र ही सड़कर खाद बन जाते हैं जिन्हें पौधा अपने भोजन के रूप में ग्रहण करता है। जिस भूमि में फसलें अच्छी नहीं होती हों और उर्वरा शक्ति क्षीण हो गई हो उसमें फसलों की अच्छी उपज लेने के लिए हरी खाद का प्रयोग करना चाहिए। यह खाद गोबर की खाद और कम्पोस्ट से बहुत सस्ती पड़ती है। इसमें विशेष परिश्रम की भी आवश्यकता नहीं होती। जिस स्थान पर गोबर का उपयोग कंडे या उपले बनाने में हो जाता हो वहाँ हरी खाद प्रयोग की जा सकती है क्योंकि यह हर जगह आसानी से उगाई जा सकती है।

हरी खाद में प्रयोग की जाने वाली फसलों की विशेषताएँ——जिन फसलों का प्रयोग इस खाद में किया जाता है उनमें निम्नलिखित गुणों की उपस्थिति अनिवार्य है:—

(१) फसल का बढ़ाव शीघ्र हो,
(२) तना कोमल हो जो शीघ्र सड़ जाय,
(३) पत्तियों और डण्ठलों की मात्रा अधिक हो,

(४) बीज सस्ते हों और सरलतापूर्वक मिल जायें,
(५) जड़ें भूमि में अधिक गहराई तक जायँ और उनमें छोटी-छोटीगाठें हों जो नाइट्रोजन की अधिक मात्रा वायु से खींच सकें,
(६) फसल दुर्बल भूमि में भी उग सके, तथा
(७) फसल को उगाने में कम परिश्रम और धन व्यय हो।

हरी खाद के योग्य फसलें—उपर्युक्त गुणों के अनुसार सनई और ढैंचा का प्रयोग हरी खाद में अधिक होता है। सनई कम पानी बरसने वालों स्थानों पर उगाई जा सकती है किन्तु ढैंचा इसके विपरीत है। सनई के बोने में पानी के विकास का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए अन्यथा वह सूख कर व्यर्थ हो जाती है। इनके अतिरिक्त मटर, मूँग, ज्वार, सेंजी, नील आदि फसलें भी हरी खाद में प्रयुक्त होती हैं। इन फसलों से भूमि को लगभग ३०० मन वनस्पति अंश और नाइट्रोजन की अधिक मात्रा उपलब्ध हो जाती है। इन सभी फसलों में अपने प्रत्येक गुणों के आधार पर 'सनई' ही उत्तम फसल मानी गई है जिसका प्रयोग अधिकांशत: हो रहा है।

सनई की हरी खाद बनाना—सनई का हरी खाद में प्रयोग अधिकतर खरीफ के समय में किया जाता है क्योंकि यह इसी ऋतु की फसल है। लेकिन इसे रबी के लिए भी तयार किया जा सकता है। सनई की फसल के बोने का उपर्युक्त समय जून होता है। खेत की सिंचाई करके बीज बो देना चाहिए ताकि पहली वर्षा होते-होते पोधे बढ़कर भूमि को ढक लेवें। बीज छिटकवाँ विधि से प्रति एकड़ एक मन के हिसाब से बोना चाहिए। दो महीने में सनई के पोधे काफी बढ़ जाते हैं और उनमें डण्ठल तथा पत्तियाँ भी पर्याप्त निकल आती हैं। जब पौधे लगभग २' या २½' के हो जायँ तो पटेला से फसल गिरा देनी चाहिए। इस समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आधी फसल एक दिशा को गिरे और आधी विपरीत दिशा में क्योंकि हल चलाने में सुविधा होगी। अब विक्ट्री या पंजाब हल से भूमि की जुताई कर देते हैं जिससे कि पोधे पूर्णरूपेण मिट्टी में दब जायँ। ठीक से न दबने पर पौधों का सड़ाव नहीं हो पाता और वे सूख कर अपनी शक्ति खो बैठते हैं। हल को जुताई उसी दिशा में होनी चाहिए जिधर फसल गिराई गई हो। जुताई करने के बाद खेत में पाटा चला देते हैं। इससे भूमि समतल हो जाती है और खुले पौधे भी ढक जाते हैं। इसके लगभग एक माह बाद दूसरी जुताई करके पौधों को पलट देना चाहिए। इससे ऊपर का अंश नीचे और नीचे का ऊपर हो जाता है जिससे सड़ाव उत्तम हो पाता है। इसकी पलटाई के कुछ दिनों बाद भूमि को देशी हल से जोतना प्रारम्भ कर देते हैं। यह जुताई समय-समय पर करते रहना चाहिए। इस प्रकार लगभग १ या १½ मास में सनई का सड़ाव हो जाता है और वह मिट्टी में घुल-मिल जाती है। सनई को सड़ाने के लिए खेत में नमी का होना अत्यावश्यक है। यदि अल्प वृष्टि या अनावृष्टि से भूमि में नमी की कमी हो या नमी बिल्कुल न हो तो सिंचाई करके खेत में नमी देनी चाहिए। काफी नमी होने से पौधे का सड़ाव शीघ्र हो जाता है। इस प्रकार सड़ाव हो जाने पर खेत की रबी की तैयारी

करनी प्रारम्भ कर देते हैं। सनई की खाद का प्रयोग प्रायः धान, आलू, गेहूँ और गन्ना की फसलों के लिए करते हैं।

जब सनई की खाद रबी के लिए तैयार करनी हो तो इसे वर्षा के ही पानी से बोना चाहिए क्योंकि इसके सड़ने के लिए काफी समय मिलता है। इसे शुरू बरसात या जून के आखिरी सप्ताह में बो देना चाहिए। अगस्त के प्रथम सप्ताह में वह गिरने के योग्य हो जाती है और सितम्बर तक उनका सड़ाव भी हो जाता है। इस प्रकार खेत को रबी की फसल के लिए तैयार करने का अधिक समय मिलता है। खरीफ की फसल के लिए हरी खाद जब देनी होती है तो उसे अप्रैल के महीने में ही पलेवा करके बो देना चाहिए बाद में आवश्यकतानुसार एक या दो सिंचाई करना चाहिए। जून के आधे तक फसल काफी बढ़ जाती है। जब फसल भूमि में दबाने योग्य हो जाय तो उसे पाटा और मिट्टी उलटने वाले हल की सहायता से मिट्टी में ढक देना चाहिए। इसके बाद यदि हाल में वर्षा नहीं हुई तो एक हल्की सिंचाई कर देना चाहिए। २० दिनों पश्चात् देशी हल से खेत की जुताई करनी प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार सनई शीघ्र सड़ जाती है और १५ जुलाई या जुलाई के अंतिम सप्ताह तक भूमि खरीफ की फसल बोने योग्य हो जाती है। सनई के अतिरिक्त कुछ अन्य फसलें भी हरी खाद में अच्छा काम देती हैं। मूँग और उरद शीघ्र उगती हैं। इनके सड़ने में भी कम समय लगता है। मूंग नं० १ तो केवल दो महीने में पक कर तैयार हो जाती है। रबी के फसल के लिए मटर के पौधों का भी प्रयोग हरी खाद में होता है परन्तु ढैंचा अधिक उपयुक्त होता है। जिस स्थान पर सिंचाई की व्यवस्था ठीक नहीं होती वहाँ वर्षा के पहले फसल की बोआई नहीं की जा सकती। ऐसे स्थल पर पहली वर्षा में ही बीज बोना चाहिए।

हरी खाद से लाभ—हमारे देश की भूमि में जीवांशों और नाइट्रोजन की भारी कमी है। नाइट्रोजन पौधों के लिए आवश्यक तत्व है। इसकी कमी होने पर पौधे का बढ़ाव ठीक नहीं हो पाता और फसल दुर्बल पड़ जाती है। इस अवस्था में ऐसी खादों का देना आवश्यक होता है जिनमें नाइट्रोजन पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो। हरी खाद के पौधे अधिकतर फलीदार होते हैं। इनकी जड़ों में छोटी-छोटी गाँठें होती हैं जिनमें वायुमण्डल से नाइट्रोजन खींचने वाली बैक्टीरिया रहती हैं। ये बैक्टीरिया नाइट्रोजन लेकर भूमि को प्रदान करती हैं और भूमि नाइट्रोजन से मालामाल हो जाती है जिन्हें पौधे ले सकते हैं।

भूमि में पौधों के पूर्ण रूप से सड़ने से पहले, अपरिपक्व खाद (Humus) तैयार होती है जिससे भूमि की जल ग्रहण करने और उसे धारण करने की शक्ति बढ़ जाती है। भूमि का रंग काला हो जाता है जिससे उसका मृदा-ताप ठीक रहता है। मृदा ताप के ठीक रहने से पौधों का बढ़ाव अच्छा होता है। हरी खाद के लिए अधिकतर लम्बी जड़ वाली फसलें ही प्रयोग करते हैं। ये फसलें भूमि की निचली सतह से खुराक खींचकर अपना जीवन स्थिर रखती हैं और ऊपर वाला अंश बोई जाने वाली फसल के लिए छोड़ देती हैं। पौधे अपने द्वारा लिये खनिज अंश को भूमि में छोड़ देते हैं।

इससे वे अगली फसल के लिए सुलभ होते हैं। पौधे जो अपनी खुराक बनाने के लिए प्रकृति से कार्बन और आक्सीजन प्राप्त करते हैं, भूमि में दबकर इन तत्वों की वृद्धि करते हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुत से लाभ होते हैं :—

(१) पौधों को खुराक पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने लगती है,
(२) भूमि पानी द्वारा कट-कट कर बहने से रुक जाती है
(३) फसल के लिए नमी बनी रहती है,
(४) खेत में खर-पतवार कम हो जाते हैं,
(५) कठोर और खराब भूमि पौधों के लिए उपयुक्त हो जाती है,
(६) पानी का निकास ठीक रूप से होता है, तथा
(७) भूमि में वायु-प्रवेश होने लगता है।

हरी खाद का प्रयोग किसानों को अवश्य ही करना चाहिए क्योंकि यह सभी खादों से सस्ती और उत्तम खाद है। इसमें विशेष देख-भाल की भी आवश्यकता नहीं होती।

विष्ठा की खाद—गोबर की खाद से मनुष्य के मल-मूत्र की खाद उत्तम होती है। बम्बई और कानपुर में किये गये अनुसन्धानों से इस कथन की पुष्टि हो जाती है। इसका प्रभाव फसलों पर अच्छा पड़ता है और एक बार की दी हुई खाद कई फसलों तक बनी रहती है। इस खाद में पौधों के सभी आवश्यक तत्व पाये जाते हैं। नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटास की मात्रा, प्रतिशत के हिसाब से १, १·१ और ·२५ पड़ती है। अनुमान लगाया गया है कि १०,००,००० मनुष्यों के मलमूत्र से ५½ करोड़ पौं० नाइट्रोजन प्राप्त होती है। यदि यह पदार्थ अच्छी तरह से काम में लाया जाय तो कम परिश्रम और कम धन में ही अधिक और लाभकर खाद तैयार की जा सकती है। हमारे देश में केवल कुछ बड़े-बड़े शहरों में ही इसका प्रयोग होता है। अन्य स्थानों के मल-मूत्रादि व्यर्थ में बहा दिये जाते हैं या अनावश्यक रूप में भूमि पर बिखरा दिये जाते हैं जो गन्दगी में वृद्धि करने के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं पहुँचा पाते। चीन आदि देश इस पदार्थ के उपयोग में बहुत आगे बढ़ चुके हैं वे इसे व्यर्थ नहीं जाने देते। हमारे यहाँ देहातों में तो लोग ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र त्याग करते हैं जो सूर्य की गर्मी और तेज हवाओं से सूख कर अपना अधिकांश उपयोगी भाग विनष्ट कर देता है। जो बचता है वह भूमि के ऊपर पड़ा रहता है और पानी के साथ बह जाता है। अधिकतर लोग ऊँचे टीले या जंगल-झाड़ियों वाले स्थान पर शौच होते हैं जो पौधों के उगने का स्थान नहीं होता है। शहरों में भी म्यूनिसिपैल्टी का प्रबन्ध यही होता है कि इस गन्दे पदार्थ को किसी प्रकार शहर से बाहर किया जाय। ये शहर के बाहर अव्यवस्थित रूप में जमा कर दिये जाते हैं जिनसे दूर-दूर तक गन्दगी जाती है और वे पदार्थ किसी काम के नहीं होते। बड़े-बड़े शहरों में जहाँ पाखानों में फ्लश सिस्टम (Flush System) होता है; पाखाने नालियों के पानी द्वारा बहा दिये जाते हैं और वह पानी किसी नदी में मिल जाता है। इससे वह थोड़ा-बहुत नदी के जल को भी गन्दा करता है और पौधों की पहुँच के बाहर तो चला ही जाता है।

बिष्ठा की खाद हमारे लिए बहुत उपयोगी है। अतः इसकी रक्षा के लिए हमें सचेष्ट होना चाहिए और इसे पौधों के लिए प्राप्य बनाना चाहिए।

बड़े-बड़े नगरों की गन्दगी नालियों को, जिनमें शहर का कूड़ा-करकट, मल-मूत्र आदि पदार्थ भरे हों, बेकार बह जाने से रोकना चाहिए और यदि सम्भव हो तो पानी चाहने वाले खेतों की सिंचाई इसी पानी से करना चाहिए। यदि तत्काल इसकी कोई आवश्यकता न हो तो बड़े-बड़े हौजों या गड्ढों में इन्हें संचित करना चाहिए जहाँ इनका सड़ाव हो सके। जब पानी खूब सड़ जाय और उसकी गन्दगी निकल जाय तो उसे खेत में डाल कर पौधों के काम में लाना चाहिए। छोटे शहरों में जहा मल एक स्थान पर इकट्ठे किये जाते हों वहाँ खेतों में नालियाँ बनाकर उन्हें ढक देना चाहिए। इसके लिए खेत में बड़ी-बड़ी नालियो बना लेनी चाहिए और नालियों की मिट्टी किनारे पर छोड़ देनी चाहिए। इससे यह लाभ होता है कि नाली के भर जाने जर मिट्टी द्वारा उसे ढक दिया जाता है। नालियाँ यदि उथली रहें तो और अच्छा है। ताजी बिष्ठा खेत में छोड़ने के १५-२० दिन वाद खेत की एक जुताई कर देनी चाहिए। लगभग दो माह में खाद तैयार हो जाती है। खेत में नलियों का निर्माण नीचे के चित्र के अनुसार
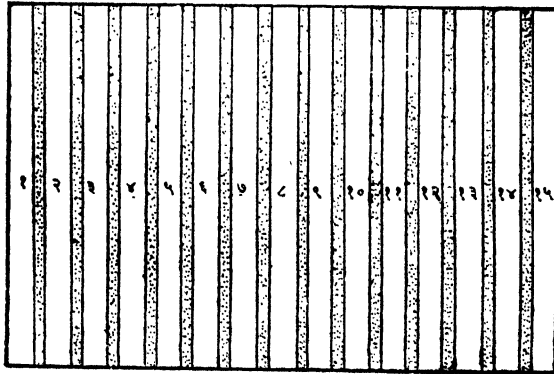
चित्र ६१—खेत में बिष्ठा की खाद देने का नमूना

होना चाहिए। नं० १ गड्ढा जब भर जाय तो १-२ के बीच की मिट्टी गड्ढे में पलट देते हैं। फिर न० २ को भरना शुरू करते हैं। जब वह भर जाता है तो मेंड़ की मिट्टी पलट देते हैं। इस प्रकार सारा खेत खाद से भर दिया जाता है।

देहातों में बिष्ठा को खाद के रूप में लाने के लिए साधारण उपाय यह है कि प्रत्येक आदमी अपना बिष्ठा खेत में ही त्याग करे। वह बिष्ठा करते समय अपने साथ एक खुरपी रखे और उससे एक गड्ढा तैयार करके मल-त्याग करे फिर उसकी सहायता से उसे मिट्टी द्वारा ढक दिया करे। इस प्रकार जब सारा खेत भर जाय तो

कुछ दिनों बाद जुताई कर देनी चाहिए। एक दूसरी रीति भी प्रयोग की जाती है। खेत में लम्बी-लम्बी नालियाँ बना ली जाती हैं जिनकी गहराई और चौड़ाई १' होती है। लोग प्रतिदिन उसी नाली में मलत्याग करते हैं और किनारे पर रखी मिट्टी से उसे ढँक दिया करते हैं। किनारे पर रखी मिट्टी नाली के दोनों ओर होनी चाहिए ताकि उन पर मल त्याग करते समय पैर रखा जा सके। यह विधि अत्युत्तम होती है।

खलियाँ—हमारे देश में खलियों का प्रयोग जानवरों को खिलाने में किया जाता है किन्तु खादों में भी इनका काफी महत्व है। इनमें नाइट्रोजन की मात्रा अधिक पाई जाती है। इसी कारण ये गोबर की खाद से उत्तम सिद्ध हुई हैं। ये फसल की तात्कालिक आवश्यकता पूरी करने के लिए काम में लाई जाती हैं। खली के नाइट्रोजन का ३/४ अंश फसल भूमि में मिलाने पर पहली बार में ही ले लेती है। बाकी १/४ अंश दूसरी फसल के लिए भूमि में बच रहता है। निम्नांकित खलियों का कृषि में अधिक महत्व है:—

(१) नीम की खली,
(२) सरसों की खली,
(३) महुए की खली,
(४) अण्डी की खली,
(५) अलसी की खली,
(६) तिल की खली, तथा
(७) बिनौला की खली।

इन खलियों में सरसों, तिल, अलसी और बिनौला की खलियाँ जानवरों के खिलाने में काम आती हैं। इसलिए खादों में इनका प्रयोग बहुत कम होता है; क्योंकि महँगी होने के कारण खर्च अधिक पड़ जाता है,। मूँगफली, अरण्डी और नीम की खली अधिक काम में लायी जाती हैं। नीम की खली में दीमक मारने की अपूर्व शक्ति होती है। जिस खेत में दीमक लग गये हों और वे फसल को अधिक हानि पहुँचा रहे हों तो वहाँ नीम की खली का प्रयोग किया जाता है। भूमि की नाइट्रोजन की कमी दूर करने के लिए अरण्डी की खली देनी चाहिए क्योंकि अन्य खलियों की अपेक्षा यह नाइट्रोजन की मात्रा अधिक रखती है।

जिस खेत में खली का प्रयोग करना हो उसमें नमी की पर्याप्त मात्रा होनी चाहिए। कारण, कि खलियाँ घुलने के लिए अधिक पानी चाहती हैं। अतः इन्हें वर्षा होने वाले या सिंचाई की सुविधा वाले स्थानों पर ही छोड़ना चाहिए। छोड़ने के पहले उन्हें बारीक रूप में कूट लेना चाहिए और छोड़ने के बाद यदि सम्भव हो तो एक हल्की जुताई कर देना चाहिए। अधिकतर इनको बोआई के १५ दिन पहले महीन करके मिट्टी में अच्छी तरह मिला देते हैं ताकि फसल के उगते-उगते मिट्टी में घुल सकें और पौधों के काम आ सकें। महुआ की खली अधिक दिनों में घुलती है, अतः उसका प्रयोग बोआई के बहुत पहले ही करना चाहिए। इन खलियों में नाइट्रोजन,

फासफोरस और पोटास की मात्रा एक समान नहीं होती बल्कि भिन्न-भिन्न होती है जिसका उल्लेख नीचे की सारिणी में किया जाता है :—

क्रम संख्या	खलियाँ	नाइट्रोजन	फास्फोरस	पोटास
१	सरसों	५.२१	१.७४	१.१७
२	मूंगफली	७.२९	१.५	१.३
३	नीम	५.२२	१.०८	१.४
४	अरण्डी	४.३	१.८५	१.३
५	महुआ	२५	.८	१.८
६	तिल	६.२	२.०९	१.२
७	अलसी	५.६	१.४	१.३
८	नारियल	३.०२	१.०	१.८
९	बिनौला (छिलका वाली)	३.९	१.९	१.६
१०	बिनौला छिलका उतरी हुई	६.४१	२.९	२.१

कुछ खलियाँ दो प्रकार की होती हैं जिनमें बिनौला, मूंगफली और अरण्डी आ सकती हैं :—

(१) छिलके वाली तथा
(२) बिना छिलके वाली

छिलके वाली खली में नाइट्रोजन की मात्रा कम होती है परन्तु बिना छिलके वाली खली में नाइट्रोजन की मात्रा अधिक होती है।

खाद का सड़ाव

खाद या जीव अंश जब भूमि में दिये जाते हैं तो वे उसी रूप में पौधों के भोजन के काम में नहीं आते, अपितु उनमें कुछ परिवर्तन होता है। यही परिवर्तन सड़ाव कहलाता है। सड़ाव के पश्चात् जीव-अंश पौधों द्वारा ले लिए जाते हैं और तत्पश्चात् उनकी वृद्धि में सहायक होते हैं।

सड़ाव की क्रिया कुछ विशेष प्रकार के सूक्ष्म जीवों द्वारा सम्पन्न होती है जिन्हें (micro organism) के नाम से पुकारते हैं। ये सूक्ष्म जीव कई प्रकार के होते हैं। इनमें से कुछ फन्जाई, ऐक्टिनोमाइसीटीस, माइक्सोमाईसीटीस और कुछ बैक्टीरिया हैं। बैक्टीरिया इनमें बहुत महत्वपूर्ण कीटाणु हैं। ये जीव अंशों, खादों, गोबर, हवा, पानी आदि में जीवित अवस्था में पाई जाती हैं और यहीं से अपना आहार लेकर अपनी वृद्धि भी करती रहती हैं। अपना कार्य करते हुए ये मानव जाति का बहुत कल्याण कर जाती हैं। जीव अंशों या खादों में उपस्थित होकर ये सड़ाव की क्रिया प्रारम्भ कर देती है

और शीघ्र ही उनमें ऐसा परिवर्तन ला देती हैं जो पौधों के भोजन के योग्य हो जाता है। यद्यपि कुछ बैक्टीरिया हानिकर भी होती है किन्तु लाभ के सामने हानि का अंश लगभग नगण्य ही माना जाता है।

बैक्टीरिया की उपस्थिति खाद या जीव अंशों के ठोस और तरल दोनों रूपों में पाई जा सकती है। प्रकृति में ज्यों ही कहीं गोबर दिखाई पड़ा कि सहस्रों की संख्या में बैक्टीरिया उसपर आक्रमण कर देती है और अपनी क्रिया शुरू कर देती है। इसक्रिया के फलस्वरूप वह गोबर, गोबर नहीं रह जाता बल्कि वह किन्हीं अन्य रूपों में परिवर्तित हो जाता है।

पिछले पृष्ठों में पौधों के भोजन तत्वों पर विचार करते हुए हमने देखा था कि पौधे अपने भोजन में कुछ नाइट्रोजनरहित तत्व लेते हैं और कुछ नाइट्रोजन युक्त। नाइट्रोजन रहित तत्वों में कार्बोहाइड्रेट, चर्बी और कुछ नमक सम्मिलित होते हैं। कार्बोहाइड्रेट कई प्रकार के होते हैं। इनमें कुछ शीघ्र सड़ने वाले होते हैं और कुछ देर में। शीघ्र सड़ने वालों में चीनी और मांड़ी हैं और देर में सड़ने वाला सेलुलोज है। कार्बोहाइड्रेट के सड़ाव में दो प्रकार की बैक्टीरिया काम करती हैं।

(१) वायु की उपस्थिति में काम करने वाली (Aerobic) और
(२) वायु की अनुपस्थिति में काम करने वाली (Anoerobic)

ऐरोबिक तथा अनेरोबिक बैक्टीरिया में मुख्य दो हैं—एरो बैक्टर (Aerobactor) और एमाइलोबैक्टर (Amylobactor)

चीनी और मांड़ी का सड़ाव—ऐसे कार्बोहाइड्रेट गोबर या जीव अंशों में अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। चीनी पानी में अतिघुलनशील है, अतः यह शीघ्र ही पौधों के काम में आने योग्य हो जाती है। स्टार्च या मांड़ी इसकी अपेक्षा देर में घुलनशील है किन्तु सेलुलोज से यह शीघ्र घुल जाती है। चीनी और माँड़ी पर ऐरोबिक और अनेरोबिक दोनों प्रकार की बैक्टीरिया कार्य करती हैं और उन्हें पानी, कार्बन डाइआक्साइड, ब्यूटायरिक एसिड, लैक्टिक एसिड में परिवर्तित कर देती हैं। कभी-कभी इस सड़ाव में स्वतंत्र हाइड्रोजन भी निकलती है। ऐसा देखा गया है कि स्टार्च के सड़ाव में ब्यूटायरिक एसिड के साथ-साथ एसेटिक एसिड और इथाइल अल्कोहल की भी थोड़ी मात्रा बनती है। किन्तु ऐसा सदैव नहीं होता।

चर्बी का सड़ाव—चर्बी का सड़ाव आक्सीजन की उपस्थिति में शीघ्र होता है किन्तु इसकी अनुपस्थिति में यह बहुत धीरे-धीरे सड़ती है। इस सड़ाव में भाग लेने वाली बैक्टीरिया मुख्यत बैसिलाई और माइक्रोकाकाई हैं। चर्बी के सड़ाव मग्लीसरीन बहुत अधिक परिमाण में बनती है परन्तु यह स्थिर नहीं रहती बल्कि शीघ्र ही फार्मिक एसिड, ब्यूटायरिक एसिड, एसेटिक एसिड और मिथाइल अल्कोल में बदल जाती है।

सेलुलोज का सड़ाव—सेलुलोज के रूप में कार्बोहाइड्रेट कपड़ों, रूई, कागज, पौधों के सेलों आदि में अधिकता में पाया जाता है। हरे या सूखे चारे में भी इसकी

उपस्थिति होती है। जानवर जो चारा खाते हैं उसका अधिक अंश सेलुलोज सहित मल रूप में बाहर निकल जाता है। इस सेलुलोज का सड़ाव देर में होता है। इसपर सेलुलोज-फर्मेंटिंग बैक्टीरिया आक्रमण करती है। इसमें एक्टीनोमाइसीटीस (Actinomycetis) और स्पाइरोचीटासाइटोफाइगा (Spirocheatacytophaga) नामक कीटाणु काम करती है। ये कीटाणु सेलुलोज को मीथेन, कार्बन-डाई-आक्साइड और हाइड्रोजन में तोड़ देते हैं। किन्तु जब ढेर में रखी हुई सेलेलोज को सड़ाना होता है तो कीटाणु पहले खाद के उन भागों पर कार्य करते हैं जो वायु के अधिक सम्पर्क में होते हैं। इससे सेलुलोज पर आक्सीकरण की क्रिया होती है और सेलुलोज, कार्बन-डाई-आक्साइड तथा पानी में बदल जाता है। खाद के उन भागों पर जो भीतर की ओर होता है वायु की अनुपस्थिति में काम करने वाली बैक्टीरिया आक्रमण करतें हैं और सेलुलोज को कार्बन-डाई-आक्साइड, मीथेन, हाइड्रोजन, ब्युटार्थरिक एसिड और एसेटिक एसिड में तोड़ देती है। सड़ाव की क्रिया आक्सीजन की उपस्थिति में जितनी तीव्र गति से होती है उतनी आक्सीजन की अनुपस्थिति में नहीं।

नाइट्रोजन-रहित पदार्थों के सड़ाव पर विचार कर लेने के पश्चात् हम नाइट्रोजन मय पदार्थों के सड़ाव पर ध्यान देंगे। नाइट्रोजन की उपस्थिति तरल रूप में मूत्र में पाई जाती है। मूत्र यूरिया और यूरिक इसके प्रधान स्रोत हैं ठोस रूप में यह गोबर या मल में उपस्थित रहती है जिनमें प्रधान स्रोत प्रोटीन है।

यूरिया का सड़ाव—यूरिया के सड़ाने में कोकस, बैसिली, यूरोबेसिलसपास्टचूरी, यूरोबेसिलम, इक्लाक्सी आदि बैक्टीरिया काम करती हैं। इनके कार्य के फलस्वरूप यूरिया अमोनियम कार्बोनेट में बदल जाती है और यह अमोनियम कार्बन-डाई-आक्साइड और पानी में परिवर्तित हो जाती है।

$$CO\ (NH_2)_2 + 2H_2O\ \ (NH_4)_2\ CO_3$$
$$(NH_4)_2\ CO_3\ \ 2NH + CO_2 + H_2O$$
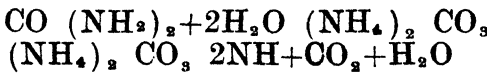
प्रोटीन का सड़ाव—प्रोटीन नाइट्रोजनस यौगिक है। यह खादों और जीव अंशों में अधिक परिमाण में पाया जाता है। प्रोटीन के सड़ाव में तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं :—

१. अमोनिफिकेशन
२. नाइट्रिफिकेशन
३. डिनाइट्रिफिकेशन

(१) अमोनिफिकेशन—यह वह क्रिया है जिसमें प्रोटीन अमोनिया में बदल जाती है। इस क्रिया के लिए कुछ विशेष प्रकार की बैक्टीरिया उत्तरदायी होती हैं। कुछ बैक्टीरिया शीघ्र अमोनिया बना देती है और कुछ देर में।

उचित दशा में नाइट्रोजन पदार्थों के प्रोटीन अंश का सड़ाव प्रारम्भ होता है किन्तु अमोनिया बहुत कम तैयार हो पाती है। अमोनिया की मात्रा ऐसे सड़ावों में वायु की अनुपस्थिति पर निर्भर रहती है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ कि हाइड्रोजन का अमोनिया में परिवर्तन खुली हवा की अपेक्षा हवा की अनुपस्थिति में अधिक होता है।

(२) **नाइट्रिफिकेशन**—अमोनिफिकेशन क्रिया के पश्चात् नाईट्रिफिकेशन क्रिया का प्रारम्भ होता है। अमोनिफिकेशन क्रिया की अमोनिया इस क्रिया में आक्सीकरण करती है। और फलस्वरूप नाइट्रस एसिड तथा पानी बनता है। यह नाइट्रसएसिड पर फिर आक्सीजन काम करती है। और अन्त में नाइट्रिक एसिड तैयार होता है: नीचे के एकीकरण द्वारा इसे और स्पष्ट किया जा सकता है।

$$2HNO_3+3O_2-2HNO_2+2H_2O$$
$$2HNO_2+O_2-2HNO_3$$
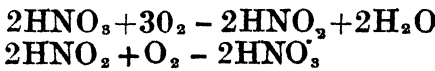
अमोनिया को नाइट्रिक एसिड या नाइट्राइड में बदलने का श्रेय एक प्रकार की बैक्टीरिया को दिया जाता है। यह बैटीरिया नाइट्रोसोमोनस (Nitrosomonas) कहलाती है। इसी से सम्बन्धित एक और बैक्टीरिया पाई जाती है। जिसे नाइट्रेट बैक्टीरिया नाइट्रोबैक्टर कहते हैं। ये नाइट्राइट को आक्सीकृत कर नाइट्रेट बना देती है। नाइट्रिफिकेशन क्रिया में जो नाइट्रिक एसिड बनी थी वह भूमि में पाये जाने वाले क्षारों में मिलकर नाइट्रेट बनाती है। इन क्षारों में कैल्शियम या मैगनीशियम होती है। प्रायः कैल्शियम नाइट्रेट ही निर्मित होता है

(३) **डिनाईट्रिफिकेशन**:—डिनाईट्रिफिकेशन, नाइट्रिफिकेशन के ठीक विपरीत होता है। नाइट्रिफिकेशन में हमने पढ़ा था कि नाइट्रोजनस पदार्थों का आक्सीकरण होता है और फिर नाइट्रेट बहता है। जिसे पौधे अपने भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं। किन्तु जिस समय यह क्रिया होती रहती है, उस समय कुछ अन्य क्रियायें भी होती हैं। जिनमें से कुछ नाइट्रिफिकेशन के बिल्कुल उल्टी होती हैं ऐसी ही क्रियायें डिनाइट्रिफिकेशन कही जाती हैं। डिनाइट्रिफिकेशन क्रिया एक प्रकार की बैक्टीरिया द्वारा संपादित होती है जो आक्सीजन की अनुपस्थिति में या बहुत कम आक्सीजन के होने पर काम करती है। इसके लिए नाइट्रेट तथा जीवांश की मात्रा उपस्थित होनी चाहिये।

खाद के ढेरों या गड्ढों में प्रायः डिनाइट्रिफिकेशन की क्रिया नहीं होती क्योंकि वहाँ नाइट्रोजन सदैव गैस रूप में उड़ जाया करती है। किन्तु वायु की उपस्थिति में नाइट्रिफिकेशन और डिनाइट्रिफिकेशन दोनों क्रियायें सम्पादित होती हैं। डिनाइट्रि-फिकेशन उस समय होती है जब कि खाद वर्षा के जल से पूर्णतया सन्तृप्त हो गई हो।

खाद या जीवांशों के सड़ाव के लिए निम्नलिखित बातों का विशेष प्रभाव पड़ता है।

(१) **तापक्रम**—खाद के सड़ाव के लिए एक अनुकूल तापक्रम होता है। लोगों का ऐसा विचार है कि खाद का तापक्रम जितना ही अधिक होगा, उसका सड़ाव उतना ही शीघ्र होता है। किन्तु ८० से ९०° फारेनहाइट का तापक्रम विशेष अच्छा पड़ता है। १२५ से ऊपर तापक्रम पहुँच जाने से सड़ाव में काम करने वाली बैक्टीरिया अपना काम बन्द कर देती है। यही स्थिति उस समय भी होती ह जब कि तापक्रम ३२° से नीचे होता है।

(२) **नमी की मात्रा**—खाद में नमी की उपस्थिति से तापक्रम गिर जाता है और तापक्रम के गिरने से सड़ाव की क्रिया रुक जाती है या मन्द गति से होने लगती है। जब खाद में पानी पहुँच जाता है तो वायु की मात्रा कम हो जाती है और वायु की उपस्थिति में काम करने वाले कीटाणु अपना कार्य मन्द कर देते हैं या बिल्कुल बन्द कर देते हैं।

३. **वायु की मात्रा**—जब खाद खुली होती है तो उसे प्रकाश तथा आक्सीजन की अधिक मात्रा उपलब्ध होती है। ऐसी दशा में एरोबिक या हवा की उपस्थिति में काम करने वाली बैक्टीरिया अपना काम अधिक तेजी से करती है और सड़ाव तीव्र गति से होने लगता है। किन्तु वायु की अनुपस्थिति में ऐसा नहीं होता। इसके साथ ही यदि खाद का ढेर बहुत ऊँचा और दबा हुआ है तो खाद में वायु की कमी पायी जाती है और सड़ाव धीरे-धीरे होता है। परन्तु ढीले ढेरों में यह क्रिया तेजी से होती है। हवा की कम मात्रा या अनुपस्थिति में अनेरोबिक बैक्टीरिया अपना काम आरम्भ करती है।

४. **खाद के अंग**—खाद का सड़ाव बहुत कुछ उसके अंश पर निर्भर करता है। जिस खाद में घुलनशील नाइट्रोजनमय पदार्थों की जितनी ही अधिकता होगी, उसका सड़ाव उतना ही शीघ्र होगा। उदाहरण के लिये गोबर की अपेक्षा मूत्र का सड़ाव शीघ्र होता है क्योंकि मूत्र में नाइट्रोजन का प्रतिशत अधिक होता है।

कृत्रिम या बनावटी खादें—गोबर, कम्पोस्ट, हरी खाद, विष्ठा की खाद और खलियां साधारण ढंग से सर्वसाधारण लोगों में ही बना ली जाती हैं। इनसे भूमि के किसी तत्व विशेष की कमी को दूर किया जा सकता है। इनमें किसी तत्व का अंश कम हो जाता है तो किसी का अधिक। इस कठिनाई को दूर करने के लिए वैज्ञानिक ढंग पर रासायनिक खाद तैयार की गई है जिन्हें कृत्रिम या रासायनिक खाद कहते हैं। इन्हें विशेष खाद या फर्टिलाइजर (Fertilizer) भी कहते हैं। इनसे एक या दो तत्व प्राप्त किये जाते है। इनका निर्माण किसी एक तत्व के लिए ही होता है जिसके नाम पर उन्हें पुकारा जाता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई खाद नाइट्रोजन प्रदान करती है तो उसे नाइट्रोजन खाद कहेंगे। इसी आधार पर रासायनिक खादों को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है:—

(१) नाइट्रोजनस या नाइट्रोजन देने वाली खाद,
(२) फासफेटिक या फासफोरस देने वाली खाद, तथा
(३) पोटैशिक या पोटाश देने वाली खाद

नाइट्रोजन या नोषजन देने वाली खाद—जिस फसल में नाइट्रोजन की कमी मालूम हो उसमें नाइट्रोजन देने वाली खाद अवश्य छोड़नी चाहिये किन्तु साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि भूमि में खाद की मात्रा उपयुक्त हो। नाइट्रोजन के कम या अधिक दोनों दशाओं में फसल को हानि पहुँचने की आशंका रहती है। कभी कभी किसान बिना फसल की कमी पहचाने हुए ही खाद दे देता है। जिसका परिणाम कुछ का कुछ हो जाता है। अतः फसल के कुछ लक्षणों से किसी तत्व की कमी मानी जा

सकती है। ये लक्षण प्रत्येक कृषक को जानना चाहिये। नाइट्रोजन के अभाव के दो लक्षण हैं :—

(१) अधिक नमी होने पर भी पौधे का बढ़ाव रुक जाता है तथा
(२) पोधों की पत्तियाँ पीले रंग की होने लगती हैं।

जब फसल में उपर्युक्त दोनों लक्षण पाये जायँ तो निश्चय ही उसमें खाद डालनी चाहिये और वह खाद नाइट्रोजन-प्रधान होनी चाहिये।

नाइट्रोजन देने वाली खादों का प्रभाव—जिस फसल में नाइट्रोजन देने वाली खादों का प्रयोग किया जाता है उसमें नीचे लिखे हुए प्रभाव पड़ते हैं :—

(१) पौधे की पत्तियाँ और उसके हरे भाग की अभिवृद्धि हो जाती है,
(२) दाना मोटा और गूदेवाला हो जाता है,
(३) पौधे कोमल हो जाते हैं,
(४) पत्तियों का रंग गहरा हरा हो जाता है,
(५) दाने के साथ भूसे की मात्रा बढ़ जाती है तथा
(६) फसल का बढ़ाव अधिक हो जाता है।

फसल को अधिक नाइट्रोजन देने से हानियाँ—फसल में नाइट्रोजन का उचित परिमाण तो उपयुक्त होता है किन्तु अधिक हो जाने से कई हानियाँ उठानी पड़ती हैं। ये हानियाँ नीचे दी जा रही हैं :—

(१) पोधों का तना दुर्बल हो जाता है जिससे वे हवा के जरा से झोंके में भी गिर जाते है,
(२) फसल के बढ़ाव में अधिक अभिवृद्धि होने पर वह देर में पकती है,
(३) पौधे में बीमारियाँ शीघ्र लग जाती हैं, तथा
(४) भूसा का अनुपात दाने से अधिक हो जाता है।

नाइट्रोजन देने वाली खादें—इनमें सोडियम नाइट्रेट, अमोनियम सल्फेट कैल्शियम सिनेमाइड और पोटैशियम नाइट्रेट आते हैं जिनमें नाइट्रोजन का अनुपात भिन्न-भिन्न होता है। इनमें नाइट्रोजन के अतिरिक्त कुछ अन्य तत्व भी थोड़ी बहुत मात्रा में पाये जाते हैं किन्तु उनकी मात्रा नगण्य होती है। इन खादों में विशेषतया सोडियम नाइट्रेट और अमोनियम सल्फेट का प्रयोग कृषि में अधिक होता है।

सोडियम नाइट्रेट—यह भूरे सफेद रंग की दानेदार खाद है। यह नमी बहुत शीघ्र खींच लेती है और उसी में अपने को फैला लेती है। इसे खड़ी फसल में देते हैं। बोआई के बाद जब पौधे बड़े हो जायँ तो इसका प्रयोग करना चाहिए। फसल पर यह अपना प्रभाव दो-तीन दिनों में दिखला देती है। खाद छिड़कते समय खेत में नमी का होना आवश्यक है। यदि सम्भव हो तो एक हल्की सिंचाई करके खाद छिड़कनी चाहिए। खाद देते समय उसमें उसकी मात्रा का दोगुना या तिगुना भुरभुरी मिट्टी मिला देनी चाहिए

ताकि उसका वितरण अच्छा हो। खाद एक ही बार न देकर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दो-तीन बार में दी जाय तो अधिक उत्तम हो। इसमें १५%-१६% नाइट्रोजन पायी जाती है। सोडियम नाइट्रेट के बराबर प्रयोग से खेत ऊसर हो जाता है। अतः इसका प्रयोग प्रति वर्ष नहीं करना चाहिये। इसे प्रति एकड़ ५० से ३०० पौं० तक छोड़ा जाता है।

अमोनियम सल्फेट—अमोनियम सल्फेट में सोडियम नाइट्रेट की अपेक्षा नाइट्रोजन की मात्रा अधिक होती है। इसमें लगभग २०.६% नाइट्रोजन उपस्थित रहता है। यह पानी में घुलनशील है किन्तु घुलने में सोडियम नाइट्रेट की अपेक्षा अधिक समय लेता है। देने के ८वें या १०वें दिन इसका प्रभाव पड़ता है। यह फसल में भुरभुरी मिट्टी के साथ मिलाकर दी जाती है। यह खाद प्रति एकड़ ५०-२०० पौं० तक दी जाती है। इसे किसी अन्य खाद के साथ मिलाकर नहीं देना चाहिए क्योंकि इसमें पाई जाने वाली अमोनिया के उड़ जाने का भय रहता है। जब यह भूमि में रहती है तो उस पर बैक्टीरिया का आक्रमण होता है और इस प्रकार इसे नाइट्रेट में बदल दिया जाता है जिससे कि खाद पौधों के लिए सुलभ हो सके। इसे चावल, गेहूँ, आलू, गन्ना आदि फसलों में प्रयोग किया जाता है।

कैल्शियम सीनेमाइड—इसमें २०% नाइट्रोजन पाई जाती है। इसका रंग काला होता है और चूर्णरूप में पाया जाता है। यह प्रति एकड़ १००-२०० पौं० तक मिट्टी में मिलाई जाती है। यह खड़ी फसल में दी जाती है क्योंकि १५-२० दिनों बाद ही इसका प्रभाव फसल पर पड़ता है।

पोटेशियम नाइट्रेट या लोनी मिट्टी—इसमें नाइट्रोजन १२% और पोटाश ४५% पाया जाता है। यह बोआई के बाद खड़ी फसल में जब पौधे १' या २' के हो जायँ, दी जाती है। इसका प्रयोग १००-३०० पौं० तक प्रति एकड़ किया जाता है। यह महँगी खाद है, इसलिए कृषक बहुत कम इसका उपयोग करते हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार में या ऊँचे टीलों पर भूमि के ऊपरी धरातल पर पाई जाती है जिसे खुरच कर कुछ लोग साल्टपीटर नामक खाद तैयार करते हैं। बिहार में यह खाद अधिक रूप में पाई जाती है।

इन खादों के अतिरिक्त अमोनियम नाइट्रेट, कैल्शियम नाइट्रेट आदि खादें भी नाइट्रोजन की कमी दूर करने के लिए काम में लाई जाती हैं।

फासफोरस देने वाली खादों का फसल पर प्रभाव—जिस भूमि में फासफोरस का अभाव रहता है उसमें फासफोरस प्रधान खादों का प्रयोग करते हैं। इन खादों के फसलों पर निम्नलिखित प्रभाव पड़ते हैं—

(१) पौधों की जड़ें काफी बढ़ जाती हैं जिससे खुराक ज्यादा खींच सकती हैं,

(२) बीमारी का सामना करने की शक्ति उनमें आ जाती है,

(३) पौधा का बढ़ाव अच्छा होता है,

(४) तनें बलिष्ट हो जाते हैं जिससे पौधे के गिरने का भय नहीं रहता,

(५) नाइट्रोजन का प्रभाव कम हो जाता है या बिल्कुल ही नहीं होता, तथा

(६) फसल शीघ्र पकती है।

कुछ फासफोरस देने वाली खादें—फासफोरस प्रधान खादों में सुपर फास्फेट और बेसिक स्लेग अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

सुपरफास्फेट—यह पानी में पूरा-पूरा घुलनशील नहीं है। अधिक दिन तक रखे रहने या मिट्टी में बेकार पड़े रहने से इसका बहुत अंश बेकार हो जाता है। इसका प्रयोग भुरभुरी मिट्टी के साथ कूंड़ों में ही करते हैं। इसे बोआई के पहले देना चाहिए क्योंकि यह घुलने में अधिक समय लेती है। एक एकड़ में इसकी १२०-४५० पौं० की मात्रा छोड़ी जाती है। इसमें फास्फोरस एसिड की मात्रा १५-२५ प्रतिशत तक पाई जाती है।

बेसिक स्लेग—इसका प्रयोग बीज बोने के पूर्व किया जाता है। यह खाद नम स्थानों पर अधिक देर तक रखने पर ढेले में बदल जाती है। इसमें फासफोरिक एसिड की मात्रा १६-२०% तक पाई जाती है। टाटा कम्पनी यह खाद प्रति वर्ष अधिक मात्रा में तैयार करती है।

हड्डी की खाद—फासफोरस की कमी दूर करने के लिए सूखी या उबाली हुई हड्डियों का प्रयोग किया जाता है। इसे भूमि में मिलाते समय अच्छी तरह बारीक करते हैं और जुताई के पहले भूमि में खूब मिलाते हैं। कभी-कभी इसे जलाकर बारीक किया जाता है। इस ढंग से बारीक करने में तो सरलता होती है किन्तु फासफोरस की मात्रा कम हो जाती है। सूखी हड्डी में २२ प्रतिशत, उबाली हड्डी में २८ प्रतिशत फासफोरस की मात्रा पाई जाती है।

पोटाश देने वाली खादों का फसलों पर प्रभाव—पोटाश का प्रयोग खाद के रूप में बहुत थोड़े समय से ही होने लगा है। यह तत्व पौधों को नमक रूप में दिया जाता है क्योंकि इसकी प्राप्ति खानों और नमकीन तालाबों में होती है। इसके देने से पौधों पेर चार प्रकार का प्रभाव पड़ता है—

१. फसल में दाना अच्छा और मोटा पड़ता है,
२. पौधे में खुराक बनने का कार्य अच्छी तरह होने लगता है,
३. यह फासफोरस और नाइट्रोजन के प्रभाव को कम करता है, तथा
४. पौधों में यह हरा रंग उत्पन्न करता है।

पोटैशियम सल्फेट—यह पोटाश प्रधान खाद है। यह आलू के खेतों में अधिक प्रभाव दिखलाती है क्योंकि इससे उपज तो बढ़ती ही है, आलू भी पुष्ट और बड़े होते हैं। फलों और तम्बाकू के लिए भी यह हितकर है। इसमें पोटाश की मात्रा ४५ से ५० प्रतिशत तक पाई जाती है। एक एकड़ में यह ११०-२०० पौं० तक छोड़ी जाती है।

पोटैशियम क्लोराइड—इसका प्रयोग विदेशों में खूब होता है। इसमें पोटाश का अनुपात ५२-५५ प्रतिशत तक होता है। इसे म्यूरिट ऑफ पोटाश भी कहते हैं।

इनके अतिरिक्त काइनाइट का भी प्रयोग पोटाश की पूर्ति के लिए किया जाता है। इसे बोआई के पहले ही छिड़क कर मिट्टी में खूब अच्छी तरह मिलाते ह।

चूना (Lime)—यह भूमि के कणों पर अपना अच्छा प्रभाव डालता ह। इसमें पौधे की खुराक घुल जाती है और पौधे के लेने योग्य हो जाती है। यह भूमि के अन्दर आ गई खराबियों को दूर कर देता है। इसके अतिरिक्त इससे निम्नलिखित प्रभाव भूमि पर पड़ते हैं :—

१. यह चिकनी मिट्टी की भुरभुरी और बलुई भूमि को सुधार देता है,
२. चूने की उपस्थिति म भूमि के अन्दर अमोनियम सल्फेट और सुपर फास्फेट अच्छा काम करते हैं,
३. मौजूदा पोटाश शीघ्र सुलभ हो जाती है,
४. भूमि के जीवांश पदार्थ इसकी सहायता से खाद-रूप में बदल जाते हैं,
५. यह भूमि में नाइट्रिक अम्ल बनने में सहायता देता है और फिर यह अम्ल नाइट्रेट बन जाता है ताकि पौधे ले सकें, तथा
६. बहुत से अप्राप्य पदार्थ जो चूने के न रहने पर पौधों को नहीं मिलते, मिलने लगते हैं।

स्लेकडचूना—इसका प्रयोग अन्य खादों के साथ किया जाना चाहिए क्योंकि यह जीवांश को अधिक क्रियाशील बना देता है। इससे उनके सड़ाव की क्रिया शीघ्र आरम्भ हो जाती है। इसका प्रयोग करते समय एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि भूमि कड़ी और सूखी न हो बल्कि भुरभुरी हो। इसे भूमि की गुड़ाई करके छोड़ा जाय तो अत्युत्तम हो। इसकी मात्रा प्रतिवर्ग गज में $\frac{1}{2}$ पौं० होनी चाहिए। अच्छा होता, जब कि इसे थोड़ा-थोड़ा करके कई बार में दिया जाता।

इसके अतिरिक्त चूर्ण खड़िया (पाउडर्ड चाक) और गैस चूना (गैस लाइम) का भी उपयोग चूने के लिए किया जाता है।

उपर्युक्त फर्टिलाइजरों के सिवाय और भी अनेक बनावटी खादें हैं जिन्हें कृषि के काम में लाया जाता है। अधिक लाभ के लिए इन खादों को एक साथ मिलाकर भूमि में दिया जाता है। किन्तु उन्हें मिलाने में अधिक सतर्क रहना चाहिए अन्यथा कसी प्रकार की भयंकर हानि की आशंका होती है।

बनावटी खादों के मिलाने में जानने योग्य बातें—रासायनिक खादों के मिलाते समय उनके अनुपात का ध्यान रखना चाहिए। यदि अनुपात रासायनिक विश्लेषण के आधार पर नहीं होगा तो परिणाम विपरीत हो सकता है और फसल को पर्याप्त

हानि हो सकती है। अनावश्यक प्रयोग कर देने पर भी रासायनिक परिवर्तन हानिप्रद हो सकता है। विशेष प्रकार की भूमि में देने के लिए इसकी मात्रा का उचित होना अत्यन्त आवश्यक है। द्रव फर्टिलाइजर का प्रयोग सूखी भूमि में कदापि नहीं करना चाहिए। इसका प्रयोग भूमि में नमी की उपस्थिति में या सिंचाई करके करना चाहिए। खाद के देने में पौधे का ख्याल रखना चाहिए। यदि पौधा खाद भूमि के ऊपरी सतह से ले सकता है तब तो उसे ऊपर ही देना चाहिए किन्तु जब उसका बढ़ाव निचली सतह में देने से उपयुक्त हो सके तो खाद नीचे की सतहों में देना चाहिए। इन खादों के प्रयोग से फसलों की बढ़वार ठीक नहीं हो पाती, जैसा कि नीचे चित्र में इंगित है--

चित्र नं० क खाद देने का गलत ढंग और चित्र नं० ख सही ढंग है।
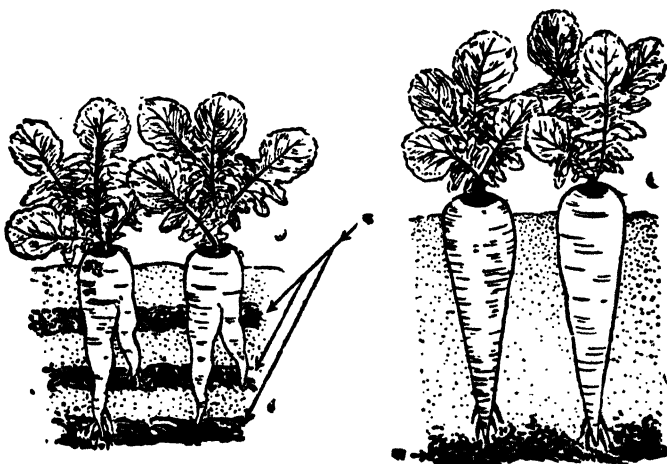
क—गलत ढंग से खाद देने का प्रभाव ख—उचित ढंग से खाद देने का प्रभाव

चित्र ६२

पौधों के लिए आवश्यक तत्व—पौधों के जीवन में तत्वों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इन्हीं तत्वों को पौधा अपनी खुराक बनाता है और इन्हीं पर अपना जीवन स्थिर रखता है। बीज उगते समय तो अपने अन्दर उपस्थित तत्वों को ही लेता है और प्रकाश तथा हवा में झाँकने लगता है किन्तु थोड़े ही समय पश्चात् जब बीज का यह संचित अंश समाप्त हो जाता है तो पौधा इन तत्वों की प्राप्ति के लिए किसी अन्य साधन का आश्रय लेता है। पौधे के इन तत्वों का निरीक्षण करने के लिए यदि हम एक पौधा जलाएँ तो उसके अन्दर का पानी भाप बनकर उड़ता हुआ नजर आयेगा। उसके जीवांश विनष्ट हो जायेंगे, कुछ पदार्थ धुएँ के रूप में उड़ते हुए दिखलाई देंगे। इस धुएँ में पौधों को बढ़ाने वाले तत्व रहते हैं। बाद में केवल जला हुआ अंश ही

बचा रहेगा। इसकी जाँच करने पर हमें कई तत्व मिलेंगे जिनमें सोडा, पोटाश, मैग-नीशियम, चूना, लोहा, सिलिका, गन्धक आदि होंगे।

पौधा जब इन तत्वों की प्राप्ति के लिए अन्य साधनों का उपयोग करता है तो उसके जीवन का नया रूप प्रारम्भ होता है। इनकी प्राप्ति के स्रोत दो प्रकार के हैं—

(१) हवा द्वारा, तथा

(२) भूमि द्वारा।

हवा द्वारा—जैसा कि पिछले अध्याय में हमने पढ़ा है, हवा में नाइट्रोजन, कारबोनिक एसिड और आक्सीजन पाये जाते हैं। धूल के कण और जीवांश आदि भी इसमें वर्तमान रहते हैं। पत्ते आक्सीजन को श्वास क्रिया में लेते हैं और नाइट्रोजन या अमोनिया अपने बढ़ाव में काम में लाते हैं। पौधे कारबोनिक एसिड पत्तियों के छिद्रों की सहायता से अपने अन्दर खींचकर अपना खाना तैयार करते हैं। इसमें वे प्रकाश की सहायता लेते हैं और कारबोनिक एसिड को कार्बन तथा आक्सीजन दो भागों में तोड़ देते हैं। आक्सीजन बाहर निकल जाता है पर कार्बन पौधों के काम आ जाता है।

भूमि द्वारा—पौधे के आवश्यक तत्व अधिकांशतः भूमि से ही प्राप्त होते हैं। यदि भूमि में इनकी उपस्थिति नहीं रहती है तो पौधे के बढ़ाव पर इसका प्रभाव पड़ता है। इन तत्वों में नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटाश अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त कैल्शियम मैगनीशियम, लोहा, गन्धक, ताँबा और जिंक भूमि में पाये जाते हैं और इनका पौधे के जीवन से भी सम्बन्ध रहता है।

आवश्यक तत्व—पौधों के लिए जिन तत्वों का मिलना आवश्यक है वे नीचे दिये जाते हैं। पौधों में इन्हीं तत्वों की उपस्थिति होती है।

१. नाइट्रोजन,
२. फासफोरस,
३. पोटैशियम,
४. मैगनीशियम,
५. कैलशियम,
६. लोहा,
७. गन्धक,
८. कार्बन,
९. क्लोरिन,
१०. सिलिकन,
११. सोडियम,
१२. आक्सीजन, तथा
१३. हाइड्रोजन।

नाइट्रोजन—नाइट्रोजन की अनुपस्थिति में पौधों का बढ़ाव नहीं हो सकता

क्योंकि यह पौधे में हरियाली उत्पन्न करता है। इसकी उपस्थिति में ही उनका खाना तैयार होता है। यह हवा और भूमि दोनों में प्राप्त होता है। पौधे इसे नाइट्रेट के रूप में ले सकते हैं।

फासफोरस—यह तत्व पौधे को भूमि से प्राप्त होता है। इससे पौधों की जड़ें काफी बढ़ती हैं और उनके बीज तथा तने भी बलिष्ठ होते हैं। यह भूमि में एपीटाइट धातु के रूप में पाया जाता है। पौधे में यह ·२ से ·८% तक मौजूद होता है।

पोटैशियम—यह भूमि में फेल्सपार के रूप में मिलता है। अल्यूमिनियम सिलिकेट या अभरक के रूप में यह भूमि में रहता है। पौधे इसे लेकर हरियाली की वृद्धि करते हैं। अन्न जैसी फसलों में यह शक्कर की मात्रा भी बढ़ाता है।

मैगनीशियम—भूमि में मैगनीशियम की अनुपस्थिति में पौधों का हरा रंग ही गायब हो जाता है।

कैलशियम—बहुत से पौधे चूने की अनुपस्थिति में अच्छी फसल नहीं देते। यह जड़ों के बढ़ाव में साथ देता है। फल विशेष तौर से इसकी आवश्यकता रखते हैं। यदि उन्हें यह उचित परिमाण में न मिले तो उपज ठीक नहीं हो पाती। नींबू आदि फल इसकी पर्याप्त मात्रा चाहते हैं।

लोहा—लोहा, यद्यपि हरियाली के निर्माण में प्रधान अंग का कार्य नहीं करता फिर भी इसका रहना जरूरी होता है। यह कोशाओं के अन्दर प्ररसों (**Protoplasm**) में पाया जाता है।

गंधक—यह भूमि में पाया जाता है जिसे पौधे अपने अन्दर सल्फेट के रूप में रखते हैं। प्रोटीन के बनाने में गन्धक का बहुत बड़ा हाथ है।

कार्बन—पौधे के लिए यह पदार्थ बहुत आवश्यक है। यह वायु द्वारा लिया जाता है। कार्बन एसिमिलेशन की क्रिया में कार्बन डाई-आक्साइड पौधों द्वारा हवा से ली जाती है। इसकी आक्सीजन और कार्बन दोनों टूटती हैं। आक्सीजन फिर निकाल दी जाती है पर कार्बन पौधे द्वारा ले ली जाती है। यदि पौधा जलाया जाय तो इसका अधिक भाग कार्बन के रूप में मिलता है।

क्लोरिन—क्लोरिन पौधे के लिए कोई आवश्यक तत्व नहीं है पर इसके रहने से पौधा अपने अन्दर भूमि से कुछ आवश्यक पदार्थों को खींच लेता है।

सिलिका—इसे हम पत्तियों के आधार पर रवों के रूप में देख सकते हैं। यह सोडियम सिलिकेट के रूप में पाई जाती है।

सोडियम—इसे प्रत्येक पौधे लेते हैं पर पौधे के जीवन में इसका विशेष महत्व नहीं है। यह सोडियम, क्लोराइड या नमक रूप में पाया जाता है।

आक्सीजन—यह गैस वायु और भूमि दोनों से ली जाती है। इसे हरी पत्तियाँ श्वास क्रिया द्वारा हवा से खींचती हैं पर यह भूमि से यौगिक रूप में ली जाती है। यह गैस पौधे की कोशाओं में उपस्थित रहती है। आक्सीजन जीवित अवस्था में बहुत महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित करता है। कार्बन परिपचन (**Carbon assimi-**

lation) क्रिया में तो यह बाहर निकाल दिया जाता है पर साँस के साथ इसका एक अच्छा परिमाण शोषित होता है।

हाइड्रोजन—स्वतंत्र रूप में हाइड्रोजन का कोई महत्व नहीं है पर अन्य पदार्थों के साथ यौगिक रूप में यह पौधों के उपयोग में आ जाता है। जैसे आक्सीजन से मिलकर पानी बनता है जो पौधों के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न

१—नीचे लिखी फसलों के लिए निम्नांकित खादों का प्रयोग कैसे किया जाता है? बताओ।

सनई की खाद (हरी)	गेहूँ	
रेंडी की खली	गन्ना	
लोना मिट्टी	तम्बाकू	(१९५०)

२—गोबर की खाद की उपयोगिता का वर्णन करो। इस खाद को कंडों के रूप में जल जाने से बचाने के लिए व्यावहारिक सुझाव दो। (१९५१)

३—हरी खाद वाली फसलों में क्या-क्या विशेष गुण होने चाहिए। ऐसी तीन फसलों के उदाहरण दो और किसी एक से हरी खाद बनाने की विधि लिखो। (१९५२)

४—कम्पोस्ट से क्या समझते हो? कम्पोस्ट बनाने की भिन्न रीतियों का उल्लेख करो। (१९५०)

५—रासायनिक खाद किसे कहते हैं? उनका प्रयोग करते समय किन बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए? (१९५३)

६—पौधे की वृद्धि के लिए आवश्यक प्रमुख तत्व क्या हैं? उन विविध लक्षणों का वर्णन करो जो इन तत्वों की कमी होने पर दिखाई पड़ते हैं? (१९५४)

७—पौधों की पूर्ण वृद्धि के लिए किन प्रमुख खाद तत्वों की आवश्यकता पड़ती है और पौधे उन्हें कहाँ-कहाँ से प्राप्त करते हैं?

८—बिष्ठा की खाद कृषक को किस प्रकार उपलब्ध हो सकती है? इसको खेत में डालने की उत्तम विधि का सुझाव दो।

अध्याय ७

फसल-चक्र

प्रत्येक फसल भूमि से तत्वों का भिन्न अनुपात अपने अन्दर खींचती है। कोई फसल किसी तत्व को विशेष रूप में खींचती है और अन्य तत्वों को गौण रूप में। फसल जब निरन्तर एक ही तत्व खींचती रहती है तो भूमि में एक समय ऐसा आता है कि उसका अभाव-सा हो जाता है। ऐसी स्थिति में पौधों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव दूर करने के लिए भूमि में एक ही फसल बराबर नहीं बोई जाती बल्कि बदल-बदल कर बोई जाती है क्योंकि एक ही फसल के बराबर बोने से कोई तत्व तो बिल्कुल ही समाप्त हो जाता है और कोई तत्व उसी रूप में भूमि में बना रहता है। उसका उपयोग नहीं हो पाता। कभी-कभी तो ऐसे तत्वों की अधिकता में भूमि की उर्वरता भी विनष्ट हो जाती है। अतः किसी भी खेत में फसलों को हेर-फेर कर बोना उसकी उर्वरता स्थिर रखने के लिए आवश्यक है। यह क्रिया कृषि विज्ञान में फसल चक्र के नाम से पुकारी जाती है। अतः स्पष्ट हो गया कि किसी निश्चित खेत में एक निश्चित क्रम से फसलों का हेर फेर, फसल-चक्र कहलाता है।

फसल-चक्र से लाभ—भूमि में फसलों को अदल-बदल कर बोने से निम्नांकित लाभ होते हैं:—

१. भूमि के खाद्य-पदार्थ पौधों के काम आते हैं,
२. खेत में खर-पतवारों का अभाव हो जाता है,
३. फसलों की विभिन्न प्रकार के रोगों और कीटाणुओं से रक्षा हो सकती है,
४. फलीदार फसलों के बाद दूसरी फसल को नाइट्रोजन खूब मिलता है,
५. भूमि में जीवांश का अभाव नहीं होता,
६. फसलों के उत्पादन में खर्च कम पड़ने लगता है,
७. दूसरी फसल के लिए खेत की विशेष तैयारी नहीं करनी पड़ती, तथा
८. भूमि की दशा बिगड़ने नहीं पाती।

कुछ फसलें विशेष तत्व का ही अधिकतर उपयोग करती हैं। ऐसा करने से वे तत्व तो शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं जिन्हें पौधे काम में लाते हैं किन्तु भूमि में अन्य तत्व व्यर्थ ही पड़े रहते हैं। जब फसलें बदल-बदल कर बोई जाती हैं तो सभी तत्व पौधों द्वारा ले लिए जाते हैं। कुछ पौधे ऐसे भी होते हैं जिनकी जड़ें लम्बी होती हैं। यदि लम्बी जड़ वाली फसलें ही लगातार किसी खेत में बोई जायें तो उस भूमि के

निचले तह के खाद्यांश तो समाप्त हो जायँगे पर ऊपरी धरातल वाले तत्व वैसे ही पड़े रहेंगे। यदि फसल की जड़ें उथली हैं तो निचली धरातल का खाद्य पौधों की पहुँच के बाहर होगा। अतः भूमि में उथली और लम्बी जड़ वाली फसलों को बदल-बदल कर बोना चाहिए ताकि भूमि के ऊपरी और निचले दोनों धरातलों का खाद्यांश काम में लाया जा सके। कुछ फसलों के तत्व ग्रहण करने के अनुपात नीचे दिये गये हैं—

तत्व	गेहूँ	तम्बाकू
नाइट्रोजन	५० पौं०	१०० पौं०
फासफोरस	२० "	१६ "
पोटास	२८ "	१५० "

कुछ घास फूस या खर-पतवार किसी फसल विशेष में ही उगते हैं। यदि ये फसलें लगातार ही बोई जायँ तो इन खर-पतवारों की मात्रा में अभिवृद्धि होती जायगी। जैसे चने के खेत में बन प्याज या गाजर अथवा तम्बाकू के खेत में टोकरा। फसलों के हेर-फेर से ये खर-पतवार विनष्ट हो जाते हैं और भूमि में मिलकर खाद की मात्रा बढ़ाते हैं।

लगातार एक ही फसल के बोने से उस फसल में कीड़े-मकोड़े अधिक बढ़ जाते हैं और फसल को अधिक हानि पहुँचाते हैं। फसल-चक्र में बराबर हेर-फेर के होने से इन कीड़ों और रोगों की अभिवृद्धि नहीं होने पाती। मक्का या ज्वार के बाद गन्ना नहीं बोते हैं क्योंकि मक्का के रोग या कीटाणु गन्ना की फसल को हानि पहुँचा सकते हैं।

फसल-चक्र में फलीदार फसलों का रहना अधिक लाभकर सिद्ध होता है क्योंकि इसकी जड़ों की ग्रन्थियों में रहने वाले कीटाणु वायुमण्डल से नाइट्रोजन खींच कर जमा रखते हैं जिसे आगामी फसलें ले लेती हैं और उत्पादन बढ़ जाता है।

कुछ इस प्रकार की घासें होती हैं जो भूमि की दशा को ठीक कर उसे उर्वर बना देती हैं। इससे जीवांश की संख्या बढ़ जाती है। साथ ही उचित ताप, वायु और नमी से उनका काम भी अच्छा हो पाता है। फसल-चक्र में पौधों को जीवांश की कमी नहीं होने पाती।

फसलों की कुल लागत में भी कमी आ जाती है। अधिक पानी चाहने वाली फसल के बाद कम चाहने वाली फसल काटी जाती है। जैसे धान के बाद चना। खाद में भी कमी हो जाती है। अधिक खाद चाहने वाली फसल को बो कर उसके बाद कम खाद चाहने वाली फसल बोयी जा सकती है। गेहूँ के बाद कपास की फसल बोयी जाती है। गन्ना के बाद गेहूँ भी अच्छी उपज देता है।

कुछ फसलें अधिक तैयारी चाहती हैं किन्तु कुछ कम ही तैयारी में बोयी जाती

हैं। आलू या मूँगफली के कटते समय तो भूमि की एक खुदाई हो जाती है जो अगली फसल की तैयारी में ले ली जाती है।

भूमि पर बराबर फसलों के रहने से भूमि-कटाव का प्रभाव नहीं पड़ता। हरी खाद से भूमि ढँकी रहती है और भूमि पौधों की आवश्यक तत्वों से धनी भी हो जाती है। भूमि का टेक्स्चर और स्ट्रक्चर बिगड़ने नहीं पाता।

फसल-चक्र के सिद्धान्त—फसल-चक्र को निर्धारित करने में चार बातें उत्तरदायी हैं जिन पर इसका सफल और असफल होना निर्भर करता है।

(१) अधिक पानी चाहने वाली फसल के बाद कम पानी चाहने वाली फसल बोनी चाहिए। जैसे धान के बाद चना।

(२) अधिक खाद चाहने वाली फसल के पश्चात् ऐसी फसल बोनी चाहिये जो कम खाद में अच्छी उपज दे सके। जैसे गन्ना के बाद गेहूँ और कपास या आलू के बाद मक्का।

(३) मूसला या अधिक गहराई तक जाने वाली फसलों के पश्चात् झकड़ा या उथली जड़ वाली फसलें बोना चाहिए। जैसे मक्का के बाद अलसी।

(४) अधिक गोड़ाई-जुताई चाहने वाली फसल के बाद कम जुताई-गोड़ाई हने पर प्राप्त की जाने वाली फसल लेनी चाहिए।

(५) फलीदार फसल के बाद बेफलीदार फसल काटनी चाहिए।

फसल-चक्र के इन सिद्धान्तों को साधनों की भी कसौटी पर कसना चाहिए। ये स्थान-स्थान पर भिन्न होते हैं। यदि किसी स्थल की मिट्टी बलुई, चिकनी या दोमट है तो उसमें वैसी ही फसलें बोई जायँगी जो आसानी से उग सकें। बलुई मिट्टी में धान या गेहूँ की फसल तो अच्छी हो नहीं सकती। अतः उस मिट्टी के अनुसार हा उसम फसल चक्र होगा। फिर उस स्थान पर होने वाली वर्षा की मात्रा पर भी फसल का उगना निर्भर होगा। अधिक वर्षा होने पर धान, गन्ना, जूट की पैदावार हो सकेगी। ज्वार की फसल नहीं ली जा सकेगी। अतः वहाँ अधिक पानी सहन करने वाली ही फसलें बोई जा सकती हैं। मरुस्थल में ज्वार, बाजरा आदि कम पानी चाहने वाली फसलों में ही फसल-चक्र चलाना पड़ेगा। फसल-चक्र सिचाई पर भी निर्भर करता है। यदि स्थान पर सिंचाई के साधन उपयुक्त हैं तो कम वर्षा होने पर भी अधिक पानी चाहने वाली फसलें उगायी जा सकती हैं। फसल-चक्र बाजार की माँग पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। यदि स्थान मंडी से बहुत निकट है तो हरी और शीघ्र सड़ जाने वाली फसलें अधिक बिक सकेंगी क्योंकि उनकी अधिक माँग रहेगी और लाभ रहेगा। अतः फसल-चक्र में वैसी फसलों को अधिक स्थान देना होगा। इसके अतिरिक्त अपनी आवश्यकताओं के अनुसार भी यह चक्र चला करता है। खेती करने का ढंग यदि बड़े पैमाने (Extensive) पर है तो फसल-चक्र पर ध्यान देना होगा। कम पैमाने में (Intensive) होने पर उस योग्य ही फसल-चक्र तैयार किया जायगा।

फसल-चक्र में परती का स्थान—फसल-चक्र में कभी-कभी भूमि परती पलिहर या खाली छोड़ देना चाहिए। इससे यह लाभ होता है कि भूमि अपनी दुर्बलता दूर कर लेती है। बराबर फसल के लगे रहने से निश्चय ही भूमि के तत्व समाप्त हो जाते

हैं। इससे भूमि की उर्वरता विनष्ट हो जाती है। भूमि परती छोड़ देने से वह अपनी पिछली कमियाँ दूर कर लेती हैं और अगली फसल के लिए भोजन का भण्डार जमा कर लेती है। ऐसा देखा जाता है कि पलिहर छोड़ी गई भूमि से ली गई गेहूँ की उपज उस उपज से बहुत अच्छी होती है जो एक फसल को शीघ्र काटकर ही बोई गयी रहती है। कुछ ऐसी फसलें भी हैं जिन्हें पकने में बहुत कम समय लगता है और जिनके बोने से एक तो भूमि परती नहीं छोड़नी पड़ती और दूसरे भूमि को अधिक लाभ हो जाता है। ऐसी फसल मूँग है जिसे दो माह में ही पका लिया जाता है। पकने पर फलियाँ तोड़ ली जाती हैं और फिर उसे पत्तियों और डंठल सहित भूमि में दबा दिया जाता है जो सड़ कर खाद बन जाती हैं।

अपने प्रान्त के कुछ प्रसिद्ध फसल-चक्र

१—पूर्वी भाग—दो साल वाले

(१) धान—अरहर—गेहूँ

(२) मक्का—अलसी—सनई—जौ

तीन साल वाले

(३) गन्ना—गेहूँ—धान

(४) धान—चना—धान—जौ—चरी—मटर

२—मध्य भाग——दो साल वाले

(१) ज्वार या बाजरा—अरहर—गेहूँ

(२) परती—गेहूँ, ज्वार—चना

तीन साल वाले

(३) गन्ना—गेहूँ—सनई

३—पश्चिमी भाग—दो साल वाले

(१) कपास—जौ

(२) मक्का—आलू—गन्ना

(३) कपास—गेहूँ

तीन साल वाले

(४) गन्ना—गेहूँ—कपास

देहात के फसल-चक्र

(१) परती—धान—परती—धान (बराबर)

(२) चरी—मटर—गन्ना

प्रश्न

१—फसल के हेर-फेर से क्या समझते हो? इसके लाभ बताओ। उत्तर प्रदेश के पूर्वी या पश्चिमी भाग के उपयुक्त दो फसल-चक्र के उदाहरण दो। (१९५२)

२—अपने देहात के प्रमुख फसल-चक्रों का वर्णन करो। उनमें क्या-क्या उन्नतियाँ की जा सकती हैं? (१९५०)

३—फसल-चक्र के लाभों को स्पष्ट करते हुए उसके सिद्धान्त का उल्लेख करो।

अध्याय ८

पौधे और वनस्पतियाँ

मानव जीवन में पेड़-पौधों और अन्यान्य वनस्पतियों का बहुत महत्व है। वास्तव में हमारी कृषि इन्ही पर निर्भर है और कृषि शास्त्र इनका अध्ययन है। हम खेती के लिए नवीन बातें जानते हैं या नवीन खोजें करते हैं, केवल इसीलिए कि भूमि में पौधों का बढ़ाव उपयुक्त हो, उपज अच्छी हो और कृषि से हमें लाभ हो। इसके लिए छोटे और बड़े पौधों के विषय में पूरी जानकारी करना आवश्यक है। यदि कृषक पौधों के विषय में पूरी बातें जान जाय और उनकी अच्छाई-बुराई की पहचान कर सके तो बहुत संभव है कि हमारे देश की अन्न-समस्या का समाधान हो जाय। अज्ञानता में किसान बहुत गल्ती कर जाया करते हैं जो कृषि की प्रगति में बाधक होती है।

पौधे और उनके महत्व—संसार में दो प्रकार के प्राणी हैं। प्रथम तो अपनी इच्छा से चलते-फिरते हैं, किन्तु दूसरे चल-फिर नहीं सकते। वे एक ही स्थान पर रह कर अपनी सारी क्रियाएँ करते हैं। साँस लेना, भोजन करना, बढ़ना, मोटा पतला होना, रोगी होना, मरना आदि सभी क्रियाएँ दोनों प्रकार के प्राणियों में पायी जाती है। इन दोनों के लिए वायु, प्रकाश, गर्मी, व पानी समान महत्व रखती हैं। एक को न चलने-फिरने के कारण अचल कहते हैं। इनमें हमारी तरह बोलने की शक्ति नहीं होती, फिर भी इनका हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। हमारी अधिकांश क्रियाएँ इन्हीं पर आधारित हैं। भोजन में पौधे और वनस्पतियाँ ही काम आती हैं। कपड़े तैयार करने में जूट, कपास आदि पौधे प्रयुक्त होते हैं। मकान बनाने में इन्हीं का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त औषधियाँ बनाने, वर्षा होने, नमी स्थिर रखने, भूमि को कटकर बहने से रोकने, ऊसर भूमि को बचाने तथा अनेक आवश्यक कार्यों के करने में पौधों से सहायता मिलती है। इस प्रकार सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतम पौधों से लेकर बड़े पौधों तक सभी हमारे लिए बहुत महत्व रखते हैं।

पौधों का विभाजन—पौधों का विभाजन मुख्यतः दो वर्गों में किया जाता है।

१—फूल वाले (Phanerogams) और
२—बिना फूल वाले (Cryptogams)
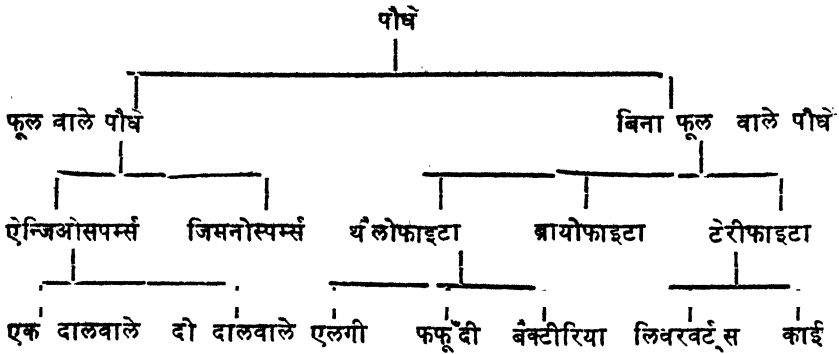
फूल वाले पौधे--इस वर्ग के पौधों में फूल आता है और वे आकार में बड़े और लम्बे होते हैं। पौधों में जड़ें, तने, पत्तियाँ आदि पायी जाती हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। प्रथम तो वे जिनके फलों में बीज होते हैं। इन्हें एन्जिओसपार्स कहते हैं। इनके बीज एक या दो दाल वाले होते हैं। एक दाल वाले को मानोकाटीलीडन या एक दाल वाले और दो दाल वाले को डाइकाटीलीडन या दो दाल वाला पौधा कहते हैं। इसमें फूल रंग-बिरंगे होते हैं। ये हमारे खेतों या बागों में बोयी जाने वाली फसलों के पौधे हैं। इन पौधों में मटर, चना, अरहर, अण्डी, सेम, आम, मक्का आदि आते हैं।

जिमनोस्पर्म्स पौधे--इस प्रकार के पौधे ठण्डे देशों में पाये जाते हैं। इनके बीज फलों में नहीं होते और न इनके फूल में कोई रंग ही होता है। इनमें पुट चक्र या दल चक्र नहीं होते। इनका आकार बहुत सुन्दर होता है। इसलिए इसे बागों में लगाया जाता है। इसमें चीड़, देवदार आदि पेड़ आते हैं।

बिना फूल वाले पौधे--ये पौधे बहुत छोटे होते हैं। इनमें फूल नहीं होता है। इनका आकार भी बहुत छोटा होता है। कुछ तो ऐसे होते हैं जिन्हें बिना सूक्ष्म-दर्शक यंत्र के नहीं देखा जा सकता। इन्हें तीन भागों में बाँटा जाता है--

(१) थैलोफइटा,
(२) ब्रायोफाइटा, तथा
(३) टेरीडोफइटा।

थैलोफाइटा--इस श्रेणी में धागे के आकार वाले पौधे आते हैं। इनके आकार पर ही इन्हें थैलोफाइटा अर्थात् धागे के आकार वाला कहते हैं। इनमें तने, जड़ें, और पत्तियाँ नहीं होतीं। इस वर्ग के पौधे एक सेल और कई सेल वाले दोनों प्रकार के होते हैं। इनमें कुछ दूसरे पौधे पर निर्भर होते हैं, कुछ गले-सड़े पदार्थों पर जीवित रहते हैं और कुछ एक-दूसरे का भोजन लेकर जीवन कायम रखते हैं। इन्हें तीन भागों में विभाजित किया जाता है।

१—एलगी, २—फफूँदी और ३—बैक्टीरिया।

एलगी—एलगी एक सेल वाली और बहुत सेल वाली होती है। इसका रंग हरा, लाल, नीला और भूरा हो सकता है। इसका जन्म नम स्थानों, वृक्ष की छालों और तनों आदि पर होता है। इसमें हरियाली मौजूद रहती है क्योंकि यह अपना भोजन स्वयं तैयार करती है। भोजन तैयार करने में कार्बन एसिमिलेशन क्रिया होती है जिसमें हरियाली की उपस्थिति अनिवार्य है। यह पौधा श्वाँस क्रिया भी करता है जिसमें कार्बन डाई-आक्साइड छोड़ी जाती है और आक्सीजन ली जाती है।

चित्र ६१—एलगी

फफूँदी—यह पौधा बासी रोटियों और सड़े अचारों पर पाया जाता है। गेहूँ के पत्तों पर काला दाग और ज्वार के बीज पर काला चूर्ण फफूँदी ही है। कुकुरमुत्ता, म्यूकर और यीस्ट आदि फफूँदी ही कहे जाते हैं। इसमें स्वयं की हरियाली नहीं होती है, अतः यह अपना खाना नहीं बना पाती। जीवित रहने के लिए यह दूसरे वस्तुओं को आधार बनाती है। मरे जन्तुओं या सड़ी हुई चीजें इन्हें भोजन प्रदान करती हैं। जीवित पदार्थों पर भी कभी-कभी फफूँदी देखी जाती हैं, जिनसे खाना प्राप्त कर वे जीवित रहती हैं। फफूँदी हमारे बड़े काम का पौधा है। यह दवा और शराब बनाने के काम आता है। पेनी-सिलीन नामक दवा इसी के द्वारा बनाई जाती है। यह खाने में भी प्रयोग की जाती है।
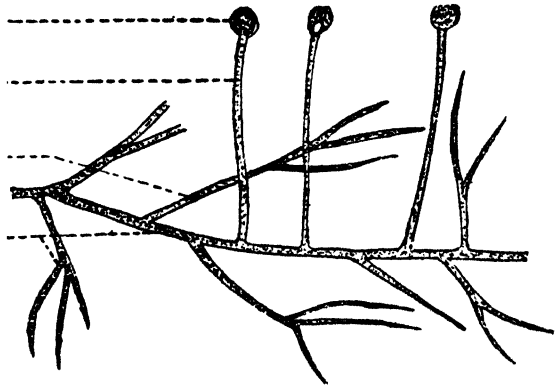
चित्र ६२—फफूँदी (फुई)

बैक्टीरिया—कुछ लोग इन्हें जीव-जन्तु कहते हैं परन्तु अधिक लोग इन्हें वनस्पति ही बतलाते हैं। इनका आकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता है। इन्हें बिना सूक्ष्मदर्शक यंत्र के नहीं देखा जाता। ये एक ही स्थान पर हजारों की संख्या में उपस्थित रहते हैं।

इनका उत्पादन प्रत्येक प्रकार के पानी--नदी, तालाब, झील, समुद्र, पीने के पानी आदि में होता है। इनमें से बहुत तो ऐसे होते हैं जो ऊँचे से ऊँचे तापक्रम पर भी
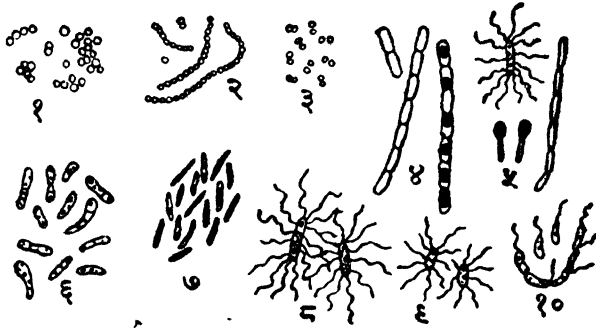
चित्र ६३--विभिन्न बैक्टीरिया

स्थिर रहती है। संसार में इनकी अनेक जातियाँ हैं। इनमें कुछ कृषकों के लिए लाभ-दायक हैं और कुछ हानिप्रद। भूमि में रह कर जो बैक्टीरिया फसलों के लिए नइट्रोजन तैयार करती हैं, वे उपयोगी होते हैं। इनमें एजेटोबैक्टर, नाइट्रोसोमोनस, नाइट्रोबैक्टर, बेसीलसरेडीसकला (Bacillusradicicola) आदि मुख्य हैं। एजेटोबैक्टर हवा की उपस्थिति में काम करती है। नाइट्रोसोमोनस भूमि की अमोनिया को नाइट्राइट में परिवर्तित कर देती है। नाइट्रोबैक्टर इस नाइट्राइट को नाइट्रेट में बदल देती है जिससे फसलें इसे आसानी से प्राप्त कर लेती हैं। एरोबिक बैक्टीरिया (Aerobic Bacteria) जीवांश का सड़ाव हवा की उपस्थिति में करती है और उन्हें पौधों के उपयोग में आने योग्य बनाती हैं। सिरके और दही में बैक्टीरिया ही काम करती है।

हानि पहुँचाने वाली बैक्टीरिया मनुष्य या अन्य जानवरों को रोगग्रस्त बना देती है। इसमें हैजे, इनफ्लूएंजा, यक्ष्मा आदि घातक रोगों के कीटाणु रहते हैं। ये कीटाणु बैक्टीरिया की जाति से ही सम्बन्धित होते हैं। इनकी उपस्थिति हवा में होती है। ये साँस क्रिया द्वारा हमारे शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और हमें उस रोग का रोगी बना देते हैं, जिस रोग के वे दूत रहते हैं। इस प्रकार कुछ बैक्टीरिया यदि हमारे लाभ के हैं तो कुछ हानि के भी हैं।

ब्रायोफाइटा---इस श्रेणी में दो विभाग होते हैं। पहली उच्च श्रेणी है जिसमें पत्तियाँ और वास्तविक जड़ों के स्थान पर बाल के आकार में राइजोआइड (Rhigoid) होते हैं जो उसे भूमि में सुदृढ़ रखते हैं। निम्न श्रेणी में जो दूसरी श्रेणी है, पत्तियाँ आदि नहीं पाई जातीं। इसमें दो प्रकार के पौधे पाये जाते हैं। लिवर वर्टस् और मासेज

(Mosses) या काई। लिवरवर्ट्स में मारकेंसिया (Marchantia) आदि आते हैं और काई में फ्यूनिरिया। ब्रायोफाइटा में नर जननांग और नारी जननांग करके हो अंग होते हैं जिन्हें क्रमशः एनथीडिया (Antheridia) और आरकिगोनिया (Archegonia) कहते हैं। ये दोनों अंग एक ही पौधे में नहीं होते। इन्हीं जननांगों की सहायता से इस श्रेणी की जाति कायम रहती है।

टेरीडोफाइटा—यह श्रेणी बिना फूल वाले पौधों में सबसे उच्च श्रेणी है। इसके पौधों में जड़ें, तना और पत्तियाँ मौजूद रहती हैं। तना जमीन पर रहता है और मोटा हो जाता है। इन्हीं तनों से जड़ें निकलती हैं। इसकी पत्तियाँ साधारण न होकर संयुक्त होती हैं। इससे धरातल के निचली ओर एक प्रकार की लाल या काला दाग होता है जिसे सोराई (Sori) कहते हैं। ये ही पौधे के उत्पादक अंग हैं। इसमें फर्न (Fern) पौधा उगता है जो कभी-कभी बहुत ऊँचे पेड़ के आकार में पाये जाते हैं।

चित्र ६४—सरसों का एक पौधा

पौधे के अंग—किसी भी फसल या जाति के पौधे को लेकर यदि हम निरीक्षण करें तो हमें कई एक हिस्से दिखलाई पड़ेंगे जिनके रूप, रंग, बनावट आदि में अन्तर होता है। वास्तव में इनके एक साथ जुड़ने पर एक पूरा पौधा बनता है। यदि इन्हें अलग-अलग तोड़ कर रख दिया जाय तो कोई भी इन प्रत्येक को पौधा नहीं कह सकता अपितु इनको इनके भिन्न-भिन्न नाम से पुकारेगा और ये नाम पौधे के भाग कहे जायेंगे। साधारण तौर से पौधे के पाँच भाग होते हैं।—

(१) जड़ (Root),
(२) तना (Stem),
(३) पत्तियाँ (Leaves),
(४) फूल (Flowers)
(५) फल तथा बीज (Fruits and Seeds)।
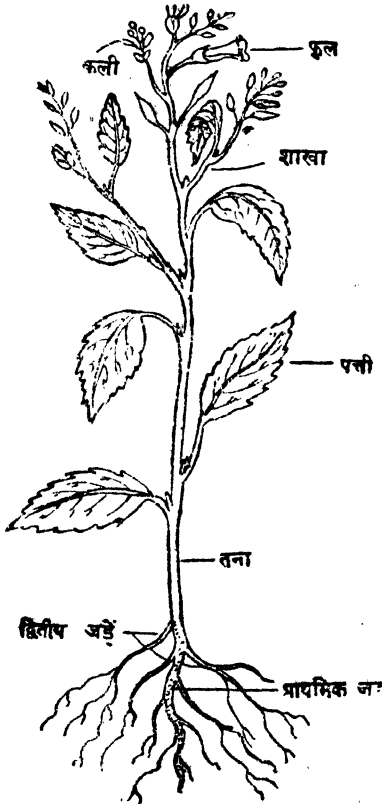
पौधे के इन अंगों का निरीक्षण करने के लिए यदि खेत से किसी फसल का एक पौधा उखाड़ लिया जाय और ध्यानपूर्वक

देखा जाय तो सभी बातें भली-भाँति स्पष्ट हो जायेंगी। बगल के चित्र में भी ये अंग दिखलाये गए हैं।

पौधे के इन विभिन्न अंगों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करने से इनमें महान अन्तर ज्ञात होगा। एक जाति के पौधे आकार, बनावट रंग आदि बातों में दूसरी जाति के पौधे से भिन्न होते हैं। यहाँ हम पौधे के प्रत्येक अंगों का अध्ययन करेंगे।

जड़ें

पौधे का वह भाग जो भूमि के अन्दर प्रवेश करके नीचे की ओर चला जाता है, जड़ कहलता है। नीचे की ओर जाने वाली पहला जड़ प्रारम्भिक जड़ कहलाती है। प्रारम्भिक जड़ अपनी सहायता के लिए अन्य शाखाएँ इधर-उधर फेंकती है जिन्हें द्वितीयक जड़ या सेकण्डरी जड़ (Secondary root) कहते हैं। ये जड़ें भी अपनी शाखाएँ इधर-उधर भूमि में बिखेरती हैं जिन्हें तृतीयक जड़ें या टर्शियरी जड़ (Tertiary root) कहते हैं। जब मुख्य जड़ें द्वितीयक या तृतीयक जड़ें नहीं उत्पन्न करतीं अकेले ही बढ़ती चली जाती हैं तो उन्हें मूसला जड़ या टैप रूट (Tap root) कहते हैं। यह जड़ अधिकांशतः दो दाल वाली जड़ों में पाई जाती है। एक दालवाली जड़ों में मूसला जड़ नहीं बन पाती। उसमें प्रारम्भिक जड़ शीघ्र ही समाप्त हो जाती है और उसकी जगह तने के नीचे वाले अन्तिम भाग पर पतले आकार की जड़ें गुच्छे रूप में पायी जाती हैं। इन्हें रेशेदार जड़ (Fibrous root) कहते हैं। इन्हें झकड़ा जड़ भी कहते हैं जो चित्र में दिखलाई गई है।
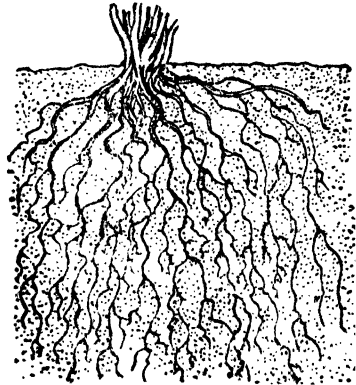
चित्र ६५—झकड़ा जड़

जड़ के लक्षण—जड़ की ठीक पहचान करने के लिए निम्नांकित बातें जाननी चाहिए—

(१) अधिकांशतः जड़ों का रंग सफेद होता है। तने की तरह ये हरे रंग की नहीं होतीं,
(२) इनमें तनों की भाँति गाँठें और पोर नहीं होते,
(३) जड़ें प्रकाश से दूर भागती हैं और अंधकार की ओर बढ़ती हैं,
(४) ये नीचे जमीन की ओर जाती हैं,
(५) जड़ों में कलियाँ या फूल-पत्ते नहीं होते, तथा
(६) जड़ों के अन्त में एक टोपी होती है जो उसे आगे बढ़ने में सहायता देती है।

जड़ों के कार्य—जड़ पौधे के बहुत काम की है। इसे काट देने पर पौधों का लगभग जीवन ही समाप्त हो जाता है। जड़ों के कार्य नीचे दिये जाते हैं:—

(१) जड़ पौधे के लिए भूमि से आहार लेकर संचित करती है और उसे समय-समय पर पौधे को प्रदान करती है। कुछ समय तक यदि पौधे को खाना देना बन्द कर दिया जाय तो वह अपने संचित खुराक से काम चला सकती है।

(२) भूमि से पानी और भोजन सम्बन्धी तत्वों का शोषण करना जड़ का प्रधान कार्य है। यह अपनी सहायिका शाखाओं और प्रशाखाओं को चारों ओर भेज कर दूर के खाद्यांश खींच लेती है और उसे पौधों को प्रदान करती है।

(३) जड़ का तीसरा काम है, भोजन और पानी को ऊपरी भागों में भेजना। यदि जड़ अपना कार्य बन्द कर दे तो पौधे आहार नहीं पा सकेंगे। यद्यपि पत्तियाँ भी आहार तैयार करती हैं किन्तु यह क्रिया भूमि द्वारा आये आहारों की सहायता के बिना नहीं हो सकती।

(४) जड़ भूमि में जाकर पौधे की स्थिरता के लिए मिट्टी से चिपक जाती है। इसके इसी गुण से पौधा सीधा खड़ा रहता है।

जड़ों के विभिन्न रूप—जड़ें बीज से निकलती हैं। बीज के अन्दर बीज अंकुर (Embryo) होता है, जिससे जड़ और तने निकलते हैं। प्रारम्भ में इनका रूप भिन्न होता है। तने बनाने के लिए पल्यूमूल और जड़ बनाने के लिए बीज मूल (रेडिकल) बनते हैं। पल्यूमूल ऊपर की ओर जाता है और रेडिकल नीचे की ओर। रेडिकल जड़ का रूप धारण करता है। किन्तु कुछ जड़ें बीज मूल से न निकल कर पौधे के अन्य भागों से भी निकला करती हैं, इन्हें ऐडवेन्टिशस जड़ कहते हैं। ऐडवेन्टिशस जड़ें कई प्रकार की होती हैं और इनके कार्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

(१) **रेशेदार जड़ें**—ये जड़ें झकड़ा जड़ में ही आती हैं। इनमें पौधे की मुख्य या प्रारम्भिक जड़ें खत्म हो जाती हैं और उसके स्थान पर तने के निचले सिरे पर छोटी-छोटी जड़ें निकलती हैं। ये अधिकतर एक-दलीय पौधों में पाई जाती हैं।

(२) **आरोहक जड़ें**—ये जड़ें तने की गाँठों से उत्पन्न होती हैं। ये कमजोर तने वाले पौधों में पाई जाती हैं जो स्वयं खड़े नहीं हो सकते। इन जड़ों द्वारा ये कोई आधार चुन लेते हैं जिन्हें मजबूती से पकड़कर इन्हीं पर निर्भर हो ऊपर चढ़ते जाते हैं। इन जड़ों के सिरे इस प्रकार बने होते हैं कि आधार को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहते हैं। किसी किसी में तो एक प्रकार का रस निकलता है जो वायु में सूख कर आधार से चिपट जाता है। ऐसी जड़ें पान, गोलमिर्च आदि में पाई जाती हैं।

(३) **स्तम्भी जड़ें**—प्रायः देहातों में बरगद के पेड़ों की संख्या अधिक होती है। इनमें तनों के अलावा मोटी-मोटी शाखाएँ देखी जाती हैं जो तनों से निकल कर भूमि की ओर लटकती रहती हैं। इनमें से कुछ तो भूमि में चली जाती हैं और पेड़ को मजबूत बनाती हैं। ये झकड़ा जड़ें हैं जो एक स्तम्भ का काम करती हैं। यही कारण

है कि ये जड़ें स्तम्भी जड़ें कहलाती हैं। इसका उदाहरण रायल बोटैनिक गार्डेन (Royal Botanic Garden) में देखने को मिलता है। इसमें एक बरगद का पेड़

चित्र ६६—जड़ के रेशे चित्र—६७—बरगद की जड़ें

है जिसमें लगभग ६०० स्तम्भी जड़ें हैं।

(४) पत्ता की जड़ें—(Leafy roots)—कुछ जड़ें पत्तियों की धरातल या उसके सिरे से निकलती हैं। इसमें पहले कलियाँ निकलती हैं बाद में झकड़ा जड़ निकल कर भूमि में चली जाती हैं और अपने लिए भूमि से खाना प्राप्त कर लेती हैं। इसके उदाहरण बेगोनिया और पत्थर कुची में पाये जाते हैं।

(५) श्वास लेने वाला जड़ें—ये जड़ें पानी वाली फसलों में अधिकतर पायी जाती हैं। इनमें कोई रंग नहीं होता। ये स्पंज की भाँति होती हैं और हवा में उठी हुई रहती हैं। इनका काम साँस लेना होता है। ये हवा से आक्सीजन लेकर पौधे की साँस क्रिया पूरा करती हैं। दलदली भूमि या जल में पाये जाने वाले पौधों मे ये उसके ऊपरी सतह पर पाई जाती हैं ताकि उन्हें वायु अधिक मात्रा में मिल सके।

चित्र ६८—वायु जड़ (अरकिड में)

(६) वायु जड़ें—ये जड़ें दूसरे पौधों पर उगा करती हैं किन्तु अपना आहार उनसे न ग्रहण करके हवा से खींचती हैं और इस तरह जीवित रहती हैं। इनका उदाहरण आरकिड के पौधे में पाया जाता है।

(७) परजीवी जड़ें—इस प्रकार की जड़ें दूसरे पौधों पर निर्भर करती हैं। इनमें विशेष प्रकार की जड़ें होती हैं जो दूसरे पौधे को छेद कर उसमें प्रवेश कर जाती हैं और उसका खाना चूस लेती हैं। इससे उन पौधों का जीवन कायम रहता है किन्तु दूसरा पौधा कमजोर पड़ता जाता है। अमर बेल और स्वर्णलता इसके उदाहरण हैं।

चित्र ६९—स्टिल्ट या जटा जड़ें

(८) झुकी जड़—(Stilt roots)—इसमें तना अपने चारों ओर से पौधे या पेड़ को दृढ़ बनाने के लिए भूमि में जड़ें फेंकता है। इन्हीं जड़ों को झुकी जड़ें कहते हैं जैसे केतकी।

(९) रूपान्तरित जड़ें—वनस्पति जगत् में विभिन्न प्रकार की जड़ें पाई जाती हैं जिनका अध्ययन हमने ऊपर की पंक्तियों में किया है। कुछ ऐसी जड़ें भी होतो हैं जिनका बदला रूप पाया जाता है। वे मोटी और बड़ी हो जाती हैं और अपने अन्दर पौधे की खुराक बहुत ज्यादा जमा कर लेती हैं। इस प्रकार वे एक भण्डार का काम करती हैं। पौधे को भूमि में जमाये रखना तो उनका साधारण काम है। ये जड़ें निम्नांकित हैं।

(१०) फ्यूजीफार्म जड़ें (Fusiform)—जब जड़ें बीच में फूली हों किन्तु दोनों सिरों की ओर पतली होती गई हों तो उन्हें फ्यूजीफार्म कहते हैं। इस प्रकार का उदाहरण मूली में पाया जाता है।

(११) कोनिकल जड़ें (Conical)—ये जड़ें ऊपर की ओर मोटी और नीचे की ओर क्रमशः पतली होती जाती हैं। जैसे गाजर और चुकन्दर।

(१२) नेपीफार्म जड़ें—(Napiform)—जब जड़ों का ऊपरी भाग फूलकर गोलाकार रूप धारण कर लेता है और नीचे का भाग पतले आकार में हो जाता है तो जड़ें नेपीफार्म कही जाती हैं। जैसे—शलजम।

(१३) टयूबरकुलस जड़ें (Tuberculous roots)—जब जड़ें बिना किसी क्रम के फूला करती हैं तो उन्हें टयूबरकुलस जड़ें कहा करते हैं जैसे मीठा आलू।
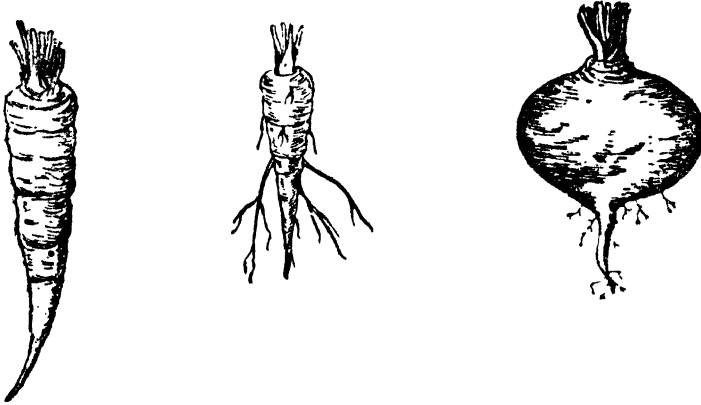
चित्र ७०—मूसला जड़ों के रूप—मूली, गाजर, शलजम

तने (Stems)

[illegible] है। पौधे का वह भाग जो प्लुमूल से बनता है और पत्तियों, फूलों और फलों को धारण किये रहता है तना कहलाता है। इसमें गाँठें और पोर (Internodes) होते हैं। तनों में कलियाँ होती हैं जिनसे कोपलें फूटा करती हैं। इनमें रोयें होते हैं जो प्रायः अधिक सेल वाले या मल्टिसेलूलर होते हैं।

तनों के रूप—प्रकृति में तने कई प्रकार के होते हैं। कुछ तो सीधे, मजबूत और लम्बे होते हैं जो अपने बल पर खड़े रहते हैं। दूसरे इतने दुर्बल और कमजोर होते हैं कि अपने सहारे नहीं खड़े हो सकते बल्कि उन्हें दूसरों का भरोसा लेना पड़ता है जैसा कि नीचे चित्र में दिखलाया गया है। नं० १ और २ मजबूत या सीधे तनें और नं० ३ कमजोर तना है। इस प्रकार तने का मुख्यत: दो विभाजन किया जाता है।

(१) मजबूत या सीधे तने, तथा
(२) दुर्बल या कमजोर तने।

मजबूत तने अपनें ही बल पर हवा में खड़े रहते हैं। उन्हें खड़े होने के लिए किसी आधार की आवश्यकता नहीं होती। जैसे ज्वार, बाजरा, मक्का, अरहर आदि।

चित्र ७१—विभिन्न प्रकार के तने

कुछ तने अपने से नहीं खड़े हो सकते हैं। वे भूमि पर ही खड़े रहते हैं या किसी आधार को लेकर ऊपर चढ़ते हैं। उन्हें कमजोर तने कहते हैं। उदाहरणतः लौकी, कुम्हड़ा, तुरई आदि के तने। कमजोर तने कई तरह के होते हैं—

किसी आधार को लेकर चढ़ने वाले आरोहक या Climbing stems कहलाते हैं जैसे—सेम, करेला, कद्दू आदि। अधिक डालों और शाखाओं के साथ भूमि पर चारों ओर फैलने वाला तना Climbing stems कहलाता है। बिना किसी साधन के किसी आधार से लिपट कर चढ़ने वाले तने लिपटने वाले तने (Twining stems) कहलाते हैं। जब तने की गाँठों से जड़ें निकल कर भूमि में चली जाती हैं और इस प्रकार तना फैला रहता है तो उसे रेंग कर चलने वाले तने (Creeping) कहते हैं।

तने आकार में विभिन्न ढंग के होते हैं। कुछ गोलाकार होते हैं जैसे ताड़। इन्हें गोलाकार तना कहते हैं। तने त्रिभुजाकार, चतुर्भुजाकार, अनेक किनारे वाले, जुड़े हुए और खोखले होते हैं जिनका स्पष्ट ज्ञान नाना प्रकार के पौधों के तनों के निरीक्षण से किया जा सकता है।

पौधों की प्रकृति—प्रकृति में पौधे कई प्रकार के पाये जाते हैं। इनका आकार, जीने की अवधि, इनकी ऊँचाई आदि भिन्न होती हैं। इसी आधार पर पौधे की आदतें जानी जाती हैं।

(१) जड़ी-बूटियाँ और छोटे पौधे या हर्बस (Herbs)—इनमें छोटे आकार और कम ऊँचाई के पौधे आते हैं। इनमें से कुछ एक वर्ष, कुछ दो वर्ष और कुछ कई वर्ष तक जीवित रहते हैं। इस श्रेणी में खेतों में बोये जाने वाले अन्न, सूरन, गाजर, गोभी आदि सम्मिलित होते हैं।

(२) झाड़ियाँ (Shrubs)—ये छोटे-छोटे पौधों से बड़े किन्तु वृक्षों से छोटे होते हैं। इनके तने अधिक लम्बे नहीं होते। इनकी डालें और पत्तियाँ पृथ्वी पर एक गुफा के आकार में जमी रहती हैं। कुछ झाड़ियाँ अधिक स्थान घेरे रहती हैं। इसमें हिंसक जीव-जन्तु भी रहा करते हैं। ये कई वर्ष तक जीवित रहती हैं।

(३) वृक्ष—ये बहुत लम्बें, बड़ें आकार में और अधिक दिनों तक जीने वाले होते हैं। इनके तने इतने लम्बे और भूमि से उठे रहते हैं कि शाखायें और पत्तियाँ सरलतापूर्वक नहीं छुई जा सकतीं। ये बहुत मजबूत और काम के होते हैं।

(४) आरोहक (Climbers)—ये बहुत निर्बल और पतले आकार के तने वाले पौधे होते हुं। इन्हें ऊपर उठने के लिये कोई सहारा लेना पड़ता है। इनमें एक विशेष प्रकार की जड़ें निकलती हैं जिनकी सहायता से ये आधार को मजबूती से पकड़ते हैं।

तनों के रूपान्तर (Modification of stems)—तनों के रूपान्तर तीन ढंग के होते हैं :—

(१) भूमि में पाया जाने वाला रूपान्तर (Underground modification)

(२) वायु में पाया जाने वाला रूपान्तर (Aerial modification) तथा

(३) आधा वायु और आधा भूमि में रहने वाला रूपान्तर (Sub-aerial modification)

भूमि में पाये जाने वाले रूपान्तरित तने—भूमि में पौधों के तने चार प्रकार से पाये जाते हैं जिनमे प्रत्येक का आकार एक दूसरे से भिन्न होता है।

राइजोम (Rhizome)—ये तने पौधों के लिए संचित भण्डार का काम करते हैं। इनमें नुकीली कलियाँ होती हैं जो अंकुरित होकर हवा में चली जाती हैं। तने के निचले भाग में कुछ जड़ें होती हैं जो झकड़ा जड़ की भाँति होती हैं। ये तने अधिकतर शाखादार नहीं होते हैं किन्तु कभी-कभी शाखाएँ भी निकल जाती हैं। ये तने भूमि में पड़े रहते हैं किन्तु जब इनकी ऋतु आती है तो इनकी कोपलें फूट पड़ती हैं और इनमें पत्तियाँ आदि आ जाती हैं। इसका उदाहरण हल्दी और अदरक में पाया जाता है।

बल्ब (Bulb)—यह मोटी पत्तियों के तहों के मिलने से गाँठ के रूप में पाया जाता है। ये पत्तियाँ अपने अन्दर पौधों के लिए आहार संचित रखती हैं। झकड़ा जड़ें इसके निचले सिरे (आधार) से निकलती हैं। ऊपरी सिरे का आकार नुकीला हो जाता है। उचित ऋतु में इसी के द्वारा अंकुर निकलते हैं और हवा में रहने वाले डंठल का सृजन करते हैं। प्याज, (चित्र ७३) लहसुन आदि इसके उदाहरण हैं।
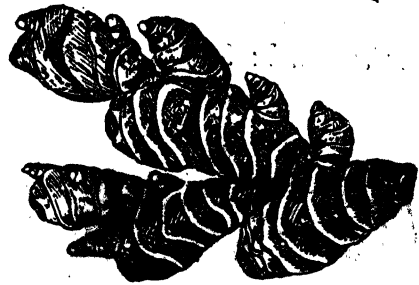
(अदरख) कन्द

चित्र ७२

ट्यूबर (Tuber) (चित्र ७४)—इस श्रेणी में आलू आते हैं। आलू में ध्यान से देखने पर कलियाँ दीख पड़ती हैं। उचित ऋतु में आलू की ये कलियाँ फूट पड़ती हैं और ऊपर की ओर जाकर डंठल और पत्तियाँ बनाती हैं। आलू से सफेद-सफेद जड़ें फूटती

हैं और जो खाद्यांश एकत्रित कर गोला रूप बना लेती हैं। यही आलू खाने के काम में लाया जाता है। यह भूमि में पड़ा रहता है और मोटा होता रहता है। किन्तु यह मोटाई एक निश्चित सीमा पर पहुँच कर रुक जाती है।

कार्म (Corm) (चित्र ७५)—यह तना फूला हुआ और मोटा होता है। इसमें पौधों के लिए खाद्यांश अधिक मात्रा में संचित रहते हैं। इसमें झकड़ा जड़ें नीचे
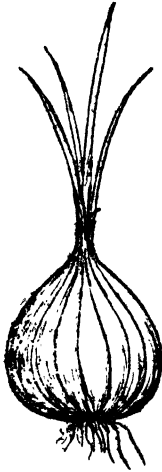
चित्र ७३—प्याज
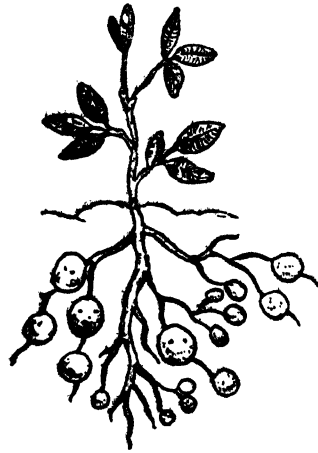
चित्र ७४—आलू

की ओर रहती हैं। किन्तु कलियाँ चारों ओर पाई जाती हैं। ये उचित समय पाकर अंकुरित हो जाती हैं। इसका उदाहरण घुइयाँ है।

चित्र ७५

वायु में पाया जाने वाला रूपान्तरित तना—जब तने का बदला रूप हवा में ही बढ़ता है तो उसे वायु वाला रूपान्तरित तना कहा जाता है। इसके तीन रूप होते हैं।
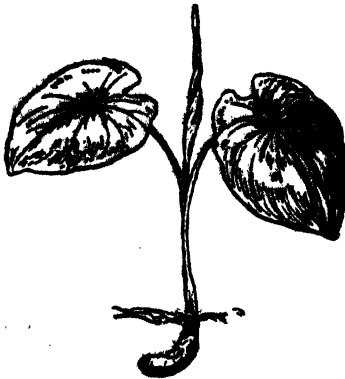
काँटे (Thorns)—कुछ पौधों में काँटे पाये जाते हैं। इनका आकार लम्बा और नुकीला होता है। ये काफी सख्त होते हैं। ये तने और पत्तियों के कोनों से निकलते हैं जहाँ से कलियाँ (Auxillary bud) उत्पन्न होती हैं। कभी-कभी ये पत्तियों के

सिरों पर पाये जाते हैं। कभी-कभी डंठलों का अन्त काँटों में ही होता है। ये रेगिस्तानी पौधों में अधिक पाये जाते हैं। जैसे बबूल, नींबू आदि।

धागे रूप का तना (Stem tendril)—कुछ कमजोर आरोहक तने अपनी सहायता के लिये पतली और लिपटने वाली शाखाएँ तैयार कर लेते हैं। इन्हें ही तने का धागा रूप (Stem tendril) कहते हैं। तने इन्हें आधारों से चिपटा देते हैं और ऊपर चढ़ते जाते हैं। ये आधारों को कसकर पकड़ लेते हैं ताकि हवा के झोंके उन्हें पृथक् न कर सकें। इस रूपान्तरित तने में कभी-कभी छोटी-छोटी पत्तियाँ निकलती हैं।

पुत्तियाँ (Bulbils)—ये तने कभी-कभी अक्षकोणीय कली (Auxillary bud) के रूप में रूपान्तरित होते हैं। साधारणतया ये उत्पादन में सहायता करते हैं। इनमें खाद्यांश संचित होता है। इनमें एक नये पौधे को जन्म देने की शक्ति होती है। इन्हें पुत्तियाँ कहते हैं।

फीलोक्लेड या क्लैडोड (Phylloclade or cladode)—इसमें तने का आकार एक पत्ती के रूप में हो जाता है और वह वही काम करता है जो एक पत्ती करती है। यह बिल्कुल हरा, कुछ गोलाकार और चौड़े रूप का होता है। ये तने भी अधिकांश रूप में मरुस्थल में ही पाये जाते हैं जैसे नागफनी, केतकी आदि।
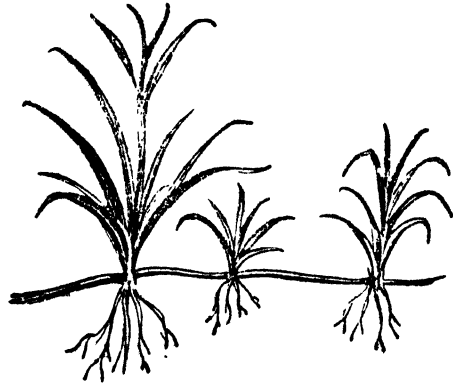
चित्र ७६—रनर (दूब)

आधा वायु और आधा भूमि में रहने वाला रूपान्तरित तना—कुछ पौधों के तने वायु और भूमि दोनों में रहकर उत्पादन का कार्य करते रहते हैं जिसे वानस्पतिक उत्पादन (Vegetative Propagation) कहते हैं। इसमें दौड़ने वाले (Runner), सकर (Sucker), स्टोलन (Stolon) और ऑफसेट (offset) होते हैं।

रनर—यह पतला और कमजोर तना है। जो भूमि पर रेंगता हुआ चलता है। इसम गाँठें और पोर (Inter nodes) होते हैं। गाँठों से जड़ें निकलती हैं।

रनर अक्षकोणीय कलियों के रूप में पैदा होता है और एक नए पौधे के आकार में हो जाता है। ऐसे उदाहरण दूब के पौधों में पाये जाते हैं। मुख्य पौधा (Mother plant) भूमि में चलता है और अँधेरे में पड़ा रहता है। उसे भूमि के ऊपर आने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

सकर—यह भी रनर की भाँति मुख्य जड़ से उत्पन्न होता है किन्तु इसकी जड़ भूमि में ढंकी रहती है। जड़ निकल कर सीधे वायु में फैलती है और एक नए पौधे का सृजन करती है। ये नए पौधे तो कुछ दूर तक भूमि के ही समानान्तर चलते हैं। किन्तु फिर ऊपर उठकर लम्बवत हो जाते हैं। ऐसे उदाहरण पुदीना, चन्द्रमल्लिका आदि में पाये जाते हैं।

स्टोलन—यह भूमि में दौड़ने वाले तनों में पाया जाता है। जड़ें कभी-कभी ऐसे तने पैदा करती हैं जो भूमि में पृथ्वी के सामानान्तर ही चलते हैं। इनमें से कलियाँ फूटती हैं और इन कलियों का सिरा भूमि के बाहर निकल कर एक नया पौधा तैयार कर देता है। इसके उदाहरण कच्चू और प्रोसनाइक हैं।
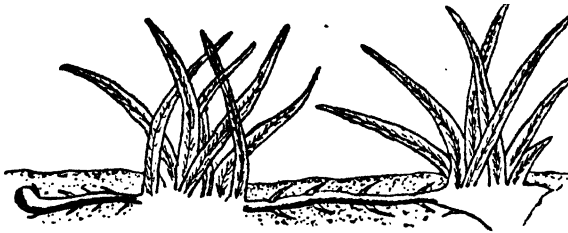
चित्र ७७—ऑफसेट

ऑफसेट—यह फूला हुआ मोटा तना है। इसका जन्म पत्ती के कोण से होता है। यह रनर की ही भाँति है किन्तु उससे कोमल और मुलायम होता है तथा थोड़ी ही दूर चल कर एक पौधा बना देता है। ऑफसेट मुख्य पौधे से निकलता है और बढ़कर पुत्री छोटे पौधे (Daughter plant) का रूप ग्रहण कर लेता है।

कली

पत्तियों और तनों की प्रारम्भिक अवस्था जिसमें पोर नहीं बने रहते हैं, कली कहलाती है। ये पौधे में कई स्थान पर पाई जाती हैं। स्थानों के कारण ही इनके कई नाम दिये गए हैं जो नीचे हैं—

(१) **अक्षकोणीय कली** (Auxillary bud)--जब कली पत्तियों के कोने से निकलती है तो वह अक्षकोणीय कली कहलाती है।

(२) **शिखर कली** (Terminal bud)--जब कली शाखा या तने के सिरे पर निकलती है तो उसे शिखर या (Terminal bud) कहते हैं। इन्हें (Lateral bud) भी कहा जाता है।

(३) **सहायक कली** (Accessory bud)--जब अक्षकोणीय कलियों के समीप कोई अन्य छोटी कली निकल आती है तो उसे सहायक कली कहते हैं।

(४) **अतिरिक्त कली** (Adventitious bud)--कलियाँ अधिकतर तने और पत्तियों के कोने में ही निकलती हैं किन्तु कभी-कभी ये जड़ों या पत्तियों पर भी पाई जाती हैं। ऐसी जड़ों को अतिरिक्त जड़ें कहते हैं।

तनों के कार्य (Functions of stems)--पौधे के हित में तने के पाँच मुख्य कार्य हैं--

१--यह अपने ऊपर पत्तियों को पैदा कर उन्हें ऊपर उठाये रहता है जिससे वे सूर्य की गर्मी सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकें। यह फूल उत्पन्न करता है जो उत्पादन कार्य में सहायक होते हैं।

२--नया पौधा जब आयु में छोटा रहता है और पत्तियाँ उसमें नहीं निकली रहती हैं तो तने ही पत्तियों का काम करते हैं और सूर्य की गर्मी लेकर भोजन तैयार करते हैं।

३--तने जड़ द्वारा खींचे गए आहार ऊपर पत्तियों तक पहुँचाते हैं। पानी और घुलित खनिज पदार्थ पौधे के प्रत्येक भाग में इसी की सहायता से पहुँच पाते हैं।

४--पौधों का भोजन इनमें इकट्ठा रहता है जो समय-समय पर उसके काम आता है। भूमि में रहने वाले तने तो विशेषतया इसीलिए बने ही होते हैं। खाद्य-पदार्थों के संचयन से ही ये फूले रहते हैं। इनके उदाहरण प्याज, लहसुन, आलू आदि हैं।

चित्र ७८--कली

५--तना पौधे को सुदृढ़ बनाता है और उसे दूर तक फैलने योग्य बनाता है।

पत्तियाँ (Leaves)

किसी भी पत्ती के निम्नलिखित भाग किये जाते हैं--

१. पत्ती का आधार (Base),
२. पत्ती का डण्ठल (Petiole), तथा
३. पत्ती का फलका (Lamina)।

पत्ती का आधार––पत्ती को तने से जोड़ने वाला भाग पत्ती का आधार (Leaf base) कहलाता है। यह आधार भिन्न पत्तियों में कई प्रकार से पाया जाता है। कुछ पत्तियों में यह जुड़ने के स्थान पर तने को ढँक लेता है, कुछ में फूला-फूला रहता है और कुछ में उसके अगल-बगल दो कोमल पत्तियाँ निकलती हैं जिन्हें Stipules कहते हैं। तने से पत्ती के तोड़ने पर उसके आधार का एक निशान तने पर छूट जाता है, इसे चकत्ता (Scar) कहते हैं।

पत्ती का डण्ठल––यह पत्ती के आधार से निकल कर उसके चौड़े हरे भाग को सम्हाले रहता है। पत्ती में इसका रहना कोई आवश्यक नहीं है। जिस पत्ती में यह पाया जाता है, उसे डण्ठल-युक्त और जिसमें नहीं रहता है उसे डण्ठल-विहीन कहते हैं।

पत्ती का फलका––पत्ती का चौड़ा, हरा भाग फलका कहलाता है। इसमें उसकी नोक, किनारे, पत्ती की धरातल और नसें होती हैं जिनका रूप भिन्न पत्तियों में भिन्न होता है। पत्ती के सिरे का नुकीला और पतला भाग नोंक (Apex) कहलाता है। फलका, जहाँ समाप्त होती है वह भाग किनारा (Margin) है। फलका के ऊपर का भाग उसका धरातल (Surface) कहलाता है तथा फलका को फैलाने और मजबूत बनाने में जो भाग काम करता है उसे नसें (Ribs) कहते हैं। फलका के बीच में मोटी नस होती है जिससे पतली और छोटी नसें निकल कर इधर-उधर बिखरी होती हैं।

पत्ती की नसें या सिराक्रम (Venation)––पत्तियों में नसों का अधिक महत्व है। ये पत्ती का ढाँचा बनाती हैं और जड़ों से आया हुआ भोजन पत्ती के डण्ठल से लेकर उसके सिरे और किनारे तक पहुँचाती हैं। फलका को फैलाकर उसे अधिक सूर्य की गर्मी लेने योग्य बनाती हैं और इसे हवा के तीव्र झोंकों से फटने से बचाती हैं।

पत्तियों में नसों के बिखरने को 'वेनेशन' (Venation) कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है––(१) जालदार (Reticulate) और (२) समानान्तर (Parallel)।

जब नसें बिना क्रम के फलका में बिखरी होती हैं और एक जाली-सी बनाती हैं तो वह क्रम जालदार कहलाता है। यह दो ढंग का होता है। प्रथम, एक मोटी नस वाला क्रम है जिसमें नसें नोक या किनारे की ओर बढ़ती हैं। इसमें एक ही मोटी नस होती है और बाकी जाल रूप में चारों ओर बिखरी होती हैं। इसके उदाहरण पीपल, आम, अमरूद आदि में पाये जाते हैं।
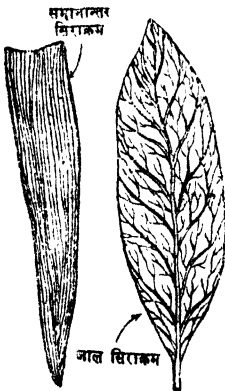
जब नसें एक समान रूप में एक दूसरे के समानान्तर दौड़ती हैं तो वह क्रम समानान्तर कहलाता है। एक दाल वाले पौधे में इसके उदाहरण पाये जाते हैं। इनमें दो किस्में प्राप्त होती हैं। प्रथम में एक मोटी नस होती है और शेष छोटी नसें एक दूसरे के समानान्तर होकर किनारे या सिरे की ओर दौड़ती हैं। दूसरे में कोई मोटी नस नहीं होती बल्कि सभी नसें एक ही स्थान से समानान्तर रूप में निकलती हैं और सम्पूर्ण पत्ती में फैल जाती हैं।

चित्र ७९–पत्तियों में सिराक्रम

पत्ती की किस्में—पत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। (१) साधारण और (२) संयुक्त।

साधारण पत्ती—जब पत्ती में एक ही फलका हो और एक ही डण्ठल हो तो वह साधारण पत्ती कहलाती है जैसे आम, जामुन, कपास, अरहर, अमरूद आदि।

चित्र ८०—साधारण पत्ती

चित्र ८१—संयुक्त पत्ती

संयुक्त पत्ती—जब पत्ती एक फलके में न होकर कई फलकों में हो जाये और उनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध न हो किन्तु उनका जुड़ाव एक स्थान से हो तो उस पत्ती को संयुक्त कहते है। इसके उदाहरण इमली, नीम, गुलाब आदि हैं। संयुक्त पत्ती में छोटी पत्तियाँ कली नहीं रखती हैं।

संयुक्त पत्तियाँ कई प्रकार की होती हैं, जैसा चित्र ८१ से जाहिर है। कुछ तो मोटी नस के आधे या आधे से कम तक ही कटी होती हैं। कुछ में आधे से अधिक पर तीन-चौथाई से कम और कुछ में तीन-चौथाई से भी अधिक कटी होती हैं। पत्तियों के हिसाब से संयुक्त पत्तियाँ दो प्रकर की होती हैं:—

(१) पिनेट संयुक्त पत्ती (Pinnate compound leaf), तथा
(२) पाल्मेट संयुक्त पत्ती (Palmate Compound leaf)

पिनेट में एक मोटी नस बहुत-सी छोटी-छोटी पत्तियों को जन्म देती है। ये

पत्तियाँ दूसरे के ठीक विपरीत या बिखरी हुई लगी रहती हैं। इसके उदाहरण चना, इमली, आदि में पाये जाते हैं।

पाल्सेट पत्ती में सभी छोटी पत्तियाँ एक ही बिन्दु से निकल कर इधर-उधर फैलती हैं। जैसे—कपास।

पत्तियों का स्थापन-क्रम—तने पर पत्तियों के स्थापित होने को उसका स्थापन क्रम (Arrangement or Phyolltaxy) कहते हैं। पत्तियों का स्थापना क्रम कई प्रकार का होता है ताकि वे प्रकृति से पर्याप्त मात्रा में धूप ले सकें।

(१) **विपरीत क्रम**—इस क्रम में दो पत्तियाँ एक ही गाँठ से विपरीत दिशा में निकलती हैं। पत्तियों का एक जोड़ा प्रायः दूसरे से समकोण बनाता है जिससे धूप की अधिक मात्रा ली जा सके। इसके उदाहरण असरूद, सदार, तुलसी आदि में पाये जाते हैं।

(२) **बिखरा हुआ क्रम**—जब एक गाँठ से केवल एक ही पत्ती निकलती है ते उसे बिखरा क्रम कहते हैं। जैसे—सरसों, तम्बाकू आदि में।

(३) **घेरेदार क्रम**—जब एक गाँठ में दो से अधिक पत्तियाँ निकल कर भिन्न-भिन्न दिशाओं में फैल जाती हैं तो वह स्थापन घेरेदार कहलाता है।

(४) **पेंचदार क्रम**—इस क्रम में एक गाँठ से एक ही पत्ती निकलती है इसमें नीचे की पत्तियाँ बड़ी और ऊपर की छोटी होती हैं। ये एक के ऊपर दूसरी करके नहीं होतीं बल्कि सामने से थोड़ा हटकर स्थित होती हैं।
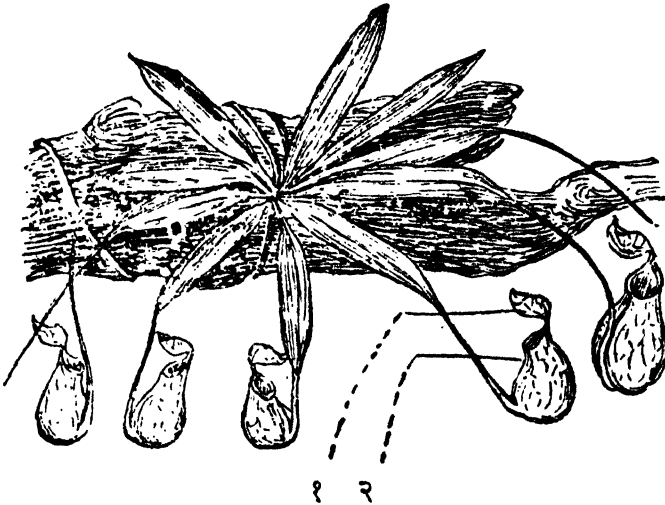
चित्र ८२—घड़े के रूप में पत्ती, १—ढक्कन; २—घड़ा

पत्तियों का रूपान्तरित रूप—पत्तियाँ कभी-कभी रूप छोड़कर बदले हुए रूप में पाई जाती हैं और उसी के अनुसार काम भी करती हैं। यह रूपान्तर कई प्रकार का होता है :—

(१) **काँटे के रूप में**—पत्तियाँ जब अपना रूप छोड़ कर काँटे का आकार धारण कर लेती हैं तो उन्हें पत्ती-काँटा (Leaf spines) कहते हैं, जैसे नागफनी।

(२) **धागे के रूप में**—जब पत्तियाँ धागे के रूप में पाई जाती हैं तो उन्हें उनका बदला हुआ धागा रूप कहते हैं। मटर में यह रूप देखने को मिलता है।

(३) **फाइलोड रूप**—जब पत्तियों का डण्ठल फल का रूप ले लेता है तो उसे फाइलोड कहते हैं।

(४) **घड़े के रूप में**—कुछ पत्तियाँ घड़े का आकार बना लेती हैं और कीड़े पकड़ कर उसी में बन्द कर लेती हैं। इस प्रकार के उदाहरण कीड़े खाने वाले पौधों में पाये जाते हैं जैसे नैपन्थीज।

पत्तियों के कार्य—पौधों के जीवन में पत्तियाँ बहुत महत्वपूर्ण काम करती है जिन्हें नीचे दिया जाता है :—

(१) पौधे के लिए भोजन तैयार करती हैं,
(२) अपनी धरातल से अनावश्यक पानी उड़ाती हैं,
(३) श्वासोच्छ्वास क्रिया करती हैं,
(४) अपने अन्दर भोजन इकट्ठा किये रहती हैं, तथा
(५) वानस्पतिक उत्पादन करती हैं।

पत्तियों के भोजन बनाने का कार्य (Carbon assimilation)—भोजन बनाने में पत्तियाँ सक्रिय भाग लेती हैं। पत्तियों की संरचना छोटे-छोटे सेलों से होती है। ये सेल अपने अन्दर कार्बन डाइ-आक्साइड, पानी, हरियाली और धूप की उचित मात्रा लेकर भोजन निर्माण करते हैं। पत्तियों के निचले धरातल में एक प्रकार के छिद्र होते हैं जिनके द्वारा वायु से कार्बन डाइ-आक्साइड ली जाती है। पानी भूमि से जड़ों द्वारा ऊपर तक पहुँचता है। हरा रंग पत्तियों में जन्मजात होता है। यदि यह न रहे तो उनकी भोजन बनने की क्रिया ही बन्द हो जाय। सूखी या पीली पड़ी पत्तियाँ भोजन नहीं बना सकतीं। भोजन बनाने में धूप का भी उपस्थित रहना आवश्यक रहता है। इस प्रकार इस क्रिया में चार चीजों की आवश्यकता होती है :—

१. पानी, २. हरियाली,
३. कार्बन डाइ आक्साइड, तथा ४. प्रकाश।

जब ये साधन उपलब्ध होते हैं तो पत्तियाँ अपना कार्य करना शुरू करती हैं। कार्बन डाइ-आक्साइड घुलनशील गैस है। वह पत्तियों के निचले सतह पर उपस्थित छिद्रों से वायु की कार्बन डाई-आक्साइड सोख लेती है। यह गैस पत्ती की नमी से मिलकर कार्बोनिक एसिड में बदल जाती है। यह अम्ल या एसिड सूर्य की गर्मी से टूट-टूट कर टुकड़ों में विभाजित हो जाता है। कार्बन और आक्साइड पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। कार्बन तो पत्तियों की हरियाली द्वारा शोषित कर लिया जाता है किन्तु आक्सीजन बच रहता है और वह निकल कर हवा में मिल जाता है। प्रकाश की नारंगी रंग वाली किरणें कृषि में अधिक महत्व की हैं क्योंकि ये पत्तियों की हरियाली से मिलकर भोजन निर्माण करती हैं। अन्य रंग वाली किरणें पौधों के काम की नहीं होतीं।

भोजन बनने की क्रिया (Photosynthesis) पौधे में पत्तियाँ सबसे पहले कार्बनिक एसिड लेकर कार्बोनिक एसिड बनाती हैं और फिर फार्मल डिहाइड बनता है। फार्मल डिहाइड के बाद शक्कर और मांड या कार्बोहाइड्रेट्स बनते हैं। ये पदार्थ पौधों के उपयोग के होते हैं जो घोलों द्वारा पौधे के अन्य भागों में पहुँचाये जाते हैं और भविष्य के लिए संचित भी कर दिये जाते हैं। कुछ भाग खनिज पदार्थों से मिलकर प्रोटीन बनाते हैं और पौधों को थोड़ी बहुत मात्रा में नाइट्रोजन प्रदान करते हैं। भोजन बनाने की क्रिया सूर्य के प्रकाश में ही होती है। रात को या बदली के दिन कार्बन एसिमिलेशन की क्रिया नहीं होती। जब यह क्रिया होती है तो पौधा अपने अन्दर से आक्सीजन निकालता है और इधर-उधर की बिखरी कार्बन डाइ-आक्साइड खींच लेता है। इस प्रकार पौधे या पेड़के निकट दिन में आक्सीजन की बहुलता होती है पर रात में कार्बन डाइ-आक्साइड ही भरा रहता है। क्योंकि पौधा श्वास क्रिया में सारी निकट की आक्सीजन खाता रहता है और कार्बन डाइ-आक्साइड निकालता रहता है। यदि रात कोभी भोजन बनाने की क्रिया होती तो यह कार्बन डाइ-आक्साइड भी सोख ली जाती जिस प्रकार दिन में नहीं रहने पाती।

पानी उड़ने की क्रिया (Transpiration)—यह क्रिया पत्ती के छिद्रों द्वारा होती है जिन्हें Stomata कहते हैं। पौधों की जड़ों से जो पानी आता है वह पत्तियों तक पहुँचता है। पत्तियाँ अनावश्यक पानी उड़ा देती हैं। यही क्रिया ट्रांसपिरेशन या उत्स्वेदन के नाम से पुकारी जाती है। इससे पौधों को तीन लाभ होते हैं। प्रथम, यह कि भूमि के अन्दर के अनावश्यक पदार्थ घुलकर पानी के साथ ऊपर तक पहुँच पाते हैं और पौधे के प्रत्येक अंग उन्हें प्राप्त कर लेते हैं। दूसरे, भूमि का अनावश्यक पानी भाप बनकर उड़ जाता है और तीसरे, पानी के नीचे से ऊपर जाने में पौधा काफी नम रहता है। उससे अधिक गर्मी का प्रतिकूल प्रभाव पौधे पर नहीं पड़ पाता।

यह क्रिया बड़ी पत्तियों में अधिक होती है। जब पौधों को पानी काफी मात्रा में मिलता है तो वे अधिक पानी उड़ाते हैं। गर्मी के दिनों में भी इस क्रि या की गति बढ़ जाती है। जब पानी की मात्रा न्यून हो जाती है तो ये छिद्र सिकुड़ जाते हैं और पानी के उड़ने की क्रिया कम हो जाती है।

श्वासोच्छ्वास क्रिया—प्रायः प्रत्येक जीवमात्र में साँस लेने की क्रिया होती है। इसमें आक्सीजन शोषित की जाती है और कार्बन डाइ आक्साइड निकाल दी जाती है। पौधों में पत्तियाँ यह क्रिया अधिक रूप में करती हैं, यद्यपि तने और डण्ठल भी अपने लेंटिसेल द्वारा यह क्रिया सम्पादित कर लेते हैं। इस क्रिया में आक्सीजन ली जाती है। इसे पत्तियों के छिद्र अपने अन्दर लेते हैं। आक्सीजन सेलों के बीच के स्थान से होकर सेलों को फैलाता है और वहाँ मौजूद पदार्थों को आक्सीकृत करता है। कार्बो हाइड्रेट और प्रोटोप्लाज्म इस आक्सीजन से आक्सीकृत होकर शक्लियों में टूटते हैं और फिर प्रोटोप्लाज्म द्वारा काम में लाये जाते हैं।

फूल पौधे का वह भाग है जो पौधे की जाति का उत्पादन करता है। फूल के बाद फल लगता है। जो बीज तैयार करता है। बीज को अंकुरित करने वाले सभी साधन प्रदान करने पर वह फिर वैसे ही पौधे का निर्माण करता है।

चित्र ८३—गुड़हल का एक फूल

फूल

फूल के भाग—साधारणतया फूल के चार भाग होते हैं। जिनमें दो का उपस्थित रहना बहुत आवश्यक है किन्तु दो सहायक का कार्य करते हैं। सहायक अंगों में अंखुड़ी और पंखुड़ी आते हैं जो आवश्यक अंगों को घेरे रहते हैं। आवश्यक अंगों में पुंकेसर और गर्भकेसर सम्मिलित हैं।

अंखुड़ी—यह फूल का वह भाग है जो सबसे बाहर और नीचे की ओर पाया जाता है। प्रायः इसका रंग हरा होता है। इसे अंखुड़ी कहते हैं। यह बाहरी ओर से फूल की रक्षा करता है। जब फूल कली के रूप में होता है तब यह उसे ढँके रहती है। इसका निर्माण कई छोटी हरी पत्तियों के मिलने से होता है, अतः यह भोजन बनाने का भी काम करती है। कभी-कभी यह रंग-बिरंगे रूप में भी पाई जाती है जिससे कीड़े-मकोड़ों को अपनी ओर आकर्षित भी करती है। अंखुड़ियों का समूह पुटचक्र कहलाता है।

पंखुड़ी—पंखुड़ी फूल का दूसरा सहायक अंग है। यह अंखुड़ी के भीतर किन्तु अन्य भागों के बाहर की ओर स्थित होता है। अधिकतर वह रंगीन होता है, और सुगन्ध वाला होता है जिससे आकर्षित होकर जानवर या कीड़े उसकी ओर जाते हैं, उसके उत्पादन-कार्य में सहायता देते हैं। कुछ ऐसी भी पंखुड़ियाँ होती हैं जो केवल रंगीन होती हैं, सुगन्ध वाली नहीं होतीं या सुगन्ध वाली होती हैं तो रंगीन नहीं होतीं।

पुंकेसर—यह फूल का आवश्यक पुरुष अंग है। इसमें कई पतले-लम्बे आकार के भाग होते हैं। इन्हीं को पुंकेसर कहा जाता है। पुंकेसर के दो भाग होते हैं: (१) लिंग-सूत्र—यह पतले डंठल के आकार में होता है। यह अपने ऊपरी सिरे पर एक चपटा भाग लिये रहता है। (२) लिंग छत्र—यह चपटा भाग लिंग-छत्र कहलाता है। यह बक्से के आकार का होता है। इसमें छोटे-छोटे चूर्ण के रूप में पराग-कण रहते हैं जो पौधों के उत्पादन कार्य में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं।

गर्भकेसर—यह फूल का मादा भाग है। यह फूल के बिल्कुल मध्य भाग में पाया जाता है। कुछ फूलों में यह केसर की उपस्थिति में भी रहता है पर कुछ में अकेले रहता है। इसके तीन भाग होते हैं: (१) योनि छत्र—यह गर्भकेसर का सबसे ऊपरी भाग है। यह भाग कुछ चिपचिपा-सा होता है जिसपर नर भाग के पराग कण आकर चिपक जाते हैं। (२) योनिसूत्र—यह योनिछत्र को ऊपर उठाये रहता है। यह लम्बी और पतली नली के आकार का होता है जिससे होकर ऊपर का पराग-कण गर्भकेसर के भीतरी भाग में प्रवेश करता है। (३) गर्भाशय—यह सबसे नीचे घड़े के आकार का पाया जाता है। इसमें बीज बनने की क्रिया होती है।

सेचन क्रिया—जब नर भाग का पराग किसी प्रकार से मादा भाग के योनि-छत्र पर आ जाता है तो यह क्रिया सेचन क्रिया कहलाती है। यह दो प्रकार से होती है।

(१) स्वयं सेचन तथा (२) पर सेचन।

स्वयं सेंचन—फूल में जब यह क्रिया अपने आप हो जाती है तो इसे स्वयं सेंचन कहते हैं। यह उसी पौधे में होती है जिसमें फूल के नर और मादा भाग दोनों ही होते हैं। पराग जब पक जाता है तो फटता है और फटकर योनि-छत्र पर गिरता है। इस प्रकार का उदाहरण मक्के के पौधे में पाया जाता है। इसके नर फूल का पराग मादा फूल पर गिरता है और सेचन क्रिया हो जाती है।

नर फूल

मादा फूल

चित्र ८४—मक्का का पेड़

पर सेचन—जब सेचन क्रिया स्वयं न होकर किसी अन्य साधन की सहायता से होती है तो उसे पर सेंचन कहते हैं। पर सेचन क्रिया चार प्रकार से होती है:—

(१) हवा द्वारा,
(२) कीड़े-मकोड़े द्वारा,
(३) पानी द्वारा, तथा
(४) जन्तुओं द्वारा।

हवा द्वारा—यह सेचन वायु की सहायता से होता है। जब पराग कण पक जाते हैं और जोरों की हवा बहती है तो वे फूटते हैं और गिर कर मादा फूल के योनि-छत्र पर चिपक जाते हैं। इस विधि में अधिक पराग व्यर्थ हो जाते हैं। इसीलिए इन पौधों में पराग का परिमाण भी अत्यधिक होता है। इसका उदाहरण जौ, गेहूँ आदि की फसलों में पाया जाता है।

कीड़ों द्वारा—इसमें कीड़े फूल की पंखुड़ी द्वारा आकर्षित होकर उसके रस को चूसने के लिये आते हैं। इस प्रकार उनके पैरों या पंखों में पराग-कण चिपक जाते हैं। जब कीड़े उड़कर उसी जाति के मादा फूल के योनि-छत्र पर बैठते हैं तो यह पराग उसपर चिपक जाते हैं और सेचन क्रिया हो जाती है। इस तरह कीड़े-मकोड़े प्रकृति में बहुत उपयोगी होते हैं। इसके उदाहरण अनेक प्रकार के फूल, लौकी, कुम्हड़ा आदि हैं।
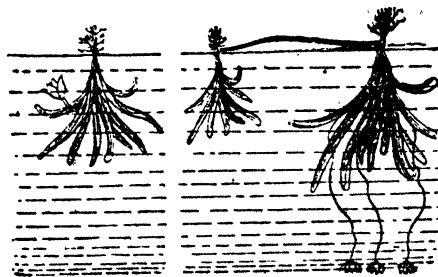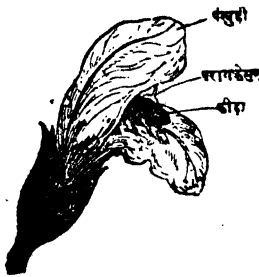
चित्र ८५—कीड़ों द्वारा सेचन   चित्र ८६—पानी द्वारा सेचन (वैसिलकेरिया)

पानी द्वारा—पानी द्वारा सेचन पानी के ही फूलों या पौधों में होता है। फूल के पराग पक कर फूटते हैं तो पानी में बहने लगते हैं और ये बहते-बहते जब मादा फूल तक पहुँच जाते हैं तो यह क्रिया होती है। ऊपर के चित्र में वैसिलकेरिया में सेचन क्रिया दिखाई गई है।

जन्तुओं द्वारा—जब जन्तु खड़ी फसलों या पौधों की कतारों से गुजरते हैं तो पराग उनके शरीर से लगकर मादा के योनि-छत्र से चिपक जाते हैं और सेचन क्रिया सम्पादित हो जाती है।

गर्भाधान क्रिया—परागकण और योनिछत्र के मिलन के बाद पराग योनि-सूत्र से होकर फूल के गर्भाशय तक पहुँचता है। वहाँ मादा भाग के कण या कलल (ovule) रहते हैं। उन्हीं से परागकण मिलकर बीज बनने की क्रिया शुरू कर देता है। यही क्रिया गर्भाधान कहलाती है।

सेंचन क्रिया के बाद पराग कण योनि-छत्र से चिपचिपे अंश से मिलकर एक नली का रूप ग्रहण करता है और धीरे-धीरे गर्भाशय की ओर बढ़ता है। यह नली पराग नली कहलाती है। गर्भाशय में कलल पड़े रहते हैं। ये नलियाँ इन्हीं कललों से संयोग कर समाप्त हो जाती हैं और बीज के बनाने का काम शुरू हो जाता है। जैसा कि बगल के चित्र में दिखलाया गया है।
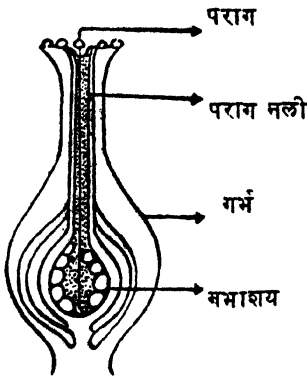
चित्र ८७

गर्भाधान क्रिया मादा पौधों में ही होती है या उनमें होती है जो नर और मादा दोनों भाग वहन करते हैं। लौकी और कुम्हड़ा आदि के पौधों में यह क्रिया नर फूल नहीं करते हैं, बल्कि यह मादा में ही होती है। मक्का के पौधे में दोनों भाग साथ ही रहते हैं, अतः प्रत्येक पौधा भुट्टा देता है। पपीता के वृक्ष में मादा वृक्ष में ही फल लगते हैं। नर वृक्ष केवल पराग पैदा करता है।

फल

गर्भाधान क्रिया के पश्चात् मादा भाग का रूप ही फल कहलाता है। यह फल कई प्रकार के होते हैं। इसमें कुछ तो गूदेदार होते हैं। उन्हीं में बीज बिखरे होते हैं और उनके बाहरी भाग पर छिलका होता है। कुछ केवल बीज होते हैं। फूट में साधारणतया बीज दो प्रकार से पाये जाते हैं। पहले प्रकार में बीज के चारों ओर गूदे भरे होते हैं और दूसरे में केवल बीज होता है जिसे फल नहीं कहते बल्कि बीज के नाम से पुकारते हैं—जैसे गेहूँ, जौ, चना आदि फल हैं पर इन्हें फल नहीं कहते, बीज के नाम से पुकारते हैं। अमरूद और आम में बीज भीतर गूदे के बीच में होता है। पपीते में बीज बिल्कुल बीच में स्थित होता है। इस प्रकार फल दो वर्गों में विभाजित किये जाते हैं।—(१) साधारण फल और (२) संयुक्त फल।

साधारण फल—जब गर्भाशय से केवल एक ही फल उत्पन्न होता है तो उसे साधारण फल कहते हैं। यह भी दो प्रकार का होता है। शुष्क और गूदेदार। शुष्क में कुछ तो पकने पर फटते हैं जैसे मटर, मदार, सरसों, तीसी आदि। कुछ नहीं फटते हैं

जैसे सूर्यमुखी, सुपारी और अनेक प्रकार की घासें। कुछ ऐसे भी सूखे फल आते हैं जो न तो फटने वाले में होते है और न नहीं फटने वाले में। इसके उदाहरण मूंगफली, धनिया, जीरा आदि हैं।
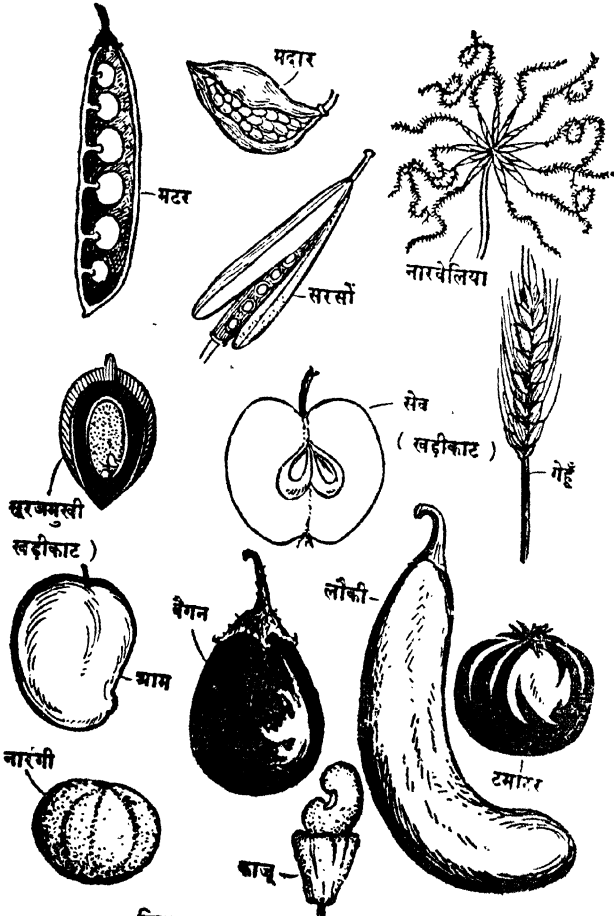
चित्र ८८—तरह-तरह के फल

गूदेदार फलों को कई श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। (१) ड्रूप—इसमें आम, बेर नारियल आदि आते हैं। इन फलों में सबसे बाहरी ओर छिलका, उसके बाद

गूदा और बीच में बीज होता है। इनका बीज बहुत कड़ा होता है। (२) पेपी—इसमें बहुत से बीज होते हैं जो फल में बिखरे होते हैं। इसके उदाहरण लौकी, कुम्हड़ा आदि में पाये जाते हैं। (३) जैरी—इसका छिलका पतला होता है और बीज में गूदे में बिखरा होता है। टमाटर, बैंगन, अमरूद आदि इसके उदाहरण हैं। (४) पोम—इस प्रकार के उदाहण सेब के फल होते हैं। (५) पाँचवें किस्म के फल नीबू या सन्तरे में पाये जाते हैं। इनमें सारा फल कई हिस्सों में बँटा होता है।

संयुक्त फल—जब फल कई फूलों से मिलकर या गुच्छों पर बनता है तो उसे संयुक्त फल कहते हैं। इसकी दो श्रेणियाँ हैं। पहली सोरोसिस—उसमें कटहल आता है। दूसरी श्रेणी सोकोनस कहलाती है। इसके उदाहरण पीपल, बरगद आदि में पाये जाते हैं।

चित्र नं० ८८ में तरह-तरह के फल दिखलाए गए हैं।

फल या बीज का वितरण—प्रकृति में जो फल या बीज पाये जाते हैं उनका चारों ओर वितरण किया जाता है जिससे उस बीज की जाति विश्व में कायम रहे। यदि ये बीज वितरित न किये जायँ तो सम्भव है कि उनकी जाति कायम न रह सके। तुमने देखा होगा, जामुन के पेड़ के नीचे बरसात के दिनों में छोटे-छोटे अनेक पौधे उगते हैं और थोड़े ही दिनों जीवित रहकर मर जाते हैं, क्योंकि वे इतने पास-पास रहते हैं कि उनमें आपस में ही भोजन के लिये झगड़ा होने लगता है। इनमें जामुन का पेड़ सबसे शक्तिशाली होता है जो अपने पास के सारे भोज्य-पदार्थ खींच लेता है और अन्य छोटे पौधे सूख जाते हैं। इस प्रकार एक भी पौधा उसके निकट जीवित नहीं रहता। इससे आवश्यक है कि जामुन के बीज को कहीं अन्य स्थान पर पहुँचाया जाय, जहाँ वह बढ़ सके और अपनी जाति कायम रख सके। बीजों के इस वितरण में निम्नलिखित बातें सहायक सिद्ध होती हैं।

१—वायु,
२—पानी, तथा
३—जीव-जन्तु।

वायु—बीजों के इधर-उधर बिखरने में हवा का बहुत बड़ा हाथ रहता है। यह बाल लगे बीजों को बड़ी आसानी से दूर तक उड़ा ले जाती है और फिर हवा की गति मन्द होने पर ये नीचे बैठ जाते हैं या झाड़ी अथवा पेड़ में लग कर रुक जाते हैं। प्रकृति ने इसीलिए कुछ बीजों में बाल लगाये हैं ताकि ये सरलतापूर्वक उड़ सकें। इसके उदाहरण सेमल, मदार और कपास में देखे जाते हैं। कुछ फलों में पंख लगे होते हैं। जिससे वे हवा में उड़ सकें। इस प्रकार ये मातृ पौधे से उड़कर दूर चले जाते हैं। प्रकृति में कुछ एसे भी पौधे पाये जाते हैं जिनमें
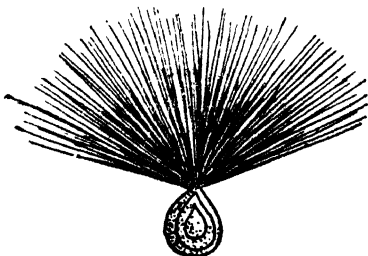
चित्र ८९—मदार का बीज

छतरी की तरह का प्रबन्ध होता है और वे हवा में उड़ सकते हैं। हल्के बीज और फल हवा में उड़ सकते हैं। गर्मी के दिनों में आँधियाँ आया करती हैं जो अपने साथ बहुत से बीज और फल उड़ाकर इधर-उधर बिखेर देती है जैसे सिरसा का फल। घास के बहुत से बीज इतने हल्के होते हैं कि जरा ही से हवा के झोंके में उड़ जाते हैं। कुछ फलियाँ ऐसी होती हैं जो वायु के हल्के झोंकों में फट जाती हैं और इधर-उधर बिखर जाती हैं।
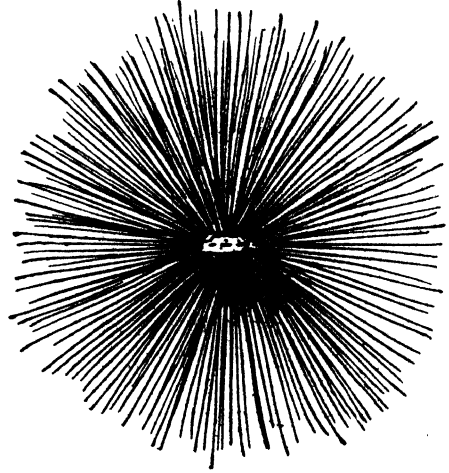
चित्र ९०—कपास का बीज

पानी—पानी बीजों के प्रसार में अधिक सहायक होता है। समुद्रों में नारियल के फल एक स्थान से बहकर दूसरे स्थान पर बहुत दूर तक चले जाते हैं। कमल के फूल, तिन्नी और धान के बीज बहकर ही अधिक संख्या में बिखरते हैं। बरसात के दिनों में नदी-नालों द्वारा बहुत से बीज बहते हुए पाये जाते हैं। ये एक स्थान से दूसरे स्थान को बहकर बीज का प्रसार करते हैं।

जीव-जन्तु—बहुत से बीज तो आदमी और जानवरों द्वारा बिखेरे जाते हैं। मनुष्य अपने लाभ के हेतु अन्नों के बीजों को उत्पादित करने के लिए खेतों में बिखेरता है। ऐसा कुछ अनजान में भी हो जाता है। बहुत से घासों के बीज मनुष्य के पैर या कपड़े में लिपट कर दूर चले जाते हैं। सन्तरे, नीबू, अनार आदि फल खा कर लोग बीज इधर-उधर बिखेर देते हैं। कुछ जानवर भी ऐसा ही करते हैं। यदि वे अनाज अधिक परिमाण में खा लेते हैं तो उनके गोबर में भी वह निकल आता है और भूमि में बिखर जाता है। कुछ फल या बीज की बनावट इस प्रकार की होती है कि वे सरलतापूर्वक जानवरों के शरीर में चिपक जाते हैं और दूर तक फँसे ही रहते हैं। चूहे और विभिन्न चिड़ियाँ बीजों और फलों को बहुत दूर तक ढो ले जाती हैं।

कुछ फल या बीज ऐसे पाये जाते हैं जो धूप के लगने से चिटकते हैं और चिटक-चिटक कर पौधे से दूर तक निकल जाते हैं, जैसे अरण्डी के फल। कुछ फल नमी पाकर चिटक जाते हैं और इस प्रकार उनका वितरण होता है। ये फट कर दो टुकड़ों में बँट जाते हैं और बीज निकल कर अलग हो जाते हैं।

बीज के भाग और उनके कार्य—साधारणतया बीज के कई अंग होते हैं। सबसे बाहरी ओर छिलका होता है। यह धूप, नमी और हवा आदि से बीज के भीतरी

अंगों की रक्षा करता है। किसी बीज में यह पतला और किसी में मोटा होता है। छिल्के के भीतर बीज का भोजन रहता है। यह भोजन बीज के अंकुरण के समय काम जाता है। इसे बीज को दौल या दालें कहते हैं। दौल के आधार पर दो प्रकार के बीज होते हैं। पहला एक दौल वाला, इसमें सारा बीज एक ही में संयुक्त होता है। इससे उगने वाले पौधे एकदलीय या एक दाल वाले कहे जाते हैं। दूसरा बीज दो दौल या दाल वाला होता है। यह बीच से दो दालों में विभक्त हो जाता है परन्तु सिरे पर एक ओर से जुड़ा रहता है। इससे उगने वाले पौधे दो दलीय कहलाते हैं, जैसे चना, मटर, अरण्डी आदि। एक दौल वाले बीजों के उदाहरण मक्का, जौ गेहूँ आदि में पाये जाते हैं। दालों के जुड़ने वाले स्थान को हाइलम कहते हैं। बीज अपनी टहनी से इसी स्थान पर जुड़ा होता है। इस स्थान के निकट ही एक छिद्र होता है जिसे माइक्रोपाइल कहते हैं। एक भीगे चने को यदि दबायें तो भीतर से पानी निकलता हुआ दिखलाई देगा। यही पानी निकलने वाला स्थान माइक्रोपाइल है। छिल्का हटाने पर जो पीला या सफेद भाग दिखलाई देता है उसे इम्ब्रीओ कहते हैं। दौल इसी में स्थित होते हैं। यह भाग बीज का महत्वपूर्ण अंग है। इसी से उचित स्थिति में बीज उग आता है। तना बनाने
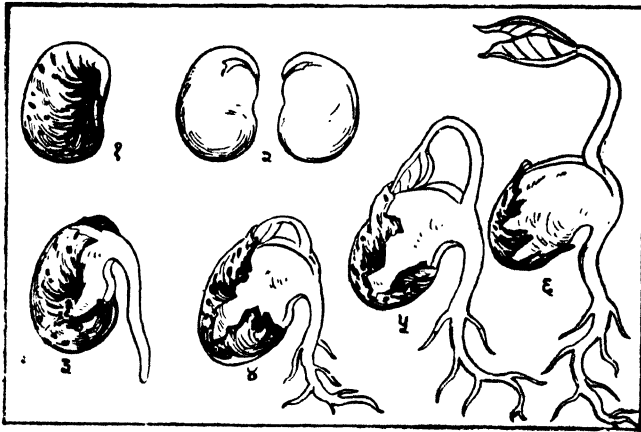
चित्र ९१

वाला अंग बीज-अँकुर ऊपर को जाता है और जड़ बनाने वाला बीजमूल नीचे की ओर। कुछ पौधों में बीज जमते समय दालें भूमि में ही रह जाती हैं और कुछ भूमि के ऊपर चली आती हैं। भूमि के ऊपर आने पर इनका रंग हरा हो जाता है और ये पत्तियों की भाँति काम करती हैं जैसे अरण्डी या नीम के बीज में। बीज जमते समय कई स्थितियों में आता है। इसकी ६ स्थितियाँ ऊपर के चित्र में दिखाई गई हैं।

बीज के जमने में आवश्यक दशाएँ—पौधा जब तक जमता नहीं तब तक वह

अपनी सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है किन्तु कुछ आवश्यक स्थितियों में उसका यह समय समाप्त हो जाता है और वह जग उठता है। जगने का अर्थ उगना होता है। उसमें अंकुर फूट पड़ते हैं और वह एक पौधे का निर्माण प्रारम्भ कर देता है। जमाव में चार बातें आवश्यक हैं—

(१) प्रकाश,
(२) तापक्रम,
(३) नमी, तथा
(४) वायु।

प्रकाश—बीज के जमने में यद्यपि प्रकाश की कोई आवश्यकता नहीं होती, वह तो अँधेरे में ही अपेक्षाकृत शीघ्र उगता है, फिर भी उगने के ठीक बाद पौधे में हरियाली लाने के लिए प्रकाश का रहना जरूरी होता है। प्रकाश अन्य आवश्यक दशाओं में लाभकर सिद्ध होता है। जो पौधा अँधेरे में उगता है, उसमें हरियाली नहीं होती है। हरियाली लेने के लिए अँधेरे में बोया गया पौधा प्रकाश की ओर दौड़ता है। पौधे में बीज-मूल तो अँधेरे की ओर भागता है जो जड़ का निर्माण करता है किन्तु बीज-अंकुरण बाहर प्रकाश की ओर जाता है जैसा चित्र में दिखलाया गया है। यही कारण है कि बीज को चाहे जिस किसी भी रूप में छोड़ दें उगने पर उसका तना वाला भाग ऊपर प्रकाश की ओर और जड़ वाला नीचे अँधेरे की ओर जाता है। यदि इसे उलट कर उड़ वाला भाग ऊपर और तने वाला नीचे की ओर कर दें तो भी हम देखेंगे कि ये घूम कर अपना पहला रूप ही धारण कर लेंगे। ओर जाना
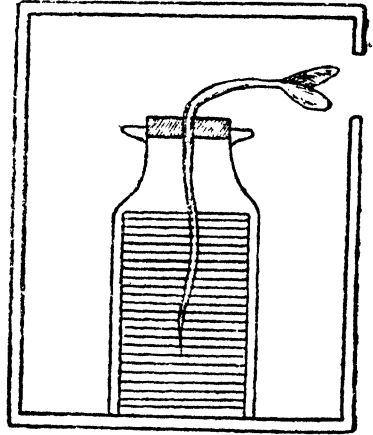
चित्र ९२—पौधे का प्रकाश की ओर जाना

तापक्रम—प्रत्येक बीज अपने उगने के लिए एक निश्चित तापक्रम चाहता है। उसी तापक्रम पर उसके अन्दर समुचित क्रियाएँ होती हैं और वह जमना प्रारम्भ करता है। यदि बीज इस तापक्रम से नीचे उगाया जाय तो जमाव देर में होगा।

नमी—नमी या पानी बीज की सुषुप्तावस्था दूर करने के लिए आवश्यक है। यद्यपि बीज में कुछ न कुछ मात्रा में पानी वर्तमान रहता है किन्तु यह बीज के अन्दर उपस्थित अन्य रासायनिक पदार्थों की क्रिया के लिए पर्याप्त नहीं होता। जब बीज एक निश्चित सीमा तक पानी ले लेता है तो उसकी सारी सोई चेतनाएँ जग उठती हैं और वह एक नया पौधा बनाने को तैयार हो जाता है।

वायु—यदि बीज को उपर्युक्त तीनों अवस्थाएँ प्रदान कर दी जायँ और भूमि में अधिक गहराई पर बीज को गाड़ दिया जाय जहाँ वायु नहीं है तो वह कदापि नहीं उग सकता। बीज को हवा से आक्सीजन मिलती है। यह आक्सीजन बीज के श्वास क्रिया द्वारा ली जाती है। इसीलिए बीज को भूमि में वहीं रखा जाता है जहाँ वायु का आवागमन सरलतापूर्वक हो सके।

पौधों का उगना—पौधों की गति को प्रकृति में स्थिर रहने के लिए उसका उत्पादन आवश्यक है। यह उत्पादन दो प्रकार से होता है १—बीजों या फलों द्वारा और २—पौधों के अंगों द्वारा। बीजों या फलों द्वारा उत्पादन लिंगोत्पादन और तनों से पौधों का उत्पादन वनस्पतिक उत्पादन कहलाता है।

बीजों के उत्पादन में ध्यान देने वाली बातें—बीज बोते समय अच्छे जमाव के लिए कई बातों का ध्यान देना चाहिए। यदि बीज सड़ा या दबा होता है अथवा उसमें दाग लगे होते हैं तो यह उसमें दोष है। पूर्ण न पका हुआ बीज भी ठीक नहीं होता। यदि ऐसे बीच उगाये जायँ तो ये उग तो आयेंगे किन्तु पौधे दुर्बल और क्षीण ही रहेंगे बोने वाले बीजों को गोदामों में हिफाजत से रखना चाहिए। ऐसा करने से बीज अधिक दिनों तक शक्तिशाली और बलिष्ठ बने रहते हैं किन्तु बेढंगे रूप से रखने पर ये काम के नहीं होते। अधिक दिनों के रखे बीजों का जमाव ताजे बीजों की अपेक्षा ठीक नहीं होता। बीजों को उगने की एक अवधि होती है। इस अवधि के पार करने पर बीजों का अंकुरण घट-सा जाता है। इनकी अंकुरण शक्ति की जाँच कर यदि इनकी बोआई हो तो अधिक अच्छा है। इसके लिए ऐसा किया जाता है कि कुछ बीज नमूने के तौर पर बो देते हैं और उनकी अंकुरण शक्ति ज्ञात कर ली जाती है। यदि अधिक बीज नहीं उगते या उनका जमाव ठीक नहीं होता तो बीज बदल लेना चाहिए और अच्छे किस्म के बीजों को ही खेत में छोड़ना चाहिए। बीमारी लगे खेत के बीजों को बोआई में नहीं प्रयोग करना चाहिए। इसमें बीमारी के बढ़ने का भय रहता है। अच्छा हो, यदि बीज अच्छ जाति का हो। प्रगतिशील जातियाँ ही प्रायः प्रयोग करनी चाहिए। यदि बीज बाजार से खरीदना हो तो कई बातों पर ध्यान दिया जाता है। मोटे बीज कृषि के हक में अच्छे होते हैं। पतले और पिचके या क्षीण बीज ठीक नहीं होते। यदि बीज तौल में भारी हों और पानी में डुबाने पर डूब जाता हो तब तो अच्छा है। हल्के बीज नहीं खरीदना चाहिए। सड़े, गले या रोगग्रस्त बीज कदापि नहीं लेना चाहिए। घुन लगे हुए बीज जमते नहीं। बहुत से दूकानदार लाभ के लिए बीज में कूड़ा-करकट अथवा अन्य सस्ते बीज मिलाकर बेचा करते हैं। ऐसे बीजों की पहचान ठीक रूप में कर लेना चाहिए।

प्रजनन (पौधों की जाति कायम रखना)

प्रकृति में अपनी जाति स्थिर रखने के लिए जिस प्रकार जन्तु, पक्षी, कीट आदि प्रजनन क्रिया करते हैं ठीक उसी प्रकार वनस्पति संसार में भी प्रत्येक पौधा अपने जाति

का अस्तित्व स्थिर रखने के लिए प्रजनन की क्रिया करता है। यह प्रजनन तीन प्रकार से होता है--

(१) लैंगिक,
(२) अलैंगिक, तथा
(३) वानस्पतिक।

लैंगिक प्रजनन--यह प्रजनन साधारण तौर से प्राणि संसार में होता है। इसमें दो लिंग--स्त्री और पुरुष मिलते हैं। इन उत्पादन अंगों को गेमेट (जन्यु) कहते हैं। ये गेमेट अकेले पौधे का निर्माण नहीं कर सकते। यदि एक ही जाति के स्त्री और पुरुष के दो गेमेट पूरी पकी अवस्था में मिलते हैं तो इनमें एक प्रकार की क्रिया होती है। इस क्रिया से दोनों मिल कर जाइगोट की रचना करते हैं। यह जाइगोट बढ़कर पौधा बनता है।

बड़े पौधे म स्त्री और नर भाग के गेमेट भिन्न होते हैं और इन्हें सरलतापूर्वक पहचाना जा सकता है। नर का पराग पराग-नली में रहता है और मादा का रजकण (Ovum)Ovule में रहता है। जब इन दोनों में मिलने की क्रिया होती है तो उसे गर्भाधान कहते हैं। गर्भाधान के बाद रजकण ओस्पोर (Oospore) में बदल जाता है और यही ओस्पोर इम्ब्रीओ (Embryo) बनाता है। ओव्यूल (Ovule) बीज की रचना करता है। बीज बोने पर पौधे को जन्म देता है। इस कारण इनकी जाति बनी रहती है। गर्भाधान की क्रिया केवल फूल वाले पौधों में ही होती है।

बिना फूल वाले पौधों में मादा और नर भाग के गेमेट की पहचान बहुत कठिन है। जब दो गेमेट एक ही जाति के आपस में मिलते हैं तो जाइगोट बनता है। इसे जाइगोस्पोर कहते हैं। यही जाइगोस्पोर (डिम्ब बीजाणु) स्वतन्त्र पौधे को जन्म देता है। म्यूकर, स्पाइरोगाइटा म इसी प्रकार की क्रिया होती है।

अलैंगिक प्रजनन--यह प्रजनन बिना फूल वाले पौधों में पाया जाता है। इनके स्पोर सिलियायुक्त होते हैं जो जुस्पोर के नाम से जाने जाते हैं। ये अपने पर (Cilia) की सहायता से इधर-उधर तैरा करते हैं। बाद में ये इन परों को समेट लेते हैं और अपने ऊपर एक दीवाल बना लेते हैं। अब यह एक नया पौधा बन जाता है। फफूँदी के पौधे बहुत अधिक संख्या में स्पोर तैयार करते हैं जो इधर-उधर उड़ा करते हैं और उचित तापक्रम और नमी की उपस्थिति में एक नये पौधे का सृजन कर देते हैं।

वानस्पतिक प्रजनन--यह प्रजनन लिंगों की सहायता से न होकर वनस्पति के योग से किया जाता है। इसमें तने, जड़ें डालियाँ और पत्तियाँ काम आती हैं। इसमें पुत्तियाँ, आँखें, राइजोम, कलियाँ आदि नया पौधा तैयार करती हैं। अदरख, अरुवी, हल्दी, आलू, गन्ना, शहतूत, गुलाब आदि पौधे इसी प्रजनन द्वारा उगाये जाते हैं। यह उत्पादन कुछ तो पौधों की प्रगतिशील जाति निकालने के लिए किया जाता है और कुछ में विवश होकर ऐसा करना पड़ता है। आम का पौधा उसकी गुठली से तैयार किया जा सकता है किन्तु शाखाओं या टहनियों द्वारा किया गया पौधा प्रगतिशील जाति का

होता है। उसमें फल शीघ्र आते हैं और फल आकार में भी बड़े होते हैं। वानस्पतिक उत्पादन कई ढंगों से किया जाता है--

(१) कलम लगाना,
(२) अण्टा बाँधना,
(३) पैबन्द लगाना,
(४) चश्मा बाँधना, तथा
(५) दाब लगाना।

कलम लगाना--इसमें किसी पौधे की टहनी या शाखा का मजबूत, हरा-भाग लेकर भूमि में गाड़ देते हैं। उचित नमी देने पर यह भाग जड़ें पैदा करता है और फिर कल्ले फूट आते हैं जो तने का निर्माण करते हैं? इन टहनियों अथवा शाखाओं में गाँठें होती हैं और गाँठों पर आँखें या कलियाँ होती हैं। इनका प्रयोग करते समय यह अच्छी तरह देख लेना चाहिए कि आँखें मर तो नहीं गई हैं। ऐसी हालत में पौधा नहीं पनप सकता है। अतः पहले ही ऐसी टहनी लेनी चाहिए जिसमें तीन या चार गाँठें हों और आँखें भरी-भरी हों। जिस स्थान पर कलम लगाना हो, वहाँ पहले से भूमि खोदकर तैयार रखते हैं। आवश्यकतानुसार खाद और नमी की मात्रा उपस्थित होनी चाहिए। भूमि के उर्वर होने पर गाँठें शीघ्र जड़ें फेंकती हैं। गाँठों को पेड़ या पौधे से काटने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि गाँठों पर कोई ठेस न पहुँचने पावे और टहनी गाँठ को बचाती हुई काटी जाय। ऊपर का कटाव यदि सीधा रहे और नीचे का तिरछा रहे तो अधिक अच्छा हो ताकि ऊपरी भाग पर ताप या सड़ाव का भय कम हो जाय और निचला भाग शीघ्र जड़ें पैदा कर सके। कलम का टहनी को दो-तिहाई भूमि में गाड़ कर एक तिहाई खुला छोड़ देना चाहिए। खुले भाग में दो-चार पत्तियाँ लगी होनी चाहिए।

कलम लगाने में मौसम से सचेष्ट होना चाहिए। सूखे या सर्द ऋतु की कलम उतनी उत्तम नहीं होती जितनी वर्षा ऋतु का। अतः कलम लगाने का कार्य बरसात में ही होना चाहिए। कलम यदि गमले में लगाई गई है तो इसे कड़ी धूप से बचाना चाहिए। मैदान में लगाने पर टट्टर या छप्पर द्वारा ताप से रक्षा करनी चाहिए। पानी के जमा हो जाने वाले अथवा पानी से कटकर बैहने वाले स्थान पर क्रिया कदापि नहीं करनी चाहिए। जब कलम तैयार हो जाय तो उसे भूमि से निकालकर उचित स्थान पर लगा देना चाहिए। साधारणतया कलम तैयार होने में तीन या चार माह का समय लगता है।

अन्टा लगाना--यह रीति प्रायः देहातों में की जाती है। इसमें किसी कोमल टहनी को चुन कर उसके आँख की दशा का निरीक्षण करते हैं। अच्छी दशा होने पर ठीक उसके नीचे का छिलका १½" या २" वर्गाकार में निकाल देते हैं और उस स्थान को ऊपर से नीचे तक तालाब की चिपकदार मिट्टी भर कर मोटे कपड़े या चिथड़े अथवा टाट से बाँध देते हैं। इसे बराबर नम रखने अथवा मिट्टी को गीली रखने

के लिए ऊपर कि किसी शाखा में एक पेंदें में छेद किया हुआ घड़ा इस प्रकार बाँधते हैं कि उसमें से पानी टपक-टपक कर मिट्टी को गीली करता रहे। घड़े के खाली होने पर उसे पुनः पानी से भर देते हैं। ऐसा लगातार लगभग दो माह करने पर गाँठ से जड़ें निकल आया करती हैं। जब जड़ें निकल आयें तो टहनी को गाँठ के साथ इस प्रकार काट लेना चाहिए कि वह दूसरा पौधा पैदा कर दे। अण्टा बाँधने की यह क्रिया गर्मी और बरसात के दिनों में अधिकता से होती है।

चित्र ९३—अण्टा बाँधना

पैबन्द लगाना—जब एक पौधे में उस जाति या दूसरे जाति की टहनी पैबन्द की भाँति जोड़ दी जाती है तो उसे पैबन्द लगाना कहते हैं। यह बहुत प्रचलित और प्राचीन ढंग है। इसमें यदि दो जातियों के पौधों की टहनियाँ आपस में मिला दी जाती हैं तो संयुक्त पौधा मिश्रित रंग का होता है। उसमें दोनों जाति के पौधों का अंश वर्तमान रहता है। इस विधि से अनेक प्रगतिशील जातियाँ तैयार की गई हैं। यदि आम और अमरूद के पौधों को मिलाकर पैबन्द लगाया जाय तो संयुक्त पौधा दोनों पौधों के रस का मिश्रण लिये होगा। पपीते का वृक्ष तुमने देखा होगा। इसमें मादा और नर पेड़ अलग-अलग होते हैं। किन्तु पैबन्द द्वारा नर-मादा को एक ही वृक्ष में उगाया जा सकता है। इस विधि में फल शीघ्र लाने के लिए फल न देने वाले पौधे का फल देने वाले पौधे से पैबन्द लगाते हैं। इस फल का उत्पादन शीघ्र होने लगता है।

विधि—जिस डाल में पैबन्द लगाना हो, उसे ढालवे ढंग पर इस प्रकार काटना चाहिए कि पैबन्द लगाने वाली टहनी उसमें आ जाय। दोनों टहनियों की छालों को मिलाना अच्छा होता है। जब ये दोनों ठीक मिल जायँ तो इसे पतली, मुलायम रस्सी से मजबूती से बाँधना चाहिए ताकि हवा के झोंके हिला कर इन्हें अलग न कर सकें। फिर थोड़ी-सी गीली मिट्टी बाँध पर रख छोड़ते हैं ताकि ये सूखने न पावें।

पैबन्द लगाने का कार्य विशेष चतुरता की आवश्यकता रखता है। क्योंकि

थोड़ी-सी भी असावधानी उसे विफल कर सकती है। डालों को काटने में तेज चाकू से काम लेना चाहिए और भरसक प्रयत्न करना चाहिए कि वही आदमी इसे करे जो इस कार्य में पटु हो। पैबन्द लगाते समय उचित समय का होना आवश्यक है क्योंकि अधिक गर्मी होने से टहनियाँ सूख सकती हैं। अच्छा हो, यदि वर्षा ऋतु में ही यह ढंग काम में लाया जाय।
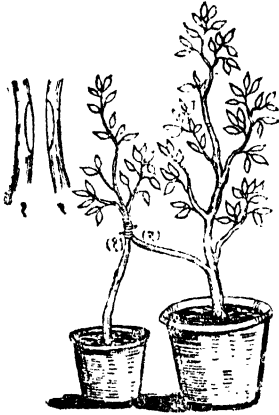
चित्र ९४--पैबन्द या भेंट कलम

चश्मा बाँधना—इस विधि का प्रयोग जनवरी से फरवरी तक या जुलाई से अक्टूबर तक होता है। इसमें पेड़ की छाल को अँगरेजी के अक्षर टी (T) के आकार का काट लेते हैं और उसमें किसी दूसरे पौधे की आँख इस प्रकार से रख देते हैं कि वह उसमें आ जाय। आँख या कली का रूप अच्छा होना चाहिए ताकि वह उस पेड़ में हरी-भरी रह सके। इस आँख को तने की छाल में द[illegible]ा देना चाहिए और कपड़े अथवा केले की छाल से कटे भाग को इस प्रकार बाँधना चाहिए कि आँख खुली रहे। २० या २५ दिनों बाद यह आँख अंकुर पैदा कर देती है और फिर पौधा तैयार हो जाता है। यह विधि बहुत उपयोगी होती है; क्योंकि एक ही मजबूत पेड़ से कई फल तैयार किये जा सकते हैं अथवा पुराने पेड़ से नए पौधे तैयार किये जा सकते हैं। चश्मा लगाने में कली या अँखुआ हरा-भरा होना चाहिए। उसकी उम्र लगभग एक साल की होनी चाहिए। तने की उत्तर दिशा में ही चश्मा लगाना चाहिए। इससे अँखुआ तीव्र धूप से बच सकता है
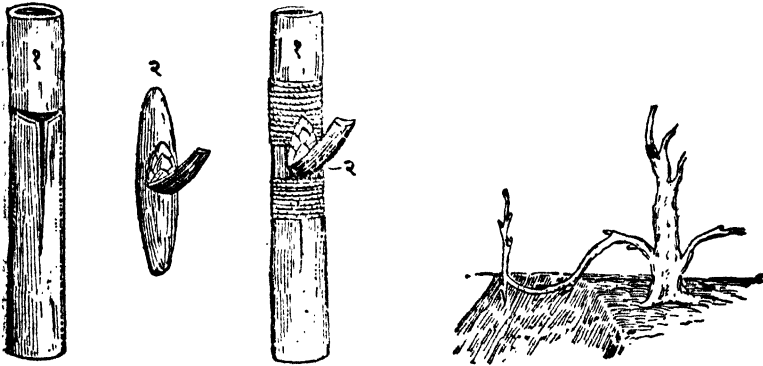
चित्र ९५—चश्मे लगाना १—शाखा। २—कली चित्र ९६—दाब लगाना

और उसके जीवित रहने की अधिक सम्भावना होती है। चश्मा का बँधाव तने पर भूमि से जितना ही निकट होगा, उतना ही अच्छा होगा।

दाब लगाना---यह साधारण ढंग है। इसमें जब पौधा भूमि की धरातल से बहुत निकट टहनियाँ या शाखाएँ बनाता है तो यह क्रिया की जाती है। किसी हरी-भरी कोमल डाली को झुका कर भूमि में गाड़ देते हैं। गाड़ने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि डाली तने से टूटने न पावे और उसका सिरा तथा पत्तियों का अधिक भाग भूमि से बाहर निकला रहे। जो भाग भूमि में दबाया जाता है उसे मजबूती से मिट्टी में लगे रहने के लिए ऊपर से पत्थर या लकड़ी का कुन्दा रख देते हैं। थोड़े दिनों बाद टहनी के इस भाग से जड़ें निकल आती हैं और एक नया पौधा तैयार हो जाता है। जड़ों के निकल आने पर टहनी को पेड़ से अलग कर देना चाहिए और नए पौधे को वहाँ से निकाल कर अन्य स्थान पर लगा देना चाहिए। यह क्रिया बरसात में ही अधिक सफल होती है।

वानस्पतिक उत्पादन कभी-कभी बहुत आवश्यक होता है। आलू या गन्ना में बीजों द्वारा उत्पादन नहीं किया जाता अपितु तने ही काम में लाये जाते हैं। आलू के तने भूमि के नीचे पाये जाते हैं। इसमें पौधों की खुराक जमा होती हैं। यदि आलू को ध्यान से देखा जाय तो इसमें छोटी-छोटी आँखें दृष्टिगत होती हैं। इन्हीं आँखों को जब भूमि में उचित अवस्थाओं में रख देते हैं दो कोपलें आ फूटती हैं। इन्हें काटते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि चाकू की धार इनसे होकर न गुजर जाय। काटते समय एक टुकड़े में कम से कम दो या तीन आँखें होनी चाहिए ताकि एक-आध के मर जाने से कोई हानि न हो। गन्ने के पौधे में भी ऐसा ही किया जाता है। उसमें बीज तो आते हैं किन्तु वे इतने कोमल होते हैं कि गर्मी के मारे जम नहीं सकते। अत: इसके तने छोटे-छोटे टुकड़ों में काट लेते हैं। एक टुकड़े में दो या तीन गाँठें होनी चाहिए। टुकड़ों को काटने से गाँठों से थोड़ा हट कर ही विभाजन करना चाहिए। इससे गाँठों के सड़ने और अँखुओं के मरने का भय नहीं रहता।

प्रश्न

१. एक चित्र की सहायता से किसी फल वाले पौधे से भिन्न-भिन्न अंगों तथा उनके कार्यों का वर्णन करो। (१९५०)

२. अंकुरित होने, बढ़ने तथा प्रौढ़ होने के लिए पौधे की आवश्यकताओं तथा अनुकूल परिस्थितियों का पूर्ण विवरण दो। (१९५०)

३. जड़ों के कार्यों तथा उसके भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन उदाहरण तथा चित्र सहित करो। (१९५१)

४. पौधे कार्बन एसिमिलेशन क्रिया कैसे करते हैं? (१९५१-५२)

५. वानस्पतिक प्रजनन पर संक्षिप्त लेख लिखो। (१९५१)

६. पत्तियों के भिन्न-भिन्न रूप तथा उनके कार्य उदाहरण सहित वर्णन करो। (१९५२)

७ पौधों की उचित वृद्धि के लिए किन दशाओं का होना आवश्यक है? मनुष्य किन उपायों द्वारा इन दशाओं की अनुकूलता बढ़ा समझता है?

८. पौधे के भिन्न-भिन्न भागों का सचित्र वर्णन करो तथा उनके कार्य का भी संक्षिप्त वर्णन करो। (१९५३)

९. पौधे की वृद्धि के लिए आवश्यक तत्वों के नाम लिखो, इनमें से किसी तीन की आवश्यकता बताओ। (१९५३-५४)

१०. मैथुन तथा अमैथुन (लैंगिक या अलैंगिक) प्रजनन से क्या समझते हो? वर्णन करो।

अध्याय ९

हमारी फसलें और तरकारियाँ

खेती में काम आने वाले कुछ उन्नतिशील यन्त्र

हमारी कृषि अभी उन्हीं पुराने और पिछले यंत्रों की सहायता से की जा रही है जो आज से कितने वर्ष पूर्व प्रयुक्त होते थे। वैज्ञानिक युग के विकास ने इन पर अभी कोई गहरा प्रभाव नहीं डाला है। इसका कारण है देश की विपन्नता और दरिद्रता। केवल अर्थ-संकट से ही मजबूर होकर हमारे किसान इन यंत्रों को खरीद नहीं सकते। यद्यपि यह मालूम है कि इन वैज्ञानिक यंत्रों की सहायता से कृषि-कार्य शीघ्र और अच्छे ढंग से होंगे फिर भी बहुत कम किसान इन्हें खरीदने का साहस करते है। यहाँ तक कि सस्ते हल जो मिट्टी पलटने वाले होते हैं, बहुत कम काम में लाये जा रहे हैं। इन यंत्रों का प्रयोग हमारे देश में केवल सरकारी फार्मों पर ही हो रहा है। देहातों में इनका बहुत कम प्रचार है। हम नीचे कुछ उन्नतिशील यंत्रों का उल्लेख करेंगे जो पुराने यंत्रों के स्थान पर अच्छा काम देते हैं।

इन यंत्रों में देशी हल से अधिक गहरी और चौड़ी कूँड़ बनाने के अनेक प्रकार के हल हैं। इनमें मेस्टन हल महत्वपूर्ण है। मिट्टी पलटने वाले हल भी कई तरह के बनाये गए हैं जिनमें पंजाब, विक्ट्री, पत्थर-तोड़ आदि सम्मिलित हैं। इनका सविस्तार वर्णन हमने अध्याय ५ में ही किया है। भूमि जोतने के लिए ट्रैक्टर का प्रयोग किया जाता है जो ऊबड़-खाबड़ जंगली भूमि को १'—१½' की गहराई तक उलट देता है। ट्रैक्टरों की भी कई किस्में होती हैं जो भिन्न-भिन्न स्थान पर प्रयुक्त होती हैं। हलों की सहायता से तो एक ही साथ दो कूँड़ से लेकर ६ कूँड़ तक बना सकते हैं। इनसे भूमि में खाद मिलाने का काम कर लेते हैं ओर बोआई भी जाती है। खाद डालने और फैलाने की एक अलग मशीन है जो यह काम शीघ्र करती है।

खेत में जुताई के बाद बोआई करने के लिये भी मशीनें तैयार हुई हैं। इनमें ऐसा प्रबन्ध होता है कि बीज इनमें भर दिया जाता है। बैल खींचते जाते हैं और बीज गिरता जाता है। बीज एक ही साथ पाँच पंक्तियों में गिरता है। इन पंक्तियों की आपस की दूरी बढ़ाई-घटाई जा सकती है। इसमें केवल दो आदमियों की आवश्यकता होती है। बैलों द्वारा चलाये जाने वाला यंत्र जिससे बोआई होती है, भारत के लिए अच्छा सिद्ध हुआ है। इसे सीड ड्रिल कहते हैं। एक दूसरा सीड ड्रिल ट्रैक्टर होता है जो मशीन की सहायता से चलाया जाता है। यह मिट्टी के तेल या पेट्रोल की सहायता से चलता है। इसमें एक ही आदमी सब कुछ कर सकता है। इसमें भी पंक्तियों के बढ़ाने-घटाने का प्रबन्ध होता है। मिट्टी जोतने, भुरभुरी करने, मिट्टी नर्म करने, पपड़ी तोड़ने आदि सभी काम एक ही साथ पैलवेराइजर नामक एक यंत्र से किये जाते हैं।

बोआई के बाद सिंचाई और गुड़ाई में भी अन्यान्य यंत्र प्रयोग किये जाते हैं जिनका उल्लेख हमने पिछले प्रकरण में किया है। फसल काटने के लिए नरमदा रीपर और राजा रीपर दो यंत्र हैं जो बैलों की सहायता से चलाये जाते हैं। इनमें कटी हुई फसल यंत्र के पीछे छोड़ दी जाती है। इन्हें बाँधने के लिए मजदूर लगाये जाते हैं। यह मशीन एक दिन में पाँच-छः एकड़ खेत काट सकती है। इसका मूल्य ३००—४०० रुपये हैं। एक ऐसी भी मशीन है जिसे फसल काटने और बाँधने के काम में लाते हैं। इसका नाम ग्रेन बाइण्डर है। यह १० घंटे में १० से १५ एकड़ खेत काट सकता है। कम्बाइन हारवेस्टर और थ्रेशर एक अन्य यंत्र है जो एक ही साफ फसल की कटाई, मड़ाई और ओसाई कर देती है और साफ दाने बोरे में भर देती है। इसके अतिरिक्त आलू
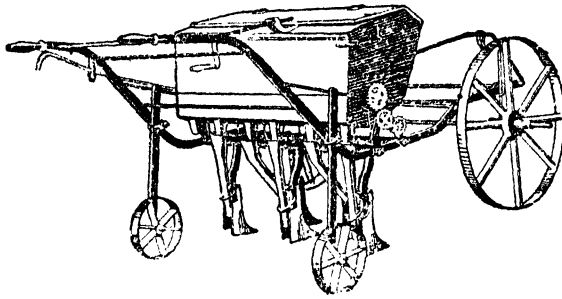
चित्र ९७—बोआई की मशीन

खोदने, शलजम, चुकन्दर आदि भूमि से निकालने के लिए भी अलग-अलग मशीनें हैं।
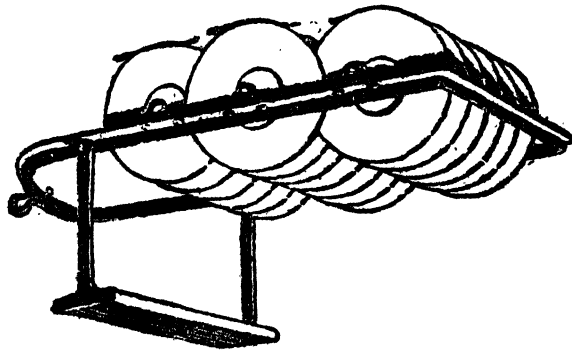
चित्र ९८—मड़ाई करने की मशीन

फसल की मड़ाई देहातों में बहुधा बैलों से की जाती है। पर इसके लिए मशीनें बनी हैं। एक मशीन जिसे आलपैड थेशर कहते हैं, बैल द्वारा चलाई जाती है। एक जोड़ी बैल इसे खींचने में समर्थ होते हैं। जब डण्ठल टूट कर बारीक हो जाते हैं तो भूसे उड़ाकर बीज अलग कर लेते हैं। अमेरिका में ऐसी अनेक मशीनें प्रयुक्त हैं जो इंजिन द्वारा चलाई जाती हैं और वे फसल की कटाई करने के पश्चात् बीज तथा भूसे को भी अलग कर देती हैं। हमारे यहाँ ओमाई की क्रिया टोकरियों की सहायता से की जाती है। यह बहुत समय लेती है क्योंकि यह हवा पर ही निर्भर करती है। जब हवा ठीक रूप से बहती है तब तो बोआई की जा सकती है पर तेज या धीमी गति में यह क्रिया बन्द कर देनी पड़ती है। यह कार्य चित्र ९९ में प्रदर्शित किया गया है। ओसाई की क्रिया करने के लिए भी एक प्रकार का यंत्र निकाला गया है, जिसे विनोअर कहते हैं। इसमें पंखे लगे होते हैं जिन्हें एक हैण्डिल की सहायता से घुमाया जाता है। एक आदमी भूसा-दाना मिला अंश टोकरी में भर कर गिराता है और इस यंत्र द्वारा ये दोनों अलग कर दिये जाते हैं, जो चित्र से स्पष्ट है।

चित्र ९९—हवा में ओसाई

चारा काटने के लिए भी मशीनें बनी हैं। देहातों में लोग अधिकतर गड़ांस का ही प्रयोग कुट्टी काटने में करते हैं किन्तु इससे अधिक समय और परिश्रम लगता है। इसके लिए कुट्टी काटने वाली साधारण मशीनें प्रयोग की जा सकती हैं। इनमें एक बड़ा सा पहिया लगा होता है जिसमें दो धारें लगी होती हैं। ये हैण्डिल द्वारा चलाने से होती हैं। एक ओर से कुट्टी दबाने का प्रबन्ध होता है जैसा चित्र १०४ से ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त अन्य मशीनें भी हैं जिन्हें चैफ कटर कहते हैं। कुछ तो बिजली द्वारा चलाये जाते हैं जिनसे कम ही समय में बहुत अधिक चारा काटा जा सकता है। मोअर एक एक ऐसा यंत्र है जो चारे वाली फसलों की कटाई करता है और उन्हें कुट्टी में भी बदलता जाता है।
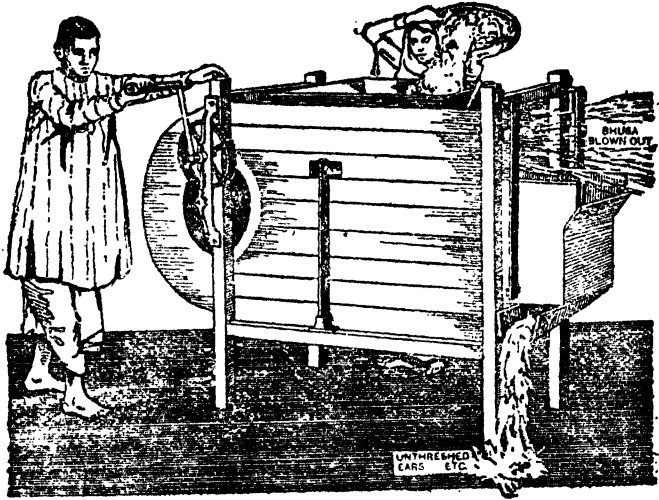
चित्र १००—भूसा दाना अलग करन की मशीन (विनोअर)

चित्र १०१—कुट्टकाटने की मशीन
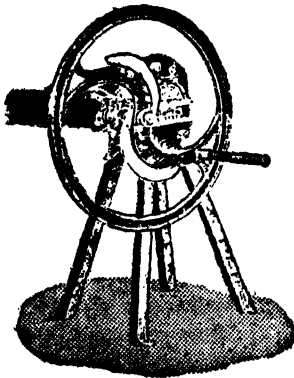
गन्ना की खेती करने वाले क्षेत्रों के लिए उत्तम प्रकार के कोल्हू और कढ़ाव तैयार किए गए हैं जिनका प्रयोग सरकारी फार्मों पर किया जा रहा है। देहातों में जो कोल्हू प्रयोग हो रहे हैं, वे ठीक प्रकार से गन्ने को नहीं चूसते। खोई में रस शेष रह जाता है जो इसके परिमाण में कमी ला देता है। इसके लिए तीन बेलनवाला कोल्हू अच्छा काम देता है। गुड़ बनाने के लिए अच्छे प्रकार से बना हुआ कढ़ाव भी प्रयोग होना चाहिए। जो कढ़ाव अच्छे किस्म के नहीं होते उनमें गुड़ ठीक नहीं बन पाता और समय तथा खर्च भी अधिक पड़ता है। गुड़ पकाने के लिए चूल्हे या चिमनी का उत्तम ढंग से बनना आवश्यक है। अच्छे किस्म की चिमनी में गुड़ शीघ्र और अच्छा बन पाता है। इसके लिए अनेक प्रकार की प्रगतिशील चिमनियाँ निकली हुई हैं। प्रत्येक कृषक को चाहिए कि वह अपनी चिमनी

सरकारी कर्मचारियों के निरीक्षण में ही बनवाये। इनकी देखभाल वह सरकारी फार्मों पर सरलतापूर्वक कर सकता है।

हमारी फसलें

१—धान की खेती (Paddy)

धान की खेती विश्व के अनेक भागों में होती है। इसी कारण इसकी हजारों जातियाँ हैं। इसकी खेती अधिकतर पानी वाले भूभागों में ही होती है क्योंकि यह फसल पानी बहुत चाहती है।

महत्व—भजन के पदार्थों में धान या चावल का अत्यधिक महत्व है। इसका एसिया में अधिक प्रचार है। धान की सर्वप्रथम खेती चीन से आरम्भ हुई है और तत्पश्चात् भारत में आई। धान भारत की मुख्य फसल है। बंगाल, आसाम, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, मद्रास, पश्चिमी घाट आदि प्रदेशों में यह फसल अधिक होती है। भारत में लगभग ८० लाख एकड़ भूमि में धान उगाया जाता है।

जलवायु—धान को अधिक गर्मी और बराबर वर्षा चाहिए। मानसून के समय में मानसून वाले भागों में ही इसकी उपज सम्भव है।

भूमि—धान के लिए मटियार या मटियार-दोमट भूमि अच्छी होती है। जिस भूमि में पानी धारण करने की जितनी शक्ति होगी वह धान की फसल के लिए उतनी ही अच्छी भूमि मानी जाती है।

धान की किस्में—साधारणतया धान की दो किस्में हैं—देशी और उन्नत। देशी जाति में समय के अनुसार चार किस्में होती हैं। १. भदई या क्वारी, २. जड़हन या अगहनी, ३. कार्तिक और ४. बोरो।

साठी भदई या क्वारी—साठ दिनों में ही होने के कारण इसे साठी के नाम से पुकारते हैं। यह शुरू बरसात में बो दी जाती है और भादों या क्वार में काट ली जाती है। इसके लिए पानी की अधिक आवश्यकता होती है परन्तु बराबर पानी के लगे रहने या फसल के डूब जाने पर उत्पादन बिल्कुल ही नहीं होता। इसे छिटकवाँ की रीति से बोते हैं। जब पहला पानी बरसता है तभी पानी को खेत में रोककर जुताई कर देते हैं और बीज को छिटक देते हैं। इसे काट कर रबी की फसलें भी बोई जा सकती हैं क्योंकि खेत की तैयारी के लिए काफी समय मिल जाता है। इसमें साठी, बक्की, सर्या, मुटमुर, देहुला आदि किस्में सम्मिलित हैं।

जड़हन या अगहनी—यह छिटकवाँ रीति से बोकर रोपुआ या बेड़ रूप में बोया जाता है। यह धान की देर में पकने वली जाति है। इसे बेड़ वाले खेत में जुलाई के अंतिम सप्ताह अथवा अगस्त प्रथम सप्ताह तक उखाड़ कर रोप देते हैं। यह किस्म अधिक पानी चाहती है और नवम्बर के अन्त में या दिसम्बर के प्रारम्भ में तैयार हो जाती है। अंजी, भैंसोट, जन्दा, चकिया आदि किस्में इस श्रेणी में आती हैं।

कार्तिकी धान---इसमें रामजियावन, बासमती, हंसराज, अंजना, दलबादल आदि किस्में सम्मिलित हैं। कार्तिक के महीने में पकने के कारण इसे कतिकी के नाम से पुकारा जाता है। यह रोपुआ जाति है। इसे पानी की अधिक आवश्यकता होती है।

बोरो---इसे जेठी के नाम से भी पुकारते हैं। यह रोपुआ धान की किस्म है। इसकी बेहन नवम्बर या दिसम्बर के माह में डाल देते हैं और फिर खेत में रोप कर अप्रैल-मई तक काट लेते हैं। कुछ धान से कलौंजी, जैसुरिया, दुधलची आदि ऐसे होते हैं जिनकी पैदावार गहरे पानी में भी ली जा सकती है। कलौंजी छिटकवाँ धान है पर जैसुरिया और दुधलची की बेहन डाली जाती है। गर्मी के दिनों में जब तालाब का पानी घटने लगता है तो इनकी रोप लगाते जाते हैं। बरसात होने पर ज्यों-ज्यों पानी बढ़ना शुरू होता है, त्यों-त्यों ये पौधे बढ़ते जाते हैं। इस तरह बहुत गहराई बढ़ जाने पर भी पानी पौधे को डुबा नहीं पाता और बालियाँ भली-भाँति आ जाती हैं। नावों से धान की कटाई कर ली जाती है। इस प्रकार की खेती आसाम और मद्रास प्रदेशों में अधिक होती है। उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में भी इस प्रकार की खेती होती है। बलिया जिले में सुरहा का ताल और देवरिया में राजभरताल मुख्य हैं जहाँ ये धान उगाये जाते हैं।

बारीकी के आधार पर धान को मोटे और बारीक दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। इसमें मोटे वर्ग में बड़े और भद्दे दाने वाले धान आते हैं। पर दूसरी श्रेणी में महीन और बारीक दाने आते हैं। इसी प्रकार रोपुआ और छिटकवा करके भी दो वर्ग किये जा सकते हैं। रोपुआ किस्में बाद में होती हैं जिन्हें देर में होने वाली जाति के नाम से पुकारते हैं। छिटकवाँ शीघ्र काटी जाती है। बेहन वाली जातियों में मतीचूर, अंजी, बासमती, रामजियावन, हंसराज, लटेरा रामधनियाँ, काला सुखदास, अंजना, आदि हैं। ये उत्तर प्रदेश के भिन्न-भिन्न जिलों में उगाई जाती हैं। छिटकवाँ जाति में क्वारी, भदई आदि मुख्य जातियाँ हैं।

धान की कुछ उन्नतिशील जातियाँ---उन्नतिशील जातियों में शीघ्र तैयार होने वाली और देर में तैयार होने वाली दो जातियाँ होती हैं। शीघ्र पकने वाली जाति में टाइप नं० १, ३, २१, ४३, १३६ आदि सिंचित क्षेत्र के लिए और असिंचित क्षेत्र के निमित्त टा० २२, २७, ३२ अ आदि प्रयुक्त होते हैं। देर से पकने वाली जातियाँ टा० ९, १७, २२ अ, २३, ८८, १०० आदि हैं। ये नवम्बर से दिसम्बर तक काटी जाती हैं।

यहाँ हम अध्ययन की सुविधा के लिए छिटकवाँ और बेहन धान का वर्णन पृथक्-पृथक् करेंगे।

छिटकवाँ धान

खेत की तैयारी---यदि सम्भव हो तो धान वाले खेत में मिट्टी पलटने वाले हल से गर्मी की एक जुताई कर देनी चाहिए। इससे भूमि के अन्दर उत्पन्न कीड़े-मकोड़े आदि तो मर जाते हैं साथ ही खर-पतवार भी विनष्ट हो जाते हैं। पुनः बरसात के शुरू होने पर तीन-चार जुताई और करनी चाहिए। जब खेत के ढेले अच्छी तरह बारीक हो जायँ तो कड़ा पानी बरसने पर खेत के चारों ओर मजबूत मेड़बन्दी कर पानी रोकना

चाहिए और देशी हल से एक बार फिर खेत की जुताई करनी चाहिए ताकि मिट्टी अधिक लसदार हो जाय। तत्पश्चात पाटा देकर बीज छींट देते हैं।

खाद--धान की फसल में खाद देना बड़ा लाभदायक सिद्ध होता है। इसके लिए शुरू जुताई में ही गोबर की सड़ी खाद अथवा कम्पोस्ट खेत में डालना चाहिए। यदि नहरी क्षेत्र है, तब तो हरी खाद का प्रयोग करना चाहिए। इसके सड़ने के लिए अवसर देने के निमित्त पहले ही भूमि की पलेवा कर बोआई कर देनी चाहिए। यदि बनावटी खाद का प्रयोग करना हो तो अमोनियम सल्फेट या अण्डी की खली प्रयोग करना चाहिए किन्तु इन्हें बोआई के १५ दिन पहले ही छोड़ना उपयुक्त होता है।

बोने का समय--धान जून के माह में बो देना चाहिए। यदि समय पर वर्षा नहीं हुई तो जुलाई के प्रारम्भ तक अवश्य बो देना चाहिए।

बीज और बीज की मात्रा--उपजाऊ भूमि में २५ सेर से ३० सेर प्रति एकड़ बीज की मात्रा होनी चाहिए किन्तु दुर्बल भूमि में ३०-४० सेर बीज बोया जा सकता है। बोने विधि के अनुसार मात्रा भी समान नहीं होती। छिटकवाँ विधि में यह मात्रा ३० सेर और नाई की विधि में २० सेर आवश्यक होता है। बोने से पहले बीज यदि भिगो दिया जाय तो अधिक अच्छा होता है। धान को फटक कर कूड़ा-करकट आदि निकाल लेते हैं। किसी ऊँचे चिकने स्थान पर रखकर १२ से २४ घंटे तक उसे भिगोते रहते हैं। उचित गर्मी से बीज में कभी-कभी अंकुर निकल आते हैं। जब यह बीज पानी से भरे खेत में छोड़ते हैं तो वह शीघ्र उसमें डूब जाता है और भूमि की धरातल पर बैठ जाता है तथा पानी के सूखते-सूखते अंकुरित हो जाता है।

फसल की सिंचाई--साधारणतया ऐसे धान की फसलों में सिंचाई नहीं करनी पड़ती क्योंकि ये फसलें बरसात के दिनों में बोई जाती हैं और यदि वर्षा समय से होती जाय तो वर्षा ऋतु में ही कट भी जाती हैं। किन्तु सूखा पड़ने या अल्प वृष्टि से सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। खेत की तैयारी में पलेवा करने और खेत में पानी लगाने के लिए भी कभी-कभी सिंचाई की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार खड़ी फसल में भी आवश्यकतानुसार सिंचाई की जाती है किन्तु अधिक पानी का खेत में बराबर जमा रहना अहितकर होता है।

निकाई और गुड़ाई--यद्यपि फसल निकाई-गुड़ाई किये बिना ही पैदा की जा सकती है तथापि खर-पतवारों का निर्मूलन हितकर ही सिद्ध होता है। एक या दो बार देशी हल अथवा हैरो से खेत की निकाई कर देते हैं। इससे खर-पतवार विनष्ट हो जाते हैं और ये भूमि में सड़कर खाद भी तैयार कर देते हैं। अच्छा हो, यदि यह निकाई खेत में पानी उपस्थित रहते समय ही की जाय। इससे उखड़े धान भी फिर से जड़ पकड़ लेते हैं।

कटाई--फसल की कटाई सितम्बर से होनी प्रारम्भ होती है। इसे काट कर खलिहानों में ला देते हैं। खलिहानों में लाने के पहले यदि धान को काट कर सुखा लिया जाय तो अच्छा हो; किन्तु खेत में पानी लगे रहने पर ऐसा नहीं किया जा सकता।

रोपुआ धान

इस धान के उत्पादन में एक बार बीजों की बेहन डालते हैं और फिर जब पौधे ६"–९" तक हो जाते हैं तो उन्हें उखाड़ कर दूसरे तैयार किये गए खेतों में रोप देते हैं।

बेहन डालने वाले खेत की तैयारी—जिस खेत में धान की बेहन तैयार करनी हो, उसे गर्मी की जुताई कर एक बार मिट्टी पलट देनी चाहिए। यह पलटाई अप्रैल या मई के प्रारम्भ तक हो जानी चाहिए। इससे भूमि धूप से काफी जल जाती है और उस में जल ग्रहण करने की शक्ति भी आ जाती है। बेहन डालने वाले खेत में, जो बीयड़ कहलाता है, घूरे की खूब सड़ी खाद डालनी चाहिए। यह खाद २०० से ३०० मन प्रति एकड़ तक डाली जा सकती है। खेत की मिट्टी खूब अच्छी तरह से जोतकर भुरभुरी की जाती है और खाद को मिट्टी में मिला देते हैं, फिर बीयड़ को छोटी-छोटी क्यारियों में बाँट लेते हैं। इन क्यारियों का आकार चौड़ाई में ४ फीट से लेकर ८ फीट तक होता है और लम्बाई खेत के अनुसार रखते हैं। इनमें बीज सूखे खेत में ही छींट कर सिचाई कर देते हैं या बीज को काफी देर तक भिगो कर अंकुरित हो जाने के बाद मिट्टी में डालते हैं। ऐसा भी किया जाता है कि बीयड़ को पानी से भरकर खूब जुताई करके छोड़ देते हैं और दूसरे दिन भिगोये बीज छिड़क देते हैं। थोड़े समय बाद जब पानी सूख जाता है तो अंकुर दृष्टिगत होने लगते हैं।

बीज की मात्रा—एक एकड़ खेत की रोपाई करने के लिए ८-१२ सेर बीज १/२० से १/१० एकड़ बीयड़ में छोड़ते हैं। बीयड़ के पौधों के बढ़ाव के प्रति सावधान रहना चाहिए। पानी तो हर तीसरे, चौथे रोज छोड़ते रहना चाहिए। इसलिए बीयड़ बनाते समय सिचाई के साधन का ध्यान रखना चाहिए। यदि पास ही में कुआँ हो तो अधिक उत्तम होगा। पौधे थोड़ी सी भी पानी की कमी से विनष्ट हो सकते हैं। यदि पानी समय पर बरसता जाय तब तो सिचाई का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बीयड़ में पौधे लगभग ४०-५० दिनों में रोपने योग्य हो जाते हैं।

रोपने वाले खेत की तैयारी—जिस खेत में धान की रोपाई करनी हो उसे रबी की फसल कटने पर ही मिट्टी पलटने वाले हल से जोत देना चाहिए। यदि पानी की सुविधा हो तो सिचाई करके हरी खाद के लिए सनई आदि बो देनी चाहिए। यह बोआई मई या जून के प्रथम सप्ताह तक कर देनी चाहिए जिससे जुलाई तक इन्हें भूमि में दब कर सड़ने का मौका मिल जाय। एक या दो जुताई करके खेत की मेंड़बन्दी कर देनी चाहिए और बरसात का पानी रोक रखना चाहिए। फिर उसी में देशी हल से तीन या चार जुताई कर मिट्टी कचड़ा कर देते हैं। भूमि को समतल करने के लिए पाटा चला कर छोड़ देते हैं और रोपाई शुरू कर देते हैं। रोपाई करते समय खेत में ३"–४" पानी रुका होना चाहिए।

रोपाई का ढंग—रोपाई करते समय कतार से कतार और पौधे से पौधे की दूरी पर ध्यान देना चाहिए। यदि खेत की भूमि अधिक उपजाऊ है तो यह

दूरी अधिक की जा सकती है; किन्तु दुर्बल भूमि में पौधे निकट-निकट लगाये जाते हैं। साधारणतया कतार से कतार की दूरी ९" से १२" और पौधे से पौधे की दूरी ८" से १०" रखी जाती है। एक स्थान पर तीन से चार पौधे लगाने चाहिए। अनुर्वर भूमि में ६ से ८ पौधे भी लगाये जा सकते हैं। रोपाई की क्रिया जुताई के अंतिम सप्ताह तक हो जानी चाहिए।

निकाई-गुड़ाई—खेत में पानी के बराबर मौजूद रहने से निकाई-गुड़ाई का कोई महत्व नहीं रहता। किन्तु खर-पतवार के अधिक होने पर निकाई अवश्य कर देनी चाहिये।

सिंचाई—धान की फसल बहुत पानी चाहने वाली फसल है। अतः यह उन्हीं स्थानों पर उगाई जाती है जहाँ अधिक पानी बरसता हो अथवा पानी की सुविधा हो। रोपाई करते समय खेत में पानी ४' या ५" तक रुका होना चाहिये। जब पौधों की जड़ें मिट्टी में स्थिर हो जायँ तो एक बार खेत का सारा पानी काट कर बहा देना चाहिये। इससे जड़ों में धूप लग जाती है लेकिन खेत में कुछ-कुछ नमी के रहने पर ही फिर सिंचाई कर देनी चाहिये। फ़सलों में बाली आते समय खेत में नमी का होना आवश्यक होता है पर कटने के थोड़े दिन पहले ही खेत का पानी काट कर बाहर निकाल देना चाहिये।

कटाई—जब धान का पौधा पीले रंग का हो जाता है और बालों के चावल चावल पक कर कठोर हो जाते हैं तो फसल की कटाई शुरू करते हैं। फसल काटते समय खेत का सूखा होना आवश्यक होता है। इससे पौधे काट-काट कर उसी स्थान पर गिराये जा सकते हैं। जब फसल कट जाय तो उसे दो या तीन दिनों तक धूप में छोड़ देना चाहिये ताकि वे अच्छी तरह से सूख जायँ। कटाई हँसिया या कटाई वाली मशीन से करनी चाहिये। साधारणतः धान की कटाई आधे नवम्बर तक समाप्त हो जाती है।

मड़ाई—फसल के सूख जाने पर उसे गट्ठे या बोझ बना कर खलिहानों में ला देते हैं। यहाँ डण्ठलों को पीट कर अन्न अलग करते हैं अथवा बैलों की सहायता से दवाँई कर पुआल और धान अलग कर लेते हैं। धान को साफ करने के लिये विनोअर का प्रयोग करते हैं जो शीघ्र ही हवा के न चलने पर भी धान की गन्दगी उड़ा देता है।

उपज—रोपुआ और छिटकवाँ धान की उपज भिन्न होती है। रोपुआ १५ से २० मन प्रति एकड़ तक जाता है किन्तु छिटकवाँ १० से १२ मन तक। यदि अधिक परिश्रम और पैसा खर्च करके खेत को उर्वर बनाने के बाद फसल ली जाती है तो रोपुआ २०-२५ मन और छिटकवाँ १५-२० मन तक होता है। चार मन धान का लगभग ३ मन चावल तैयार होता है।

धान में लगने वाले कीड़े और रोग—धान की फसल के लिए हानिकर कीड़ गंधी, तना छेदक, चरका, कोल आदि हैं। इन्हें दूर करने के लिए गर्मी की जुताई आवश्यक है। इससे इनके अण्डे-बच्चे मर जाते हैं और बढ़ने नहीं पाते हैं। खड़ी फसल

पर इन्हें कपड़े या पत्ते वाली टहनी से झाड़ देना चाहिए। फसल की दो भयंकर बीमारियाँ कायमा और बन्ट हैं जो लग जाने पर फसल को बरबाद कर देती हैं।

बीज संचित रखने का ढंग—धान के बीज सुखा-सुखा कर बोरों में बन्द करके रख दिये जाते हैं। गर्मी प्रारम्भ होने पर फिर उन्हें सुखा दिया जाता है ताकि उनकी नमी जाती रहे। नमी की उपस्थिति में बीज खराब हो जाने अथवा घुन लगने का भय रहता है। देहातों में लोग बीज को ठीक ढंग से नहीं रखते। इससे अधिकांश बीज खराब हो जाता है।

जापानी ढंग से धान की खेती—आज धान की खेती उन्नतिशील ढंग से की जा रही है जो जापानी ढंग की नकल है। इस ढंग से फसल बहुत अच्छी आती है। इसमें बीयड़ को क्यारियों में बाँट लेते हैं। इनका आकार २५'×४' का होता है। इन क्यारियों के मध्य पानी वाली नालियों की व्यवस्था रहती है। क्यारी को राख, कम्पोस्ट, नाइट्रोजन वाले फर्टिलाइजरों से भर देते हैं किन्तु उनके अनुपात का ख्याल रखते हैं। जब खाद खेत में पड़ जाय तो बीज छिड़क कर उसे महीन मिट्टी से ढँक देते हैं और एक सिंचाई कर देते हैं। बीज की मात्रा प्रति क्यारी आधा सेर होती है। बीयड़ में उगे खर-पतवारों की निराई कर देना चाहिये। जब पौधे ९" या १०" के हो जायँ तो खेत में रोप देते हैं। खेत में पौधों की कतारें सीधी होनी चाहिए और आपस की दूरी १०" रहे। एक स्थान पर दो पौधे गाड़ने चाहिए। इस विधि में रोपाई के बाद निराई और गुड़ाई के लिए खेत में हो आसानी से चलाया जा सकता है। फसल को पानी की मात्रा खूब चाहिए। जिस खेत में रोपाई हो उसमें खाद की अच्छी मात्रा मिलानी चाहिए। ऐसा करने से धान की फसल उत्तम आयेगी और अधिक लाभ होगा। पंचवर्षीय योजना में जापानी ढंग से खेती करके कृषकों को यह ढंग बतलाया जा रहा है। यह ढंग हमारी सरकार चारों ओर प्रचारित करना चाहती है क्योंकि इससे प्रति एकड़ ४४ मन धान की उपज होती है।

धान के कुछ फसल-चक्र—एक साल का—धान—मटर
दो साल का—धान—अरहर—गेहूँ
तीन साल का—धान मटर—ज्वार—अरहर—परती—गेहूँ

२—गेहूँ (Wheat)

भारतवर्ष में धान की उपज के बाद दूसरा स्थान गेहूँ का है। यह भारतवर्ष में २३९४० हजार एकड़ भूमि में उगाया जाता है। उत्तर प्रदेश में ८१७९ हजार एकड़ भूमि में गेहूँ पैदा होता है। इसका आटा, सूजी, मैदा, दलिया आदि तैयार किया जाता है। भोजन में इसका अधिकांशतः प्रयोग होता है। गेहूँ का इतिहास बहुत प्राचीन है। इसका मूल स्थान दजला-फरात की घाटी माना जाता है। भारतवर्ष में यह बहुत पुराने काल से उगाया जाता है क्योंकि मोहनजोदड़ो की खुदाई में कुछ गेहूँ के बीज

उसी समय के मिले हैं। हमारे देश में पंजाब गेहूँ की फसल के लिए प्रधान है पर पाकिस्तान के बटवारे ने इसकी उपज में कमी ला दी है। उत्तर प्रदेश में रुहेलखण्ड, मेरठ, अवध के क्षेत्रों में इसकी पैदावार अधिक होती है।

गेहूँ का पौधा ऊँचाई में लगभग धान के पौधे के ही बराबर होता है। जड़ झकड़ेदार होती है और वह अपने अन्दर से बहुत से तनों का सृजन करती है। तनें खोखले, हरे और गाँठ वाले होते हैं। बालें धान की ही भाँति लगती हैं पर ये भीतरी नहों द्वारा बन्द रहती हैं। बालियां तनों के अन्त में ही निकलती हैं।

गेहूँ के लिए भूमि—गेहूँ के लिए अलूवियल भूमि बहुत उपयोगी होती है। दोमट भूमि में भी गेहूँ की फसल अच्छी आती है पर मटियार भूमि इसके लिए उपयुक्त नहीं होती। दोमट मटियार में किसी प्रकार इसकी फसल ली जा सकती है। काली मिट्टी तो गेहूँ के लिए अच्छी नहीं पड़ती किन्तु इसमें लाल गेहूँ की पैदावार ली जा सकती है। गेहूँ के खेत में पानी के निकल जाने का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। खेत यदि समतल हो तो सिंचाई की व्यवस्था उत्तम हो सकती है। सिंचाई के साधन सुलभ होने चाहिए।

जलवायु—गेहूँ की फसल लगभग सभी जलवायु में उगाई जा सकती है। सर्द, गर्म, और शीतोषण-सभी जलवायु में उगने के कारण ही यह संसार के प्रत्येक भाग में पाया जाता है। भारतवर्ष में आसाम ही ऐसा प्रदेश है जो गेहूँ नहीं उगाता नहीं तो लगभग प्रत्येक प्रदेश में थोड़े-बहुत परिमाण में इसकी खेती की जाती है।

गेहूँ की जातियाँ—इसकी दो जातियाँ हैं, देशी और उन्नतिशील। देश में स्थान, रंग और बालियों के आधार पर इसकी कई किस्में हैं दाऊदी, मुजफ्फरनगरी, कठिया (जो बुन्देलखण्ड में पाई जाती है), शरबती, चन्दौसी, लालिया, मुंडिया, पिसिया आदि अनेक जातियाँ हैं। कठिया गेहूँ कठोर होता है पर उसमें नाइट्रोजन अर्थात् प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है। पिसिया गेहूँ मुलायम और देखने में सुन्दर होता है।

उन्नतिशील जातियाँ—ये जातियाँ वैज्ञानिक ढंग पर तैयार की गई हैं जो साधारणतया देशी जातियों से अधिक उपज देती हैं। आज सरकार इन्हीं जातियों के प्रयोग पर जोर दे रही है। उत्तर-प्रदेश की भिन्न जलवायु में गेहूँ की भिन्न जातियाँ उगाई जाती हैं। इनकी दो उप-जातियाँ हैं। प्रथम शीघ्र तैयार होने वाली और दूसरी देर में पकने वाली। शीघ्र पकने वली जातियों में एन० पी० ४, १२, ५२, ५४, १२५ सी०. १२, १३, ४६ और बंसी सी० पी० मुख्य हैं। एन० पी० का अर्थ पूसा नम्बर से होता है। मद्रास में पूसा नामक एक सरकारी फार्म है, वहीं ये जातियाँ निकाली गई हैं, अतः वहाँ की जातियों को पूसा के नाम से ही पुकारते हैं। कानपुर में भी एक कृषि फार्म है जहाँ उन्नतिशील जातियाँ निकाली जाती हैं। यहाँ से निकली जातियों को कानपुर अथवा सी० नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसी प्रकार देर में पकने वाली जाति में पंजाब ८ अ, ४०९, ५९२ आदि सम्मिलित हैं। इनमें पूसा नम्बर ५१, ४, १२ और

१३ तथा कानपुर १२ और १३ उत्तर प्रदेश के बहुत से क्षेत्रों में उपयोगी सिद्ध हुए हैं। पूसा नम्बर ४ असींच खेतों के लिए अधिक महत्वपूर्ण है।

खेत की तैयारी—गेहूँ के खेत तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम, तो वे खेत जो खरीफ में पलिहर रख कर रबी में बोये जायँ। दूसरे, जो सनई बोने के बाद रबी के लिए तैयार किये जायँ और तीसरे, जो खरीफ की फसल लेकर गेहूँ के लिए तैयार किये जाते हैं। पलिहर खेत की जुताई गर्मी से ही प्रारम्भ कर देते हैं। इससे वह अधिक धूप खा लेती है और उसमें पानी सोखने और ग्रहण करने दोनों की शक्ति बढ़ जाती है। वर्षा ऋतु में भी अवसर पाकर इन खेतों की जुताई कर देते हैं। वर्षा के बाद ऐसे खेतों की गहरी जुताई शुरू करते हैं। यह जुताई देशी हल से की जाती है और मिट्टी खूब अच्छी तरह भुरभुरी की जाती है। ५-६ जुताई करने से मिट्टी काफी पोली हो जाती है। इसमें समय-समय पर पाटे की भी सहायता ली जाती है। गोरखपुर के जिले में तो कृषकगण गेहूँ बोने योग्य भूमि की तैयारी की पहचान करने के लिए पानी से भरे घड़े का प्रयोग करते हैं। यह घड़ा जब जुती भूमि में फूट जाता है तो खेत की पूर्ण तैयारी नहीं मानी जाती। जब नहीं फूटता है तभी बोआई का कार्य प्रारम्भ करते हैं।

'हरी खाद' के प्रयोग वाले खेत में समय के अनुसार सभी कार्य करते हैं, जब यह अनुमान हो जाता है कि सनई के पौधे अब भूमि में सड़ गए हैं तो देशी हल से जुताई शुरू कर देते हैं। यह जुताई ८ से १० बार तक की जाती है।

खरीफ की फसल को काट कर मिट्टी पलटने वाले हल से भूमि की १-२ जुताई करते हैं और इसके बाद देशी हल की जुताई प्रारम्भ करते हैं। भूमि में उर्वरता लाने के लिए खाद की अच्छी मात्रा देते हैं और इसे अच्छी तरह से भूमि में मिलाते हैं। खेत की मिट्टी भुरभुरी करने के लिए पाटा का चलाना जरूरी है। इस प्रकार समय पर खेत तैयार किये जाते हैं।

खाद की मात्रा—हरी खाद दिये गए खेत में प्रायः बाहरी खाद की आवश्यकता नहीं होती है। गेहूँ की फसल के लिए ६०-८० पौं० नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है जिसे गोबर की खाद, कम्पोस्ट, खलियों अथवा फर्टिलाइजर की सहायता से दूर करते हैं।

समय—गेहूँ की फसल के बोने का समय १५ अक्टूबर से १५ नवम्बर तक माना जाता है परन्तु अक्टूबर का तीसरा-चौथा सप्ताह इसके लिए विशेष उपयोगी होता है। पहले बोई जाने वाली फसल अक्टूबर के पहले सप्ताह में बोई जा सकती है पर देर में बोई जाने वाली नवम्बर के दूसरे सप्ताह तक हो जानी चाहिए। इससे अधिक देरी ठीक नहीं जँचती और कृषि के हित में भी अहितकर होती है क्योंकि बाद में बोई फसल पर गेरुई के रोग का आक्रमण हो जाता है। पश्चिमोत्तर प्रदेश और पंजाब के कुछ भागों को छोड़कर सम्पूर्ण देश में गेहूँ की बोआई का यही समय उपयुक्त होता है।

बोआई के ढंग—गेहूँ के बोने की तीन प्रचलित विधियाँ हैं—

(१) हल के पीछे की बोआई, (Dibbling)

(२) छिटकवाँ विधि द्वारा, (Broadcasting)

(३) नाई की विधि द्वारा (Drilling)' तथा
(४) सीड ड्रिल अथवा बीज बोने की मशीन द्वारा।

इस विधि में हल के पीछे एक आदमी बीज लेकर चलता रहता है। कूंड़ बनती जाती है और वह उस कूँड़ में बीज गिराये जाता है। इस प्रकार सारा खेत बो दिया जाता है। इसमें कूँड़ खेत के किनारे से शुरू करते हैं और बीच में लाकर समाप्त कर देते हैं। इस तरीके में अधिक बीज लगता है पर देहात में यही विधि अधिकतर काम में लाई जाती है।

दूसरी विधि छिटकवाँ विधि है। इसमें सारा खेत जोत कर बीज छिटक देते हैं। इस तरह बोआई तो शीघ्र हो जाती है किन्तु बीज सभी स्थान पर बराबर नहीं पड़ता। कहीं पर अधिक और कहीं पर कम पड़ जाते हैं। बीज बोकर पाटा चला देते हैं। इससे कुछ बीज तो मिट्टी से ढँक जाते हैं पर कुछ खुले ही रह जाते हैं। खुले रहने वाले बीज नुकसान हो जाते हैं। वे या तो सूख जाते हैं या उन्हें चिड़ियाँ चुन लेती हैं। इसमें बीज अधिक लगता है। इसलिए बहुधा यह ढंग प्रयोग में नहीं लाया जाता।

तीसरी विधि में हल के पीछ एक बाँस का सीधा, खोखला टुकड़ा इस प्रकार लगाते हैं कि एक सिरा ठीक फार के पीछे रहे और दूसरा परिहथा के पास। ऊपर वाला सिरा गोलाकार ढंग से ऐसा बनाया रहता है कि उसमें बीज डालने से बाहर न गिरे बल्कि उससे होते हुए फार के पीछे वाले सिरे से कूँड़ में गिरे। यह ढंग अच्छा पड़ता है क्योंकि बीज गहराई पर और उचित परिमाण में डाला जा सकता है। यह विधि नाई की विधि कहलाती है। इस प्रकार की नाई उत्तर प्रदेश में प्रयुक्त होती है। मध्य प्रदेश और बरार में तीन कोल्टर वाले ड्रिल काम में लाये जाते हैं जिनसे एक ही साथ तीन पंक्तियों की बोआई की जाती है। बम्बई में दो कोल्टर वाले ड्रिल प्रयोग किये जाते हैं।

सीडड्रिल नामक एक मशीन द्वारा भी बोआई की जाती है। इसमें एक ही साथ ५ या ६ कतारें बोई जा सकती हैं। इसको ट्रैक्टर द्वारा चलाते हैं। इससे काम इतना शीघ्र और उचित होता है कि दिन भर में ५ या ६ एकड़ क्षेत्र की बोआई की जा सकती है। इसमें बीज की गहराई, मात्रा, आपस की दूरी सभी निश्चित रहती है।

इनके अलावे कहीं-कहीं पर खुर्पी द्वारा भी बोआई की जाती है। इस ढंग का प्रयोग वहीं करते हैं जहाँ कम क्षेत्र की बोआई करनी होती है। इसमें बीज की बहुत कम मात्रा लगती है। किन्तु समय अधिक लगता है इससे यह ढंग महँगा पड़ता है।

बीज की मात्रा—बीज की मात्रा, स्थान, बोने की विधि और खेत की नमी पर बहुत कुछ निर्भर करती है। स्थान के उर्वर रहने पर कम बीज और अनुर्वर भूमि में अधिक बीज लगता है। छिटकवाँ और हल के पीछे की बोआई में अधिक बीज लगता है पर खुर्पी द्वारा या सीडड्रिल द्वारा कम बीज लगता है। नमी की अधिकता पर बीज अधिक लगता है। बीज की अंकुरण शक्ति पर भी बीज की मात्रा निर्भर करती है। छिटकवाँ विधि में ४०-५० सेर हल के पीछे की विधि में ३०-४० सेर और नाई द्वारा बोने पर २५-३० सेर बीज की आवश्यकता होती है।

गेहूँ की सिंचाई—गेहूँ बोते समय खेत में पर्याप्त नमी का होना आवश्यक है। यदि थोड़ी-सी भी नमी की कमी हो तो बीज का अंकुरण ठीक नहीं हो पाता। अतः इसका निरीक्षण कर हल्की सिंचाई, जिसे पलेवा कहते हैं, कर देना चाहिए। दूसरी सिंचाई पौधों के पूर्णरूपेण जम जाने पर करनी चाहिए। बोने के दिन से एक माह बाद, जब कि पौधे ४"-५" के हो जायँ, पानी देना चाहिए। यह फसल की पहली सिंचाई कहलाती है। पौधे जब १ फुट या १॥ फीट के हो जायँ और जाड़े की वर्षा न हो तो सिंचाई करना जरूरी है। फिर जब पौधे में बालियाँ आनी शुरू हो जायँ तो एक हल्की-सी सिंचाई कर देना चाहिए। इससे दाने अधिक मजबूत और मोटे होते हैं। महावट की अवस्था में सिंचाई में कमी की जा सकती है। फसल की पानी की आवश्यकता बराबर देखते रहना चाहिए क्योंकि जरा-सा भी समय का इधर-उधर होना अच्छी फसल को चौपट कर सकता है। पानी की कमी और अधिकता दोनों ही गेहूँ के हक में ठीक नहीं होते।

निकाई और गुड़ाई—गेहूँ के खेत में निकाई तथा गुड़ाई दोनों क्रियाएँ आवश्यक हैं। कतार में बोई गई फसल में हैरो सरलतापूर्वक चलाया जा सकता है। यह फसल की निकाई और एक हल्की गुड़ाई कर देता है। प्रयोक द्वारा देखा गया है कि खुर्पी की सहायता से की गई निराई और गुड़ाई पौधे के लिए हितकर सिद्ध होती है। इससे पौधों की जड़ों का अधिक प्रसार हो पाता है।

कटाई—पौधे में जब बालियाँ आ जाती हैं और बीज पड़ जाता है तो पछुवा हवा बहना शुरू हो जाती है। पछुवा हवा फसल को शीघ्र पकने में सहायता देती है। फसल की कटाई १५ मार्च से शुरू होकर अप्रैल के प्रथम सप्ताह तक समाप्त हो जाती है। उत्तर प्रदेश में कटाई का समय १५ मार्च से १५ अप्रैल तक उपयुक्त होता है। किन्तु मध्य प्रदेश में यह क्रिया मार्च में ही समाप्त हो जाती है। पंजाब में गेहूँ १५ अप्रैल से कटना प्रारम्भ होकर मई तक कटता है। जब तक पौधे बिल्कुल सूख न जायँ और दाने पक न जायँ तब तक फसल न काटना चाहिए। किन्तु साथ ही समय पर फसल की कटाई न होने से बालियाँ खेत में झड़ना प्रारम्भ कर देती हैं। देहातों में कटाई की प्रचलित रीति हँसिया द्वारा है परन्तु इससे खर्च और समय दोनों ही अधिक पड़ते हैं। कटाई की मशीन द्वारा काम शीघ्र होता है और सस्ता भी पड़ता है। काटने के बाद फसल का बोझ बनाकर खलिहानों में जमा कर देते हैं।

मड़ाई—कटाई के बाद मड़ाई की क्रिया शुरू होती है। खलिहानों में रखी फसल को इस हिसाब से रखना चाहिए कि वह अधिक से अधिक धूप ले सके। इससे लाभ यह होता है कि डण्ठल खूब सूख जाते हैं और बालियाँ भी टूटने योग्य हो जाती हैं। डण्ठलों की मड़ाई करने के ६ या ७ दिन पहले खलिहान में बिखेर देना चाहिए। बिखेर देने पर डण्ठलों के समूह को लाँक कहते हैं। लाँक गोलाई में होती है। इसी पर बैलों या मड़ाई करने की मशीन चलाते हैं। इस प्रकार डण्ठल भूसे में बदल जाते हैं। इस क्रिया में लाँक को दो-तीन बार ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर की ओर उलटते हैं ताकि सभी अंश भूसा

हो जाय। जब सारी लाँक कट कर भूसे के रूप में आ जाय तो उसे एक ओर बटोर कर इकठ्ठा कर देते हैं।

ओसाई—भूसे और बीज अलग-अलग करने की क्रिया को ओसाई कहते हैं। इसमें कृषगण हवा के सहारे सफाई करते हैं पर इससे बहुधा अधिक समय और खर्च पड़ जाता है। पूर्वी हवा में ओसाई करने पर तो बीज में व्याधियाँ लग जाया करती हैं। इसमें ऐसा देखा जाता है कि हवा के समुचित बहाव न होने पर कटी हुई लाँक बरसात के शुरू तक वैसे ही पड़ी रहती है। इससे पानी बरसने पर भूसे और अन्न दोनों की हानि होती है। जोरों की हवा में भी ओसाई करने पर बहुत-सा भूसा उड़कर बेकार हो जाता है। इन सब बातों से रक्षा के लिए उसाई की मशीन का प्रयोग करना चाहिए। इससे कम समय और कम खर्च में ही अच्छी ओसाई की जा सकती है।

उपज—गेहूँ की उपज साधारणतया २०-२५ मन प्रति एकड़ होती है परन्तु वैज्ञानिक ढंग से ३०-४० मन प्रति एकड़ उपज ली जाती है। कुछ स्थान तो ऐसे हैं जहाँ प्रति एकड़ ९-१० मन गेहूँ की उपज होती है। गेहूँ का भूसा दाने से दूने अनुपात में पाया जाता है।

गेहूँ के रोग और कीड़े—गेहूँ की फसल का भयंकर रोग हरद या गिरवी अथवा गेरू है। यह पौधों के पत्ते, डण्ठल आदि पर दाग छोड़ता है और इससे दाने पतले और चिपटे हो जाते हैं। दूसरा रोग कायमा है, जिससे बालियों में दाने के स्थान पर काला बुरादा भर जाता है। बँटा भी एक रोग है जो दानों के भीतर वाले पदार्थ को काला और बदबूदार बना देता है। दीमक, घुन आदि फसल और दानों में लगने वाले कीड़े हैं। एक प्रकार का और कीड़ा गेहूँ के पौधे में पाया जाता है जो डण्ठल को काट देता है।

बीज रखने का ढंग—गेहूँ का बीज सुरक्षित रखने के लिए उसे ऐसे स्थान पर रखा जाता है जहाँ नुकसान न हो सके। पहले तो उसे धूप में अच्छी तरह सुखाते हैं। सूख जाने पर उसे बोरों या अन्य बरतनों में भर कर सिलते हैं। यदि इन बरतनों में नेप्थलीन की गोलियाँ छोड़ दी जायँ तो कीड़ों के निकट जाने का भय और समाप्त हो जाता है। बीज बोरों में सिल कर बोरे साफ भूसे पर रखना शुरू करते हैं और एक पर दूसरे बोरे रखते जाते हैं। जब सब बोरे रख जायँ तो चारों ओर से भूसा रखना चाहिए ताकि बोरे अच्छी तरह ढक जायँ। यदि बीज बरतन में हैं तो उन्हें मिट्टी से बन्द करके सूखे स्थानों पर रख देना चाहिए। बीज को यदि तनिक भी नमी मिली तो उनके खराब हो जाने का भय रहता है। कहीं-कहीं पर तो बीज भूमि के अन्दर गड्ढे खोदकर रखते हैं। गड्ढे के चारों ओर से भूसा रखकर बीज बोरों में संचित कर देते हैं। फिर उस स्थान को इस प्रकार उथला बनाते हैं कि बरसात का पानी वहाँ से सीधा बह जाय। बीज को अक्टूबर के पहले नहीं खोलना चाहिए। बार-बार खोलने से भी बीज खराब हो जाते हैं।

फसल-चक्र—एक साल का—हरी खाद—गेहूँ
दो साल का—चरी—चना—पड़ती—गेहूँ
तीन साल का—हरी खाद—गन्ना—पड़ती—गेहूँ—कपास
” सनई—गेहूँ—पड़ती—गन्ना।

३—जौ (Barley)

जौ का उल्लेख आज से नहीं बल्कि बहुत प्राचीन काल से होता आया है। वैदिक युग में भी यह फसल उगाई जाती थी। भारतवर्ष में लगभग सात करोड़ एकड़ क्षेत्र में जौ की खेती होती है। उत्तर प्रदेश के लगभग सभी जिलों में इसकी खेती होती है किन्तु यह बुलन्दशहर, अलीगढ़, इलाहाबाद और पूर्वी जिलों में अधिकता से उगाया जाता है। उत्तर-प्रदेश में पूरे देश का लगभग ६४ प्रतिशत जौ उगाया जाता है।

जलवायु और भूमि—जौ के लिए लगभग वैसी ही आवहवा की आवश्यकता होती है जैसी गेहूँ के लिए। हल्की दोमट भूमि में जौ की खेती बहुत अच्छी होती है पर अन्य भूमियों में भी यह उगाई जा सकती है।

खेत की तैयारी—जौ रबी की फसल है पर इसकी तैयारी गेहूँ की भाँति नहीं होती। खरीफ की फसल काटकर खेत को मिट्टी पलटने वाले हल से जोत देते हैं। इसके पश्चात् देशी हल से ६-७ जुताई करते हैं। मिट्टी भुरभुरी बनाने के लिए बीच-बीच में पाटा देना चाहिए। जब खेत की मिट्टी बिल्कुल भुरभुरी और बारीक हो जाती है तो बोआई शुरू कर देते हैं। बोआई करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि खेत में पर्याप्त नमी है या नहीं। यदि नमी की कमी हो तो पलेवा करके भूमि नम कर लेना चाहिए। खेत की मिट्टी उर्वर बनाने के लिए खाद का प्रयोग आवश्यक होता है। कम्पोस्ट या गोबर की सड़ी खाद १०० मन प्रति एकड़ के हिसाब से छोड़ना चाहिए। हरी खाद का भी प्रयोग किया जाता है क्योंकि उसके सड़ने का पर्याप्त समय मिलता है। खाद को मिट्टी में अच्छी तरह मिलाकर खेत को बोने के लिए तैयार कर देते हैं।

बोने का समय—जौ की बोआई १५ अक्टूबर से १५ नवम्बर तक होती है। इसे अधिकतर मिलवाँ के रूप में ही बोते हैं। गेहूँ, चना और मटर के साथ इसका मिश्रण किया जाता है। नम स्थानों या नदी-तालाबों के किनारे भी यह बोई जाती है।

जौ के बीज की मात्रा—गेहूँ की बोआई की भाँति इसमें भी कई विधियाँ प्रयोग की जाती हैं। बीज की मात्रा बोआई की विधियों पर निर्भर करती है। साधारणतया ३०-५० सेर प्रति एकड़ बीज पड़ता है।

बीज की किस्में—बालों में बीज की कतारों के हिसाब से जौ की दो किस्में होती हैं। पहली में दानों की दो कतारें होती हैं और दूसरी में ६ कतारें। उन्नतिशील जातियों में बलिया बार्ले (Ballia Barley) मुख्य है।

सिचाई---नम स्थानों पर एक भी सिंचाई नहीं करनी पड़ती किन्तु समतल स्थानों पर सिंचाई करनी आवश्यक है। बोआई के लगभग एक मास पश्चात् पहली सिंचाई की जाती है और इसके बाद यदि पानी नहीं बरसता तो बीज लगते समय एक हल्की सिंचाई कर दी जाती है। यदि फसल दुर्बल जान पड़े तो फर्टिलाइजरों का उपयोग किया जाना चाहिए।

निकाई और गुड़ाई---फसल को कतार में बोने पर निकाई और गुड़ाई में सरलता होती है। किन्तु यदि फसल कतारों में न रहे तो उसमें निकाई गुड़ाई की क्रिया नहीं की जा सकती। कतारों की फसल में हैरो चला कर घास-पात निकाल देते हैं और मिट्टी भी कुरेद देते हैं। इससे जड़ों में कल्ले फूट पड़ते हैं।

कटाई और मड़ाई---मार्च के अंतिम सप्ताह या अप्रैल के प्रथम हफ्ते तक जौ की कटाई समाप्त होने पर पौधों को गट्ठों में बना कर खलिहानों में जमा कर देते हैं। खलिहान में गेहूँ की भाँति ही इसकी मड़ाई करते हैं और फिर ओसाई करके दाने को भूसे से पृथक् कर लिया जाता है।

रोग---जौ की फसल में हर्दा और गेरवी रोग अधिक लगते हैं।

उपज---जौ की उपज यदि अच्छी होती है तो उसमें गेहूँ की अपेक्षा दाने की अधिक मात्रा होती है। प्रति एकड़ १५-२० मन पैदावार होती है। अच्छे ढंग से खेती करने पर २०-२५ मन प्रति एकड़ तक पैदावार होती है। भूसे की मात्रा लगभग दूने की होती है।

४---चना (Gram)

चने की फसल हमारे देश की दाल वाली फसलों में बहुत महत्व रखती है। चना भारत में उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, राजस्थान आदि में अधिकता से उत्पन्न किया जाता है। उत्तर प्रदेश में बुन्देलखण्ड, इलाहाबाद आदि क्षेत्र में चने की पैदावार अधिक होती है पर थोड़ा बहुत अंश में लगभग सभी स्थानों पर यह उगाया जा सकता है। इसका पौधा १ फीट से १॥ फीट ऊँचा होता है। जड़ें झकड़ादार होती हैं। तना नर्म और हरा होता है। गाँठों से पत्तियाँ और डण्ठल निकला करते हैं। पत्तियाँ बहुत संयुक्त और घनी रूप में होती हैं। फलियाँ गोला रूप लिये हुए डण्ठलों में लटकी होती हैं। इन्हीं में चने का बीज छिपा होता है।

चने के लिए जलवायु और भूमि---प्रायः चने की खेती प्रत्येक प्रकार की जलवायु में की जा सकती है। इसके लिए वैसी ही भूमि ठीक होती है जो मटियार हो और जिसमें बड़े-बड़े ढेले निकलते हैं। इन ढेलों को बारीक करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। कड़ी और हल्की दोमट भूमि में भी इसकी खेती की जा सकती है। गीली मिट्टी में चने को बो देने पर वह सफलतापूर्वक उग आती है। तालाबों या नदियों के किनारे पानी ज्यों-ज्यों सूखता जाता है चने का बीज बोते जाते हैं।

भूमि की तैयारी---इसके लिए भूमि की कोई विशेष तैयारी नहीं करनी पड़ती।

खरीफ की शीघ्र पकने वाली फसल काटकर मिट्टी पलटने वाले हल से भूमि को एक बार जोत देते हैं और फिर देशी हल से तीन या चार जुताइयाँ करके चने बो देते हैं। यदि खेत में ढेले रह जायें तो फसल को कोई हानि नहीं होती है किन्तु बीज मिट्टी से ढँक जाना चाहिए जिससे चिड़ियाँ आक्रमण न कर सकें। कछारों की भूमि को नमी की दशा में ही इधर-उधर उलट कर चना छिटकवाँ रीति से बो देते हैं। चने की बोआई में प्रायः इसी रीति का प्रयोग करते हैं।

बीज की मात्रा—चना मिलवाँ फसल के रूप में बोते हैं। अलसी, गेहूँ, जौ सरसों और कभी-कभी मटर चने के साथ मिला कर बोते हैं। मटर की फसल पहले पकने के कारण पहले ही काटी जाती है। इस प्रकार चने के बीज की मात्रा कम हो जाती है। फिर भी १५-२० सेर प्रति एकड़ बोया जाता है। बोने के ढंग पर भी इसकी मात्रा निर्धारित होती है। बाँस वाले नाले या नाई की विधि से बोने पर बीज कम लगता है। पर छिटकवाँ या हल के पीछे की विधि में अधिक बीज लगता है। खुर्पी से बोने पर बीज एक-एक फीट की दूरी पर गिराये जाते हैं ताकि उन्हें फैलने और बढ़ने का स्थान मिल सके। इस प्रकार सबसे कम बीज इसी विधि में लगता है। मध्य प्रदेश में बीज की मात्रा २० सेर प्रति एकड़ आवश्यक होती है।

खाद—चने की फसल खाद की आवश्यकता नहीं रखती। यह तीस पौंड नाइट्रोजन चाहती है जिसे उसकी जड़ें वायु से ही खींच लेती हैं। इसकी जड़ें मूसला होती है, अतः ये भूमि में अधिक गहराई तक जाती हैं और पहले बोई गई फसल में दी गई खाद का उपयोग करती हैं।

चने की किस्में—चने के रंग के विचार से काला, पीला, लाल और सफेद चार प्रकार के चने होते हैं। सफेद चना काबुली कहलाता है। यह आकार में बड़ा होता है। पीला चना पूर्वी जिलों में पाया जाता है। इसकी उपज अधिक होती है।

उन्नतिशील जातियों में पूसा नं० ६, २५, २८ तथा ५८ हैं।

समय—चने की फसल के लिए आधा अक्टूबर आखिरी अवधि है। बोआई सितम्बर के अंतिम सप्ताह से शुरू हो जाती है। देर वाली फसलें बाद में बोई जाती हैं किन्तु साधारणतया यह रबी की फसलों में सबसे पहले बोई जाने वाली फसल है।

फसल की सिंचाई—बड़े-बड़े ढेलों में तो सिंचाई करना कठिन-सा होता है। किन्तु फसल बोने के ४०-५० दिन बाद एक सिंचाई कर देनी चाहिए किन्तु जाड़े की वर्षा हो जाने पर इसका कोई महत्व नहीं रहता। कछारों में सिंचाई बिल्कुल ही नहीं की जाती।

निकाई-गोड़ाई—वैसे चने की फसल में निकाई-गुड़ाई आवश्यक नहीं है परन्तु घास-पास की अधिक मात्रा होने पर एक बार की निकाई लाभकर होती है।

पौधों की खुटाई (Nipping)—चने के पौधों के सिरे तोड़ देने पर वे लम्बाई में बढ़ते नहीं अपितु शाखाएँ और प्रशाखाएँ पैदा करते जाते हैं। यह क्रिया खुटाई कहलाती है। इससे फसल अच्छी होती है क्योंकि फलियाँ अधिक मात्रा में आती हैं।

कटाई—चना बोया तो पहले जाता है परन्तु देर में पक कर तैयार होता है। पकने पर पत्तियाँ पीली हो जाती हैं और तने सूखने लगते हैं। फलियाँ भी पीले रंग की हो जाती हैं। इनमें बन्द बीजों का रंग हरा नहीं रह जाता। फसल के पक जाने पर हँसिया आदि से कटाई कर दी जाती है। कटाई की क्रिया मार्च-अप्रैल में की जाती है।

मड़ाई—फसल को गट्ठे बना कर खलिहानों में ला देते हैं और उन्हें यहीं सूखने देते हैं। जब पौधे बिल्कुल सूख कर कड़े हो जायें तो बैलों या मशीन की सहायता से मड़ाई कर देते हैं। इसमें डण्ठलों को भूसा बनाया जाता है और फलियों को फोड़ कर बीज बाहर किया जाता है। फिर ओसाई करके बीज और भूसे को अलग कर लेते हैं। यदि कुछ फलियाँ फिर भी बिना टूटी रह जाती हैं तो उन्हें डण्डे से पीट कर तोड़ते हैं और बीज बाहर कर देते हैं।

उपज—चने की उपज अच्छी होने पर भूसे के बराबर जाती है। साधारणतया १५-२५ मन प्रति एकड़ इसकी मात्रा प्राप्त होती है।

रोग—इस फसल का शत्रु घोंघा या सुन्डी है जो तने और फली दोनों को हानि पहुँचाता है। पाले से भी इस फसल को अधिक हानि होती है। पानी की अधिकता इसकी उपज कम कर देती है।

फसल-चक्र—एक साल का—धान—चना।
दो साल का—बाजरा—चना—पड़ती—गेहूँ।
" —गेहूँ—मक्का—चना—सनई।

५—अरहर (Arhar)

भारतवर्ष की दाल वाली फसलों में अरहर का प्रधान स्थान है। यह भारतवर्ष में लगभग १.५३ करोड़ एकड़ क्षेत्र में बोई जाती है। उत्तर प्रदेश में डेढ़ करोड़ एकड़ क्षेत्र में अरहर की कृषि की जाती है। इसके तने छप्पर बनाने, ईंधन जलाने, टोकरी बुनने आदि के काम आते हैं। पत्तियाँ भूसा का काम देती हैं, दाने की दाल बनती है और भूसी बैलों को खिलाई जाती है। इसकी जड़ मूसला होती है जो भूमि में अधिक गहराई पर जाती हैं। चने में मटर की भाँति छोटी-छोटी गाँठें होती हैं जो अपने अन्दर बैक्टीरिया रखती हैं। ये बैक्टीरिया हवा से नाइट्रोजन खींच कर अपने अन्दर संचित करती हैं।

भूमि और जलवायु—वह स्थान जहाँ बरसात का पानी इकट्ठा होता है अरहर के लिए अत्यन्त अहितकर है। इसके लिए कड़ी दोमट भूमि लाभप्रद होती है। सभी जलवायु में यह उगाई जाती है किन्तु अत्यधिक पानी और सर्दी वाले स्थान इसके लिए हानिकर हैं। पाले का प्रभाव इस फसल पर शीघ्र पड़ता है।

खेत की तैयारी—बरसात शुरू होने पर खेत को एक बार मिट्टी पलटने वाले हल से जोत लेना चाहिए और तत्पश्चात् देशी हल से दो-तीन बार जुताई कर देते हैं।

बीच-बीच में पाटा भी लगाते हैं ताकि खेत की मिट्टी भुरभुरी हो जाय। यह खरीफ की फसल के साथ बोई जाती है परन्तु रबी की फसल के साथ काटी जाती है। इसे अकेले नहीं बोते बल्कि अन्य फसलों के साथ बोते हैं। साथ बोई जाने वाली फसलें ज्वार, बाजरा, उर्द-मूंग, मूंगफली आदि हैं।

बोआई––अरहर की बोआई खुर्पी द्वारा करने पर सुविधा पड़ती है। कूँड़ों में भी इसकी बोआई की जा सकती है। ये कूँड़ें फसल में अकेले बोने पर ३-३ फीट की दूरी पर बनती हैं और मिलवाँ रूप में बोने पर ८-१० फीट की दूरी तक बनाई जाती हैं। पौधों से पौधों की दूरी १½'-१½' तक होती है। इससे पौधों के बढ़ने और फैलने का स्थान मिल जाता है। कतारों के बीच मूँगफली की ५-६ कतारें बोई जा सकती हैं, उर्द-मूँग तो छिटकवाँ रूप में बो दी जाती हैं। ज्वार-बाजरे की ३-४ कतारें होनी चाहिए।

समय और बीज की मात्रा––इसकी बोआई खरीफ की फसलों के साथ ही की जाती है अर्थात् जून के अंतिम सप्ताह से जुलाई के मध्य तक इसकी बोआई हो जानी चाहिए। प्रति एकड़ अरहर के बीज की मात्रा मिलवाँ होने पर ४-५ पौंड तक लगती है। शीघ्र कटने वाली जाति में बीज २० पौंड और देर में कटने वाली जाति में १२-१५ पौंड आवश्यक होता है।

जातियाँ––तोर या तूरे. अरहर या अरहेरा तथा आहनी अरहर तीन देशी जातियाँ हैं। प्रगतिशील में शीघ्र पकने वाली और देर में पकने वाली दो जातियाँ हैं। शीघ्र पकने वाली जातियाँ टाइप ३, १३२ और १६१ हैं पर देर में पकने वाली जातियाँ टा० २३, ५१ और ६६ हैं।

निकाई-गुड़ाई––इस फसल में खुर्पी की एक बार की निकाई अच्छी होती है। यह निकाई अक्टूबर के अन्त में या नवम्बर के प्रारम्भ में होना चाहिए। यदि एक बार कल्टिवेटर द्वारा गुड़ाई कर दी जाय तो फसल के हित में लाभकर होता है।

सिंचाई––शीघ्र पकने वाली जातियों में सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती किन्तु देर में पकने वाली फसल को जातियों में पाले से रक्षा के लिए दिसम्बर के अंतिम सप्ताह में एक सिंचाई कर दी जाती है। वैसे अरहर के लिए सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं है।

कटाई––अगहनी जाति वाली फसल अगहन के ही महीने में कट जाती है किन्तु देर में पकने वाली १५ मार्च से अप्रैल के प्रथम सप्ताह तक कट जाती है। इसकी कटाई तेज हथियार से की जाती है क्योंकि इसके तने मोटे होते हैं। जब फलियाँ पक जायँ तभी कटाई करनी चाहिए। किन्तु देर में काटने से फलियों के चटक कर भूमि में बिखरने का भय रहता है।

मड़ाई––अरहर की मड़ाई करते समय बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है। एक बार उसे डण्डे की सहायता से पीट कर फलियों और पत्तियों को अलग कर लेते हैं। इसमें इस बात पर ध्यान देना होता है कि फलियों और पत्तियों के बीच टहनी या डण्ठल न टूट कर चले जायँ क्योंकि इससे भूसा ठीक नहीं हो पाता। जब

फलियाँ अलग कर ली जायँ तो उन्हें बैलों से कुचलवा कर तोड़ते हैं अथवा डण्डे से कुचल डालते हैं। जब सब फलियाँ टूट जायँ तो ओसाई करके बीज साफ कर लेना चाहिए।

उपज—मिलवाँ फसल की उपज १२-१५ मन प्रति एकड़ होती है। अकेले बोने पर देर में पकने वाली जातियाँ २५-३० मन की उपज देती हैं जब कि शीघ्र पकने वाली १५-२० मन प्रति एकड़ ही होती हैं।

फसल-चक्र—दो साल का—अरहर—गेहूँ। इस फसल को कपास, ज्वार, बाजरा आदि से ही हेर-फेर करना चाहिए।

६—मटर (Pea)

दाल वाली फसलों में मटर भी आता है। इसका प्रयोग दाल और तरकारियों में होता है। मटर के बीज की दाल दलकर बनायी जाती है और हरा मटर जो फलियों में रहता है, तरकारियों में काम आता है। यह कच्ची फलियों से निकाला जाता है। मटर के पौधे का प्रयोग हरी खाद में भी होता है क्योंकि यह मुलायम और अधिक पत्तियों वाला पौधा है। मटर की खेती उत्तर प्रदेश में अधिक परिमाण में होती है। बम्बई, पंजाब, उड़ीसा, बिहार और मध्य प्रदेश में भी इसकी खेती होती है।

भूमि और जलवायु—साधारणतया मटर की फसल हल्की दोमट भूमि में अच्छी होती है। किन्तु यह सभी प्रकार की भूमि में उगाया जा सकता है। मटर रबी की फसल है जो न अधिक गर्मी सहन कर सकती है और न अधिक सर्दी। पाले का इसे बहुत भय रहता है।

खेत की तैयारी—मटर की फसल के लिए साधारण तैयारी की जाती है। खरीफ की फसल काट कर मिट्टी पलटने वाले हल से एक जुताई कर देते हैं। तत्पश्चात् देशी हल से ४ या ५ जुताई करते हैं। बीच-बीच में खेत की मिट्टी भुरभुरी करने के लिए पाटा चला दिया करते हैं। हरी खाद के स्थान पर यदि इसका प्रयोग करना होता है तब तो बहुत पहले ही खेत को खाली करके इसकी बोआई कर देते हैं और समय पर फसल की पल्टाई कर देते हैं।

बोआई और बीज की मात्रा—खेत की तैयारी करके बीज हल के पीछे कूँड़ की विधि से बो देते हैं। कहीं-कहीं छिटकवाँ विधि से बोआई करते हैं। नम भूमि या कछारों में छिटक कर ही बीज बोते हैं। इसकी मात्रा छिटकवाँ विधि में २०-४० सेर प्रति एकड़ लगती है।

खाद—मटर की फसल को दाल वाली फसल होने के कारण कोई खाद की आवश्यकता नहीं पड़ती फिर भी गोबर या कम्पोस्ट खाद डाल देना श्रेयस्कर होता है।

समय—इस फसल की बोआई १५ अक्टूबर से नवम्बर के प्रारम्भ तक कर देते हैं। इससे अधिक देर करना ठीक नहीं होता।

सिंचाई—जब पौधे ३"-४" के हो जायँ तो पहली सिंचाई कर देनी चाहिए। फिर जनवरी के अंतिम सप्ताह में यदि वर्षा नहीं हुई तो एक और सिंचाई कर देनी चाहिए जब कि फसल में फूल आते हों। वर्षा हो जाने पर एक ही सिंचाई काफी होती है।

निकाई-गुड़ाई—यदि घास-पतवार अधिक हो तो एक बार खुर्पी की सहायता से निकाई कर देनी चाहिए। गुड़ाई की कोई आवश्यकता नहीं होती।

कटाई-मड़ाई—मार्च के प्रारम्भ में ही फसल कटनी शुरू हो जाती है और आधे मार्च तक कट जाती है। इसे गट्ठों में बनाकर खलिहानों में जमा कर देते हैं। खलिहानों में गट्ठों को खोलकर फैला देते हैं ताकि पौधे सूख सकें। जब ये भली-भाँति सूख जायँ तो बैलों की सहायता से दवाँई करने वाली मशीन से मड़ाई कर देते हैं। फिर ओसाई कर बीज को भूसे से अलग कर लेते हैं।

उपज—मटर की उपज प्रति एकड़ १५ से २० मन होती है। इसका भूसा जानवरों के लिए बहुत स्वादिष्ट होता है।

फसल-चक्र—एक साल का—चरी—मटर
दो साल का—गन्ना—पलिहर—मटर

७—कपास (Cotton)

कपास की खेती हमारे देश में आज से नहीं बहुत प्राचीन काल से होती आ रही है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है। भारतवर्ष में, बम्बई, अहमदाबाद, पंजाब, सिन्ध, मद्रास, मध्य प्रदेश, सौराष्ट्र तथा उत्तर प्रदेश में इसकी खेती होती है। उत्तर प्रदेश में भारत की सम्पूर्ण कपास की उपज का एक प्रतिशत ही पैदा होता है। अलीगढ़ हमारे प्रान्त का सबसे अधिक कपास उगाने वाला जिला है। मेरठ, बुलन्दशहर, मथुरा, एटा, सहारनपुर, आगरा आदि में पूर्वी जिलों की अपेक्षा अधिक कपास उत्पन्न होता है। पूर्वी जिलों की जलवायु इसके लिए ठीक नहीं होती। नमी अधिक होने से पौधे से गूलर ठीक नहीं उत्पन्न हो पाती।

जातियाँ—कपास की देशी और अमेरिकन दो जातियां प्रचलित हैं। अमेरिकन जाति की कपास के रेशे देशी कपास के रेशे से लम्बे और बारीक होते हैं। अमेरिकन की उपज भी अधिक होती है। कानपुर ५२० और ३५/१ उन्नतिशील जातियाँ हैं।

भूमि और जलवायु—कपास के लिए काली मिट्टी अधिक उपयुक्त होती है। दोमट भूमि में भी यह सफलतापूर्वक उगाई जा सकती है। अधिकतर वही भूमि कपास के लिए ठीक होती है जो ढालवाँ तथा ऊँची हो और जहाँ बरसात का पानी न रुकता हो। यह फसल मानसून के दिनों में प्रति सप्ताह वर्षा चाहती है किन्तु उस स्थान की औसत वार्षिक वर्षा ३०" से अधिक नहीं होना चाहिए।

खेत की तैयारी—रबी की फसल के काटने के बाद यदि खेत में नमी हो तो मिट्टी पलटने वाले हल से उसी समय जुताई कर देनी चाहिए। नमी की अनुपस्थिति

में हल्की सिंचाई कर खेत जोत देना चाहिए। जोतने के बाद खेत में गोबर और कम्पोस्ट की सड़ी खाद अच्छी तरह मिलाते हैं। मिलाने में देशी हल का प्रयोग करते हैं। देशी हल की तीन-चार जुताइयाँ करने पर खाद मिल जाती है और मिट्टी भी महीन हो जाती है। मिट्टी को अधिक भुरभुरी बनाने के लिए पाटा का देना आवश्यक होता है। इस प्रकार खेत बोआई के लिए तैयार हो जाता है किन्तु बोआई करते समय यदि भूमि में नमी का अभाव हो तो पलेवा कर लेना चाहिए। खेत की भूमि को उर्वर बनाने के लिए भूमि में कभी-कभी खाद भी मिलाई जाती है परन्तु प्रायः पूर्व फसल की ही खाद इसके लिए पर्याप्त होती है। यदि आवश्यकता हो तो गोबर की खाद ५०-६० मन प्रति एकड़ के हिसाब से छोड़ देना चाहिए। इस फसल को प्रति एकड़ ३० पौं० नाइट्रोजन काफी होती है।

बीज की बोआई और उसकी मात्रा—बोआई करने के पूर्व बीज को अच्छी तरह धूप में सुखा कर पानी में भिगो देना चाहिए और उसके बाद गोबर और राख से मल कर बीज के रेशे निकाल देना चाहिए। ऐसा करने से बीज बोते समय अलग-अलग हो जाते हैं, एक ही जगह नहीं पड़ने पाते। देशी कपास दो फीट के अन्तर पर बोना चाहिए पर अमेरिकन जाति २½ फीट की दूरी चाहती है। कपास का बीज प्रति एकड़ ५-१० सेर लगता है।

समय—अमेरिकन कपास मई के अन्त तक बो जानी चाहिए पर देशी १५ जून तक भी बोई जा सकती है। बहुत से लोग उसे वर्षा प्रारम्भ होने पर बोते हैं पर इससे उपज अधिक नहीं होती। अतः जहाँ सिंचाई की सुविधा हो वहाँ सिंचाई करके बोआई कर देनी चाहिए।

फसल की सिंचाई—यदि फसल वर्षा के शुरू होने पर की जाती है तब तो सिंचाई नहीं करनी पड़ती किन्तु वर्षा के पहले ही बोई गई फसल को एक-आध सिंचाई की आवश्यकता होती है। यह सिंचाई पौधों की दशा समझ कर करनी चाहिए।

निकाई-गुड़ाई—फसल को निकाई-गुड़ाई की नितान्त आवश्यकता होती है। पहली निकाई में घने पौधे उखाड़ कर फेंक देते हैं और पौधों से पौधों की दूरी ठीक करते हैं। फसल में उगी घास-पातें भी उखाड़ कर फेंक देते हैं। गुड़ाई की क्रिया दो या तीन बार करनी चाहिए। इस क्रिया में हैरो, कल्टिवेटर या खुर्पा प्रयुक्त की जा सकती हैं। पंक्तियों में बोई गई फसल की गुड़ाई हैरो, कल्टिवेटर या हो से सरलता-पूर्वक की जा सकती है पर छिटकवाँ बोई गई फसल में खुर्पा ही काम दे सकती है।

फसल की खोंटाई—यदि पौधों के सिरों की नोंकें तोड़ दी जायँ तो चने की भाँति इसमें भी बहुत-सी डालें और डण्ठलें निकल आयेंगी जो उपज में अभिवृद्धि कर सकती हैं।

चुनाई—(Picking)—कपास के पौधे से रूई बटोरने की क्रिया चुनाई कहलाती है। यह क्रिया सितम्बर के अंतिम हफ्ते से प्रारम्भ होकर नवम्बर के आरम्भ तक की जाती है। ६ या ७ दिन के अन्तर पर चुनाई करनी चाहिए। एक फसल में

लगभग सात चुनाई होती है। यह कार्य बहुधा स्त्रियाँ करती हैं जो खराब और अच्छी रूई को एक ही में मिला देती हैं। उन्हें चुनाई करने के पूर्व ये सावधानियाँ बतला देनी चाहिए।

ओटाई--रेशे को बीज या बिनौले से अलग करने की क्रिया ओटाई कहलाती है।

उपज--अमेरिकन जातियों की उपज देशी जाति से अधिक होती है। देशी जातियाँ ५-६ मन उपज देती हैं जब कि अमेरिकन ९-१० मन प्रति एकड़ पैदा की जाती है।

बीमारियाँ और कीड़े--कपास में दो प्रकार का बीमारियाँ हो जाती हैं। सूखी और तिड़का। सूखी में फसल के पौधे सूख जाते हैं और तिड़का में पत्तियाँ लाल रंग की हो जाती हैं। इन्हें उखाड़कर फेंक देना चाहिए। तना छिद्रक नामक एक कीड़ा होता है जो कपास के तनों में छेद कर देता है। इससे हानि होती है। इसके अतिरिक्त अन्य कीड़े भी पौधों को नुकसान पहुँचाते हैं।

फसल चक्र--एक साल का--कपास--ज्वार
दो साल का--मक्का--गेहूँ--कपास
" --धान परती--कपास

८--मक्का (Maize)

मक्का की फसल हमारे देश में अमेरिका से आई। यह फसल अमेरिका में पशुओं के लिए उगाई जाती है किन्तु आजकल तो यह भारत की निर्धन जनता का मुख्य आहार बना है। भारतवर्ष में बिहार, पंजाब और उत्तर प्रदेश में इसकी अधिक खेती की जाती है। उत्तर प्रदेश में फैजाबाद, मेरठ, आगरा, जौनपुर और बहराइच में मक्का अधिक उगाया जाता है। इसके पौधे ५ फीट से ७ फीट ऊँचे होते हैं। जड़ें झकड़ा होती हैं और जमीन के ऊपर से भी दिखाई देती हैं। तने पतले और लम्बे आकार के होते हैं। पत्तियाँ कम चौड़ी और लम्बी होती हैं। सिरे पर नर फूल आता है। तने के बिचले भाग में मादा फूल लगता है।

भूमि और जलवायु--मक्का के लिए दोमट और मटियार भूमि अच्छी होती हैं। अधिकतर वह उसी मिट्टी में सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है जहाँ बरसात का पानी टिकता न हो, निकल जाता हो पर भूमि में जीवांशों की प्रचुरता हो। वर्षा होने वाले क्षेत्रों में ही मक्का की उपज सम्भव है। ३०"-४०" की औसत वर्षा होने वाले स्थान पर यह सरलतापूर्वक पैदा किया जाता है।

खेत की तैयारी--मक्का की फसल, भुट्टे, चारे तथा दाने के लिए उगाई जाती है। भुट्टे और चारे की फसल बोने के लिए रबी की फसल काटने के बाद खेत को मिट्टी पलटने वाले हल से एक बार जोत लेना चाहिए। फिर पलेवा करके भूमि नम करते हैं और देशी हल से तीन-चार जुताई करके उसे बोने के लिए तैयार कर देते हैं।

इस फसल को मई के अन्त या जून के प्रारम्भ तक बो देना ठीक होता है। दाने वाला मक्का बरसात के प्रारम्भ होने पर ही बोया जाता है। अतः इसकी तैयारी, रबी की फसल काट कर मिट्टी उलटने वाले हल से एक बार जोत कर शुरू कर देते हैं। गर्मी भर इसे वैसे ही छोड़ देते हैं। बरसात प्रारम्भ होने पर देशी हल से ४-५ जुताइयाँ करके खेत को तैयार कर देते हैं। मिट्टी भुरभुरी बनाने के लिए पाटे का भी प्रयोग करते हैं।

खाद का प्रयोग—यह अधिक नाइट्रोजन चाहने वाली फसल है। यह ८० पौं० से १०० पौं० प्रति एकड़ नाइट्रोजन चाहती है। इस तत्व की पूर्ति के लिए भूमि में खाद देनी चाहिए। गोबर की खाद २००-२५० मन प्रति एकड़ काफी होती है। यदि खाद खड़ी फसल में डाली जाती है तब तो यह अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकती परन्तु पहली जुताई के साथ अच्छी तरह मिलाई खाद उपयुक्त होती है। वैज्ञानिक खादें खड़ी फसल में डाली जा सकती हैं क्योंकि इनसे तत्काल लाभ पहुँचता है। अमोनियम सल्फेट या अण्डी की खली इस फसल पर अच्छा प्रभाव दिखाती है।

बोआई और बीज की मात्रा—चारे के लिए मक्का की छिटकवाँ बोआई करते हैं। इसमें १२-२० सेर मक्का का बीज प्रति एकड़ लगता है। भुट्टे और दाने वाली फसलें हल के पीछे कूँड़ों में बोते हैं। इसमें ५-७ सेर प्रति एकड़ बीज की मात्रा लगती है। बीज की मात्रा उसके आकार पर भी निर्भर करती है। यदि बीज छोटे आकार का है तो अपेक्षाकृत अधिक लगता है। भुट्टे वाला मक्का दाने वाले की अपेक्षा दूर-दूर बोना चाहिए। साधारणतया पौधों से पौधों की दूरी ९" और पंक्ति से पंक्ति की दूरी १८" होनी चाहिए।

सिंचाई—बरसात के प्रारम्भ होने पर बोई गई फसल को सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती किन्तु मई के माह की बोई फसल को पलेवा देकर बोया जाता है और वर्षा शुरू होने तक दो सिंचाई भी कर दी जाती है।

निकाई-गुड़ाई—चारे वाली फसल के लिए निकाई-गुड़ाई की कोई आवश्यकता नहीं होती किन्तु दानों और भुट्टे वाली फसल में २ या ३ निकाई गुड़ाई करनी होती है। पहली निकाई फसल की बोआई के २०-२५ दिन बाद करनी चाहिए। यह खुर्पी की सहायता से की जाय तो अच्छा हो क्योंकि घास-पतवार साफ हो जावेंगे और घने पौधों को भी दूर कर दिया जा सकता है। पौधों की दूरी १ फीट कर देनी चाहिए। दूसरी निकाई-गुड़ाई पौधों के १½-२ फी० ऊँचे हो जाने पर करनी चाहिए। यह कुदाली से ही की जाती है किन्तु हैंड हो का प्रयोग यहाँ सफलता से किया जाता है। कभी-कभी यह गुड़ाई देशी हल से भी करते हैं किन्तु इससे अधिक पौधे टूट जाया करते हैं। देशी हल के स्थान पर बैलों से खींचा जाने वाला हो काम में लाना चाहिए। तीसरी निकाई-गुड़ाई पौधों के ३ फीट की ऊँचाई के होने पर करनी चाहिए। यह कुदाली से ही ठीक पड़ती है। बराबर निकाई-गुड़ाई करने से खेत में घास-पतवार नहीं उगने पाते और भूमि भी खुली तथा भुरभुरी रहती है। कभी-कभी लोग मक्के के खेत में ककड़ी बो देते हैं जो अच्छी उपज देती है पर निकाई-गुड़ाई में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है।

मिट्टी चढ़ाना—मक्के की फसल को वायु के झोंकों से गिरने से बचाने के लिए जड़ों पर मिट्टी चढ़ाते हैं। इससे पौधे गिरने नहीं पाते। पौधों के गिर जाने पर शृगालों आदि को फसल को हानि पहुँचाने में सुविधा पड़ती है। चारे वाली फसल में मिट्टी चढ़ाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

फसल की रखवाली—फसल में जब से फूल आ जाते हैं और भुट्टे में दाने पड़ जाते हैं तब से देखभाल करनी जरूरी हो जाता है। यह देखभाल फसल के कटने पर ही समाप्त होती है। दिन में कौवा, तोते और अनेक प्रकार की चिड़ियाँ और रात में शृगाल, साही, सूअर आदि आक्रमण करते हैं। मनुष्य तो दिन और रात दोनों समय तोड़ सकता है। अतः २४ घंटे इसकी रखवाली करनी पड़ती है। इस फसल में सबसे जरूरी काम रखवाली करना ही होता है। लोग छप्पर डाल कर मचान बनाते हैं जहाँ से सारे खेत देख सकें। रात में टीन के टुकड़े या कनस्टर बजा कर गीदड़ों को भगाते हैं।

कटाई-मड़ाई—चारे की फसल को ४-५ फीट के हो जाने पर काट-काट कर पशुओं को खिलाना शुरू कर देते हैं परन्तु भुट्टे वाली फसल अगस्त के प्रारम्भिक सप्ताह में तैयार हो जाती है। उसमें बीज पड़ जाते हैं और उन बीजों की स्थिति खाने योग्य हो जाती है तो उन्हें तोड़ कर बाजार में बेच देते हैं। दानों के लिए बोई गई फसल सितम्बर तक पक कर तैयार हो जाती है। पक जाने पर भुट्टे तोड़ लिये जाते हैं और उन्हें धूप में सुखाकर डण्डे से पीट कर बीज छुड़ा लेते हैं। भुट्टे-रहित पौधे काट कर गट्ठों में बना लेते हैं और उसे एक स्थान पर इकट्ठा कर देते हैं। ये जानवरों को खिलाने के काम में आते हैं। इन्हें चारे काटने वाली मशीन द्वारा काट कर साइलेज❀ (Silage) के रूप में रख देते हैं अथवा खड़े पौधों को ही इस हिसाब से रख देते हैं कि वे सड़ने न पावें। इसके लिए जमीन से थोड़ी ऊँचाई पर बाँस की सहायता से मचान तैयार कर लेते हैं और उसी पर मक्के के गट्ठे रख देते हैं।

उपज—दाना २०-२५ मन प्रति एकड़ उत्पन्न होता है। भुट्टे १५,००० से १७,००० तक एक एकड़ में पैदा किये जा सकते हैं। चरी वाला मक्का एक एकड़ में २००-२२५ मन हरा चारा तैयार करता है।

कीड़ा—सुण्डी नामक एक कीड़ा तने में घुस कर पौधों को हानि पहुँचाता है।

फसल-चक्र— एक साल का—मक्का—आलू—तम्बाकू
दो साल का—मक्का—गेहूँ—पड़ती—अलसी
" " " मक्का—आलू—ज्वार—चना
" " " मक्का—आलू—तम्बाकू—कपास
एक " "सनई—मक्का—जौ
दो " "मक्का—चना—मटर—धान

❀ Silage—कुट्टी या डण्डों के संचित रूप में रखने का ढंग साइलेज कहलाता है। यह तत्काल प्रयुक्त न होकर दूसरी ऋतु में काम में लाया जाता है। इस विधि में कुट्टी खराब नहीं होने पाती।

से० हे० ९—ज्वार

हमारे देश में चरी की फसलों में ज्वार का नाम महत्वपूर्ण है। इसे सरलतापूर्वक कम ही समय तथा कम पैसे में उगाया जा सकता है। इससे दाना भी उत्पन्न किया जाता है जो निर्धन व्यक्तियों के भोजन में प्रयोग किया जाता है। किन्तु प्रायः लोग इसे चरी के लिए ही बोते हैं। भारतवर्ष में यह कम वर्षा होने वाले स्थानों में उगाया जाता है। इसकी फसल उत्तर प्रदेश में लगभग सभी स्थानों पर थोड़े-बहुत परिमाण में उगाई जाती है किन्तु झाँसी, मथुरा, कानपुर आदि क्षेत्रों में अधिक मात्रा में उगाई जाती है। पूर्वी जिलों में बलिया, गाजीपुर और आजमगढ़ में भी इसकी खेती होती है। इसका पौधा मक्के की भाँति लम्बा और पतला होता है। जड़ें झकड़ा होती हैं और भूमि को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहती हैं। पत्तियाँ लम्बी और कम चौड़ी होती हैं। पत्तियों तथा तने का रंग हरा होता है। पकने पर रंग पीला हो जाता है। इसमें मक्के की भाँति नर और मादा फूल पृथक्-पृथक् नहीं निकलते अपितु तने के सिरे पर ही फूल निकलता है जिसमें दाने एक गुच्छे के आकार में रहते हैं।

भूमि और जलवायु—भारी दोमट और मटियार भूमि इसके लिए अधिक उपयुक्त होती है। प्रायः यह उर्वर भूमि में सभी स्थानों पर उगाई जा सकती है किन्तु भूमि में पानी-निकास का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। यदि पानी खेत में रुकता है तो पैदावार नहीं की जा सकती। कम वर्षा वाले स्थान पर भी इसकी खेती की जाती है पर बुन्देलखण्ड की जलवायु इसके लिए उत्तम पाई गई है।

जातियाँ—आकार और रंग के अनुसार इसकी कई जातियाँ होती हैं। बासुमती, देवला, एक दनियाँ और दो दनियाँ, लाल, सफेद आदि अनेक जातियाँ हैं। कुछ प्रगतिशील जातियाँ भी निकाली गई हैं जैसे ८ बी, ५ टौल आदि। टाइप नं० १० ई० के० ४१०१ व ४१०५ कम वर्षा वाले क्षेत्रों के लिए हैं।

भूमि की तैयारी—इस फसल के लिए किसी विशेष प्रकार की तैयारी नहीं की जाती। गर्मी के दिनों में रबी की फसल काटकर एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से कर देते हैं और फिर दो-तीन देशी हल की जुताई काफी होती है। मिट्टी भुरभुरी करने के लिए पाटा भी फेरते हैं। भूमि यदि अनुर्वर हो तो उसमें गोबर या कम्पोस्ट की सड़ी खाद मिला देते हैं। गोबर की खाद प्रति एकड़ २०० मन से २२५ मन तक डाली जा सकती है।

बीज बोने का समय और उसकी मात्रा—चारे वाला ज्वार मई के अन्त या जून के प्रारम्भ तक बो देना चाहिए। इसका बोना सिंचाई वाले स्थान पर ही सम्भव है क्योंकि वर्षा शुरू होने के पहले ही यह बोई जाती है। दाने वाली फसल वर्षा शुरू होने पर बोई जाती है। चारे वाली फसल में बीज की मात्रा २५-३० पौंड तक पड़ती है पर दाने के लिए इससे कुछ कम मात्रा ही पर्याप्त होती है।

बोआई—चारे वाली फसल छिटकवाँ विधि से बोई जाती है क्योंकि इसमें पौधों की दूरी का कोई स्थान नहीं रहता। दाने के लिए बोआई हल के पीछे की जाती है। इसमें पौधे पंक्तियों में रहते हैं और पौधों से पौधों की दूरी १½'–२' तक रखी जाती है।

निकाई-गुड़ाई—साधारणतया फसल में निकाई-गुड़ाई की कोई आवश्यकता नहीं होती किन्तु दाने वाली फसल में, जो पंक्तियों में बोई गई रहती है, एक बार निकाई-गुड़ाई कर दी जाती है।

सिंचाई—मई के महीने में बोई गई फसल में एक या दो बार सिंचाई करनी पड़ती है पर बरसात प्रारम्भ हो जाने पर वर्षा का ही पानी पर्याप्त होता है। वर्षा प्रारम्भ होने पर बोई गई फसल में सिंचाई की कोई जरूरत नहीं होती।

रखवाली—चारे वाली फसल में कोई विशेष रखवाली की आवश्यकता नहीं होती पर दाने वाली फसल की मक्के की भाँति देखभाल की जाती है। इसके भुट्टे में जब बीज आ जाता है तो कौए और अन्य चिड़ियाँ आक्रमण करती हैं। इनसे बीज की रक्षा करनी पड़ती है।

कटाई—चारे वाली फसल बोआई के लगभग डेढ़-दो माह पश्चात् ही काट-काट कर जानवरों को खिलाना प्रारम्भ कर दी जाती है पर दाने के लिए उसे नवम्बर के अन्त में काटते हैं। पक जाने पर पहले भुट्टों को काट कर इकट्ठा कर लेते हैं। तत्पश्चात् डण्ठल को काट कर बोझ बना लेते हैं और कहीं जमा कर देते हैं।

मड़ाई—भुट्टों को खूब अच्छी तरह धूप में सुखाते हैं और उसके बाद बैलों से मड़ाई कर देते हैं। मड़ाई के बाद बीज को साफ कर लेते हैं।

उपज—हरे चारे की उपज ४००मन प्रति एकड़ तक होती है किन्तु दाना १२-२० मन तक पैदा होता है। सूखा चारा, जिसे कड़वी, करवी या कर्वी कहते हैं, १२५–१५० मन तक हो जाता है।

फसल-चक्र—प्रायः ज्वार मिलवाँ रूप में बोते हैं। अरहर के साथ इसका मिश्रण अधिक उत्तम होता है। इसे काट कर अरहर की फसल के खेत में ही छोड़ देते हैं। ज्वार की फसल के कुछ हेर-फेर इस प्रकार हैं:—

गेहूँ तीन वर्ष का—धान—मटर—ज्वार—अरहर—परती
गेहूँ दो वर्ष का —ज्वार—अरहर—परती
,, ,, ,, —चरी—चना—परती

१०—सनई या सन (Sanai)*

कृषिशास्त्र में सनई का बहुत महत्व है। यह हरी खाद में प्रायः, प्रयोग की जाती है। कभी-कभी इसके दाने तैयार किये जाते हैं और इसे रेशे निकालने के काम में भी लाया जाता है। यह बहुत शीघ्र बढ़ने वाला, फलीदार और मुसला जड़ वाला पौधा

है। जिस भूमि में इसकी फसल उगाई जाती है वह काफी उर्वर हो जाती है क्योंकि इसकी जड़ों में एक प्रकार की गाँठें होती हैं जिनमें वायु से नाइट्रोजन खींचने वाली बैक्टीरिया मौजूद रहती है। ये भूमि में नाइट्रोजन की काफी मात्रा वायु से लेकर छोड़ती हैं जो बाद वाली फसलों के लिए लाभकर होता है। इसका पौधा हरे रंग का ४ फीट से ७–८ फीट लम्बा होता है। इसमें टहनियाँ या शाखाएँ ज्यादा नहीं निकलतीं। पत्तियाँ छोटी और अधिक संख्या में रहती हैं। जड़ें मूसला होती हैं। यह लगभग सारे भारत में उगाई जाती है। उत्तर प्रदेश में भी इसकी अच्छी खेती की जाती है। यह फसल अधिकतर हरी खाद और रेशे निकालने के लिए ही बोई जाती है। दाने के लिए इसे मिलवाँ के रूप में बोते हैं। मिलवाँ रूप में इसे बहुधा अरहर के खेत में छिटक देते हैं ताकि बीज के लिए दाना उत्पन्न हो जाय।

भूमि तथा जलवायु—सनई की खेती प्रत्येक प्रकार की भूमि में की जाती है। चिकनी, मटियार, दोमट, बलुवार आदि सभी भूमि इसके लिए उपयुक्त होती है किन्तु हल्की दोमट मिट्टी अच्छी उपज देती है। चिकनी मिट्टी में उगाई गई फसल के रेशे ठीक नहीं होते। इसे ऐसी भूमि में बोना चाहिए जिसमें बरसात का पानी रुकता न हो। पानी के रुकने पर फसल सूख जाती है।

भूमि की तैयारी—इस फसल के लिए किसी विशेष प्रकार की तैयारी नहीं की जाती। हरी खाद वाली फसल मई या जून के महीने में सिंचाई करके बोते हैं। इसमें एक या दो साधारण जुताई करके बोआई करते हैं। रेशे वाली फसल वर्षा शुरू होने पर बोते हैं। अतः इसकी तैयारी फसली वर्षा होने पर ही करना प्रारम्भ करते हैं। एक या दो जुताई इसके लिए काफी होती है। भूमि में खाद नहीं मिलाई जाती क्योंकि हरी खाद का प्रयोग तो इसीलिए किया ही जाता है और रेशे वाली फसल भी भूमि को उर्वर बना देती है।

बीज बोने का समय और उसकी मात्रा—यदि पानी की सुविधा होती है तो सनई हरी खाद के लिये मई-जून के महीने में सिंचाई करके बो देते हैं। जमने पर बरसात के शुरू होने तक एक या दो सिंचाई कर दी जाती है। पानी की सुविधा न होने पर पहली वर्षा के बाद फसल की बोआई कर देते हैं। रेशे और दाने वाली फसलों को वर्षा होने पर बोते हैं। बोआई के लिए जून के अंतिम सप्ताह से लेकर जुलाई के पहले सप्ताह तक का समय उचित होता है। हरी खाद में बीज की मात्रा ४० सेर प्रति एकड़ है। रेशे वाली फसल को ३० सेर प्रति एकड़ के हिसाब से बोते हैं। बीज लेने के लिए इसे मिलवाँ के रूप में बोते हैं जिसमें इसकी मात्रा १० से १२ सेर तक होती है।

बोआई—बीज और रेशे की फसल को हल के पीछे बोते हैं ताकि ये कतारों में रहें। कतारों में रहने से इनकी आपस की दूरी ठीक की जा सकती है। बीज के लिए पंक्तियों की दूरी दो फीट और रेशे के लिए एक फुट रखी जाती है। हरी खाद वाली फसल छिटकवाँ विधि से बोते हैं। इसमें खेत में पाटा देकर बीज छिड़क देते हैं और फिर हल चला कर पाटा दे देते हैं। इसमें खेत को समतल करने पर ध्यान देना चाहिए।

निकाई-गुड़ाई—हरी खाद वाली फसल में निकाई-गुड़ाई नहीं की जाती; परन्तु रेशे वाली फसल में इसकी जरूरत होती है। कुछ घास-पातें ऐसी होती हैं जो भूमि में आकर पौधों में लिपट जाती हैं और रेशे निकालने में कठिनाई उत्पन्न करती हैं। पंक्तियों में बोई गई फसल में आसानी से निकाई की जा सकती है।

सिंचाई—वैसे तो इस फसल को वर्षा ऋतु में बोने के कारण सिंचाई नहीं करनी पड़ती परन्तु हरी खाद के लिए बोई गई उन फसलों में एक या दो सिंचाई मई-जून के माह में करनी पड़ती है जो वर्षा के पहले ही बो दी जाती हैं।

हरी खाद बनाने की विधि—जब पौधा ४-५ फीट का हो जाता है तो उसे पाटा देकर भूमि में सुला देते हैं और फिर मिट्टी पलटने वाले हल से खेत जोतकर पौधे मिट्टी से ढँक देते हैं ताकि वे भूमि के भीतर दबकर सड़ाव प्रारम्भ कर दें। १५ दिनों के बाद एक और जुताई करते हैं ताकि पौधे का ऊपर वाला भाग नीचे और नीचे वाला भाग ऊपर हो जाय। इस जुताई के लगभग दो सप्ताह बाद खेत को देशी हल से जोतना प्रारम्भ कर देते हैं क्योंकि इतने समय में खाद सड़ जाती है।

रेशे बनाने की विधि—इसमें पौधे के तने को खूब बढ़ने देते हैं ताकि रेशे मजबूत और मोटे हो जायँ। जब पौधों में फूल आने लगता है तो इसे काटना प्रारम्भ कर देते हैं। यह कटाई सितम्बर-अक्टूबर के माह में की जाती है। पौधों को काटकर गट्ठों या बोझों में बाँधते हैं। इसके तने के सिरे एक या दो फीट से काट देते हैं जिससे कोमल भाग और फूल आदि निकलकर अलग हो जाते हैं। इसे चारे के काम में लाते हैं अथवा कम्पोस्ट में प्रयोग करते हैं। शेष भाग पानी में गाड़ते हैं। पानी की गहराई ४-५ फीट से अधिक नहीं होना चाहिए। इसके लिए बड़े गड्ढे या तालाब ठीक पड़ते हैं जिनका पानी नहाने या पीने के काम में नहीं लाया जाता। ६—७ बोझों को एक साथ मिलाकर मिट्टी से दबा देते हैं जिससे वे पानी के ऊपरी धरातल पर आ सकें। ४—६ दिनों में तने सड़ जाते हैं। सड़न पर इन्हें पानी में हल्के रूप से पटक-पटक कर साफ कर लेते हैं। इससे रेशे और डण्ठल अलग-अलग दिखाई पड़ने लगते हैं। इन्हें धूप में सूखने के लिए खड़ा कर देते हैं। सूखने पर रेशे और कण्डे (डण्ठल) अलग कर लेते हैं। रेशों को फिर सुखा कर गट्ठरों में बाँध कर रख देते हैं। कण्डे बोझ में बना कर एक स्थान पर जमा कर देते हैं। इन्हें छप्पर बनाने और ईंधन के काम में प्रयोग करते हैं। रेशे का प्रयोग रस्सी बनाने, डोरी, कनवास, त्रिपाल आदि में करते हैं।

दाने निकालने वाली फसल—यह दिसम्बर के अन्त तक पक जाती है। इसके पकने की सबसे बड़ी पहचान यह है कि इसकी फलियाँ झन-झन बजने लगती हैं। पकने पर पौधों को काट कर बोझ बना लेना चाहिए। यदि फसल मिलवाँ हो तो पौधों को सावधानी से काटना चाहिए जिससे अन्य फसलों के बीज एक साथ न मिलने पावें। बोझों को खलिहान में जमा कर सूखने देना चाहिए। जब ये सूख जायँ तो डण्डे से पीट कर बीज अलग कर लेते हैं। डण्ठल ईंधन या छप्पर बाँधने के काम में लाते हैं।

उपज—साधारणतया एक एकड़ की सनई मय तने पत्तियों के २००-२५०

मन बिना सड़ी खाद बनाती हैं और सड़कर ५०-६० पौं० नाइट्रोजन तैयार करती है। रेशा एक एकड़ में ७ से १० मन तक तैयार होता है और बीज की उपज १० से १२ मन तक होती है।

फसल-चक्र—यह खरीफ की फसल है। भूमि को उर्वर बनाने के ध्येय से यह अधिकतर बोई जाती है। इसको किसी फसल के साथ हेर-फेर करके बोया जा सकता है। रबी की कोई भी फसल काट कर इसे बो सकते हैं और फिर इसके बाद जो फसल हम बोना चाहें, अपनी सुविधानुसार बो सकते हैं।

११—गन्ना (Sugar cane)

गन्ना भारतवर्ष की मुख्य फसलों में से है। यह फसल हमारे यहाँ आज से नहीं बल्कि पुरातन काल से बोई जाती है। सिकन्दर के आक्रमण के समय में भी इसका उल्लेख मिलता है। विश्व में गन्ना उगाने वाले देशों में चीन और भारत का मुख्य स्थान है। भारत में मद्रास, बंगाल, बिहार, पंजाब और बम्बई प्रदेश और उत्तर प्रदेश में इसकी खेती की जाती है। उत्तर प्रदेश में गोरखपुर, बस्ती, देवरिया, बलिया आदि पूर्वी जिलों तथा शाहजहाँपुर, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, बिजनौर, मेरठ आदि पश्चिमी जिलों में इसकी अधिक खेती की जाती है। यह लम्बा, बाँस के आकार का किन्तु बाँस से पतला और छोटा पौधा है। इसकी जड़ें झकड़ा होती हैं। तनों को सुदृढ़ बनाने के लिए इसमें जटा जड़ भी मौजूद रहती है। तना पोरदार होता है। गाँठों पर आँखें होती हैं जिन्हें भूमि में बो कर वानस्पतिक उत्पादन द्वारा पौधा तैयार किया जाता है। पत्तियाँ कम चौड़ी पर लम्बी होती हैं। सिरे का अन्त पत्तियों में होता है।

भूमि और जलवायु—इसके लिए भूमि बहुत उर्वर होनी चाहिए। मटियार-दोमट भूमि गन्ने के लिए उत्तम पड़ती है। दोमट और कछार भूमि में भी यह अच्छी उपज देती है। यदि भूमि हल्की है तो उसमें खाद इत्यादि देकर यह फसल ली जाती है। मानसूनी प्रदेश और गर्म जलवायु गन्ने की फसल के लिये अच्छी समझी जाती है किन्तु खेत में अधिक पानी के निकास का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिये। पानी जमा रहने पर फसल अच्छी नहीं होती।

गन्ने की जातियाँ—गन्ने की प्रधानतः देशी और उन्नतिशील दो जातियाँ हैं। देशी जाति में रूप, रंग, आकार कोमलता आदि के विचार से गन्ने की कई किस्में होती हैं। पौंडा नर्म और मुलायम जाति है जिसे चूसने के ही काम में लाया जाता है। चीनी या गुड़ बनाने वाली जातियाँ पतली गन्ना, मझोला, नर्म, कठोर, सरेठा, रेवड़ा, बरोखा, हराबाँस, कतारा आदि हैं। कृषि विभाग ने कई उन्नतिशील जातियाँ निकाली हैं जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पैदा की जाती हैं। ये जातियाँ शाहजहाँपुर और कोयमबटूर में निकाली गई हैं। शाहजहाँपुर ४२ और जावा ४८ अच्छी जातियाँ हैं। कोयमबटूर जातियाँ मध्यवर्ती जिलों के लिए सी० ओ० ३१३, ३८५, ५२७, ४२१ और ४५३, रूहेलखण्ड के लिए सी० ओ० ३१३, ५२७, ४२१ हैं। पूर्वी जिलों में सी० ओ० ३१३,

३८५, ४२१, व ४५३. तथा मध्य तथा पूर्वी जिलों के मध्य भाग में सी० ओ० ३१३, ३९५, ३९३, ३७०, ३५६, व ४५३ स्वीकृत की गई हैं।

भूमि की तैयारी--जिस खेत में गन्ना की फसल बोनी हो उसमें खरीफ की फसल नहीं उगानी चाहिए। रबी की फसल काटकर मिट्टी पलटने वाले हल से खेत की एक जुताई कर देनी चाहिए और गर्मी भर उसे खुले छोड़ देना चाहिए। तेज धूप से मिट्टी जलेगी और भुरभुरी होगी। शुरू बरसात में सनई बोकर हरी खाद अवश्य ही मिलानी चाहिए क्योंकि इस फसल को खाद की अधिक आवश्यकता होती है। सितम्बर के माह से देशी हल की जुताई प्रारम्भ कर देते हैं। यह जुताई ७-९ तक की जाती है। मिट्टी के ढेले फोड़ने के लिए पाटे का भी प्रयोग किया जाता है।

खाद--गन्ने की फसल के लिए उर्वर भूमि अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए हरी खाद तो छोड़ी ही जाती है, गोबर की खाद भी उत्तम सिद्ध हुई है। दीमक के आक्रमण होने पर नीम की खली का प्रयोग किया जाता है। महुआ और रेड़ी की भी खलियाँ अच्छा कार्य दिखलाती हैं। पौधे के आवश्यक तत्वों की कमी के अनुसार कृत्रिम खादें दी जाती हैं। अमोनियम सल्फेट और सोडियम नाइट्रेट बहुधा प्रयुक्त होती हैं। प्रायः दो तीन खादों को एक साथ मिलाकर देते हैं। गन्ने को नाइट्रोजन की अधिक आवश्यकता होती है। इसके लिए १०० पौं० से १५० पौं० तक नाइट्रोजन काफी होता है। खादों को भूमि में डालना ही हितकर नहीं होता बल्कि उन्हें खेत में भली-भाँति मिलाना चाहिए ताकि पौधे उन्हें उपयोग कर सकें।

बीज--गन्ने को बीज के लिए खेत में ही खड़ा छोड़ देते हैं अथवा टुकड़ों में काट कर उसे भूमि में गड्ढा खोद कर रख देते हैं। रखने में ऊपर-नीचे पत्तियाँ बिछा देते हैं और गड्ढे में नमी का ध्यान रखते हैं। बोने वाले बीज निरोग और सुदृढ़ होने चाहिए। गन्ने की आँखें बचा कर साफ कर लेना चाहिए। प्रत्येक टुकड़े में तीन आँखें होनी चाहिए। जिस टुकड़े की आँख खराब निकल जाय उसे छाँट कर अलग कर देना अच्छा होता है।

बोआई की विधि--इस फसल को बोने के लिए तीन प्रचलित विधियाँ हैं: (१) नालियों में गन्ना बोना, (२) हल के पीछे कूँड़ों में बोआई करना और पौधों पर मिट्टी न चढ़ाना तथा (३) कूँड़ों में बोआई करके मिट्टी चढ़ाना।

नालियों में गन्ने की बोआई--इस विधि में नालियाँ बना ली जाती हैं। एक नाली डेढ़ फीट से पौने दो फीट चौड़ी होती है और एक से दूसरी नाली की दूरी ३ से ३½ फीट तक रखी जाती है। बीच की मेंड़ें १½ – १¾ फीट चौड़ी होती हैं। नालियाँ ९" की गहराई तक खोदी जाती हैं। खेत में पहले रस्सियों की सहायता से कतारें बना लेनी चाहिए। कतारें १½ – १¾ फीट की दूरी पर बनाई जाती हैं। ३½ फीट में एक मेंड़ और एक नाली बनती है। मेंड़ बनाने के लिए नाली की मिट्टी ६" की गहराई तक निकाल लेते हैं और आधी मिट्टी एक ओर और आधी दूसरी ओर छोड़ते जाते हैं। इस प्रकार नालियाँ और मेंड़ें साथ-साथ बनती जाती हैं। खेत के दोनों ओर किनारे पर १०½-१०½ इंच की मेंड़ें छोड़ते हैं। इस प्रकार सारे खेत में मेंड़ और नालियाँ तैयार कर ली जाती हैं।

मेंड़ बन जाने के बाद नालियों की मिट्टी खूब गोड़ते हैं ताकि मिट्टी काफी भुरभुरी हो जाय। गोबर और कम्पोस्ट की खाद बोआई के पहिले ही खेत में डालकर अच्छी तरह मिला देना चाहिए। खाद डालने के बाद एक-दो गुड़ाई लगभग ९" की गहराई तक करना चाहिए। बोआई के समय खेत में नमी का रहना अत्यन्त आवश्यक है। गन्नों के टुकड़ों को काट-काट कर कुदाली की सहायता से ४"—६" की गहराई पर नालियों में बो देते हैं और फिर उन्हें मिट्टी से ढँक देते हैं। टुकड़े नालियों के बीच में होने चाहिए, लम्बाई में एक टुकड़ा दूसरे से मिला होता है अथवा थोड़े-से अन्तर पर बोया जाता है। नालियों की विधि दोमट या बलुई-दोमट में अच्छी होती है क्योंकि इसमें खेत की नमी अधिक दिनों तक जमी रहती है। इस विधि में सिंचाई करने में भी सुविधा रहती है। बरसात के दिनों में पौधों की जड़ों पर मिट्टी सरलतापूर्वक चढ़ाई जा सकती है।

हल के पीछे कूँड़ों में गन्ना बोना और जड़ों पर मिट्टी न चढ़ाना—कृषक यह विधि अधिकतर प्रयोग में लाते हैं क्योंकि खेत तैयार करने के पश्चात सरलता-पूर्वक बोआई की जा सकती है। रबी की फसल काट कर गर्मी की जुताई की जाती है और फिर बरसात शुरू होने पर भी खेत की जुताई करते हैं। हरी खाद के बोने पर सितम्बर-अक्टूबर से खेत जोतना शुरू कर देते हैं और १०—१२ जुताइयाँ करते हैं। यदि गोबर और कम्पोस्ट की खाद खेत में मिलानी हो तो बोआई के कुछ दिन पहले ही छोड़ कर उसे जुताई द्वारा मिट्टी में खूब मिलाते हैं। फिर पाटा देकर खेत समतल कर देते हैं। इसमें अच्छी कूँड़ें बनने के लिए हल में फाल के ऊपर एक काठ की पटरी बाँध देते हैं जो ऊपर की मिट्टी को बगल में गिराती जाती है। इसी कूँड़ में गन्ने के टुकड़े डालकर पैर से दबाते जाते हैं। टुकड़े लगभग एक-दूसरे को छूते हुए रहते हैं। एक कूँड़ दूसरी से १½ फीट की दूरी पर बनाई जाती है। बोआई समाप्त हो जाने पर पाटा देकर कूँड़ों को ढक देते हैं और भूमि समतल कर देते हैं। गन्ने के टुकड़े तीन-चार इंच की गहराई पर गिराये जाते हैं। इसमें मिट्टी नहीं चढ़ाते बल्कि पौधों को यों ही छोड़ देते हैं। इससे बरसात के दिनों में बहुधा फसल गिर जाती है जिससे नुकसान होता है। अस्तु यह विधि उत्तम नहीं मानी जाती।

हल के पीछे गन्ना बोना और जड़ों पर मिट्टी चढ़ाना—यह विधि उत्तम समझी जाती है। इसमें खेत तैयार करके ३—३½ फीट की दूरी पर रस्सियों से कतारें बना ली जाती हैं। इन्हीं पंक्तियों पर हल की कूँड़ चलाते हैं। कूँड़ों में गन्ने के टुकड़े गिरा देते हैं। बरसात के दिनों में जब मिट्टी काफी नर्म हो जाती है तो पंक्ति के इधर-उधर दोनों ओर से कुदाली की सहायता से मिट्टी खींच कर जड़ों पर जमा कर देते हैं। इससे पौधे गिरते नहीं और जड़ों को फैलने का काफी स्थान मिल पाता है। यह ढंग उन्हीं स्थानों पर प्रयुक्त होता है, जहाँ की मिट्टी चिकनी या मटियार होती है तथा नमी की काफी मात्रा मौजूद रहती है।

बोने का समय—तराई के क्षेत्र में तथा और कुछ स्थानों पर गन्ने की बोआई अक्टूबर के अन्त से प्रारम्भ हो कर नवम्बर तक हो जाती है। परन्तु उत्तर

प्रदेश में बोआई प्रायः १५ फरवरी से १५ अप्रैल तक की जाती है। नवम्बर वाली बोआई में पलेवा नहीं करना पड़ता। खेत में वर्षा की ही नमी मौजूद रहती है किन्तु फरवरी-अप्रैल की बोआई में पलेवा करना पड़ता है। फसल देर में बोना अहितकर होता है क्योंकि उसका बढ़ाव पूर्णरूपेण नहीं हो पाता। अतः बोआई समय में ही कर देना चाहिए। यदि फसल की बोआई १५ मार्च तक ही समाप्त हो जाय तो अच्छा हो।

बीज की मात्रा—गन्ना बोने की दो रीतियाँ प्रचलित हैं। पहली विधि में टुकड़ों को सिरे से सिरे मिल कर बोते हैं। दूसरी विधि में आँख मिला कर बोते हैं। यह बोआई महँगी पड़ती है। इसमें प्रति एकड़ लगभग १६००-२००० गन्ने के टुकड़े लगते हैं। तौल में मोटे गन्ने की मात्रा ६० पौं० और पतले गन्ने ४० पौं० आवश्यक होती हैते। बोने से पहले यदि टुकड़ों को तारकोल में डुबा लिया जाय तो दीमक का भय जाता रहता है।

सिंचाई—पहली सिंचाई गन्ना बोने के पहले ही की जाती है। ताकि भूमि में पर्याप्त नमी रहे। बोआई के लगभग एक माह बाद एक सिंचाई कर देनी चाहिए। यह पानी हल्के रूप में देना चाहिए। इसके बाद लगभग एक माह बाद सिंचाई करते हैं। इसमें पानी अधिक मात्रा में देते हैं। फिर तीन-चार सप्ताह बाद एक सिंचाई करनी चाहिए। गन्ने की सिंचाई स्थान की स्थित, भूमि की बनावट, पानी की सुविधा आदि पर निर्भर करती है। साधारणतया फसल में तीन या चार सिंचाई करते हैं। जहाँ वर्षा देर में प्रारम्भ होती है वहाँ ४-५ सिंचाई करनी पड़ती है पर पूर्वी जिलों में जहाँ शीघ्र ही वर्षा होने लगती है, २-३ सिंचाई काफी होती हैं। वर्षा शुरू हो जाने पर सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती। हाँ, जाड़े के दिनों में पाले से रक्षा के लिए एक हल्की सिंचाई कर देना चाहिए। नालियों में बोई गई फसल में बोआई के शीघ्र पश्चात् ही एक हल्की सिंचाई की जाती है। इन खेतों में सिंचाई में आसानी पड़ती है परन्तु अन्य दोनों विधियों में बरहे और क्यारियाँ बनाई जाती हैं।

निकाई-गुड़ाई—इस फसल में गुड़ाई को अधिक प्रधानता दी जाती है। प्रचलित कहावत है—

तीन सिंचाई तेरह गोड़,
तब देखो गन्ने का पोड़।

बोआई के लगभग १५ दिनों बाद पहली गुड़ाई करते हैं और फिर सिंचाई करने के पहले एक हल्की गुड़ाई कर देते हैं। इससे भूमि खुली हो जाती है और खेत की घासें भी समाप्त हो जाती हैं। ये सूख कर मिट्टी में खाद बन जाती हैं। प्रत्येक सिंचाई के बाद २-३ गुड़ाई कर दना चाहिए। इस प्रकार कुल गुड़ाइयाँ ६ या ७ हो जाती हैं। फसल की गुड़ाई कुदाली 'हो' और कल्टिवेटर तथा हैरो से की जाती है।

मिट्टी चढ़ाना— (Earthing)—पौधों की जड़ों पर मिट्टी चढ़ाने की क्रिया (Earthing) कहलाती है। यह गुड़ाई करते समय धीरे-धीरे मेंड़ों को काट कर इस प्रकार की जाती है कि जून के अन्त तक सारी मेंड़ कट कर नाली में आ जाय।

फिर बरसात से शुरू होने पर मेंड़ के स्थान की मिट्टी पौधों की जड़ों पर लगा देते हैं। इस प्रकार जहाँ मेंड़ रहती है, वहाँ नाली और जहाँ नाली रहती है वहाँ मेंड़ बन जाती है। हल के पीछे बोई फसल में जिस पर मिट्टी चढ़ाना हो अगल-बगल की मिट्टी खींच कर जड़ों पर ला देते हैं। इससे कतारों में ही नाली बन जाती है।

बँधाई—पौधों को गिरने से बचाने के लिए तीन-चार पौधे एक में बाँध देते हैं। इससे वे गिरने नहीं पाते और गीदड़ आदि भी हानि नहीं पहुँचा पाते।

कटाई—गन्ने की कटाई नवम्बर-दिसम्बर से प्रारम्भ हो जाती है। जिन फसलों की बोआई पहले होती है उनकी कटाई भी पहले की जाती है। बाद की फसलों को फरवरी-मार्च में काटते हैं। जब गन्ना पक जाता है तब उसे पेरने से गुड़ अधिक पड़ता है। अतः गुड़ लेने वाली फसल पकने पर काटना प्रारम्भ करते हैं। फसल के पकने की पहचान यह है कि उसका रस अधिक मीठा हो जाता है। गन्ने की कुछ जातियों में तो फूल आ जाते हैं जो गन्ने के पकने का चिन्ह है।

उपज—गन्ने की उपज ६०० से ९०० मन प्रति एकड़ होती है।

बीमारी और कीड़े—पत्तियों पर एक प्रकार की बीमारी होती है जो तनों को काला कर देती है और फसल मारी जाती है। एक और बीमारी होती है जो पौधों को सुखा देती है। सूंड़ी गन्ने के लिए हानिकर कीड़ा है। यह लाल रंग का होता है और तने में घुस कर उन्हें लाल रंग का बना देता है। एक और सफेद रंग का कीड़ा होता है जो फसल को हानि पहुँचाता है।

गुड़ या राब बनाना—फसल की कटाई एक ही दिन में नहीं की जाती। इसे धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करके काटते जाते हैं और साफ करके पेरते जाते हैं। साफ करते समय सूखी पत्तियाँ अलग और हरी पत्तियाँ अलग रखते हैं। सूखी पत्तियाँ गुड़ बनाने में जलाने के काम आती हैं और हरी पत्तियाँ चारे के लिए प्रयुक्त होती हैं। तना साफ करके बोझों में बाँधा जाता है और फिर रस निकालने के हेतु कोल्हू के पास लाया जाता है। कोल्हू को एक लम्बी मोटी लकड़ी की सहायता से बैलों द्वारा खींचते हैं। एक ओर गन्ना कोल्हू में लगाते हैं और दूसरी ओर उसका चूसा भाग, जिसे खोई कहते हैं, निकलता जाता है। गन्ने का रस निकल कर सामने की गड़ी हुई नाँद में इकठ्ठा होता है। इस इकट्ठे रस को लोहे के बड़े कड़ाहों में जमा करते हैं जो आग की चिमनी पर चढ़े रहते हैं। जब सारा रस तैयार हो जाता है तो उसे कढ़ाव में चढ़ा कर चिमनी की आग जला देते हैं। चिमनी में सूखी पत्तियाँ, खोई या अन्य प्रकार के ईंधन जलाते हैं। जब रस खौलने लगता है और उसकी मैल ऊपर आ जाती है तो यह मैल काट कर किसी बर्तन में इठ्ठा कर लेते हैं। यह मैल बड़े चाव के साथ खाते हैं। गुड़ को साफ बनाने के लिए कढ़ाव में रस डालते समय उसे कपड़े या किसी अन्य छन्ना द्वारा छान लेते हैं। इसके लिए कुछ समय उसे कपड़े या किसी अन्य छन्ना द्वारा छान लेते हैं। इसके लिए कुछ अन्य उपाय भी किये जाते हैं। भिंडी, सेमल, देवला आदि की छाल पीस कर रस में मिला देने पर मैल अधिक कटती है। अण्डी, सोडा, सज्जी आदि के

छींटे भी देकर गुड़ साफ करते हैं। जब रस पक कर लाल हो जाय और उसमें बबूले आने लगें तो चासनी पहचान कर कढ़ाव को गुड़ सहित उतार लेते हैं और लकड़ी के डण्डे से जिसे (गुरदस) कहते हैं हिलाते हैं। यदि राब बनाना होता है तो थोड़ी देर के बाद ही उसे उठाकर बड़ी-बड़ी नाँदों में छोड़ देते हैं पर गुड़ बनाने पर उसे कढ़ाव में तब तक चलाते रहते हैं जब तक कि वह अत्यन्त गाढ़ा न हो जाय। जब गुण गाढ़ा हो जाता है तो उसे फैलाकर छोड़ देते हैं। थोड़ी देर बाद गुड़ सूख जाता है और उसे काट-काट कर बड़े-बड़े लड्डू बना लेते हैं। फिर टोकरियों में उठा लेते हैं।

यह गुड़ बनाने का साधारण ढंग है। इसमें बहुत से दोष हैं जिनके कारण गुड़ ठीक नहीं हो पाता, अगर होता भी है तो अधिक समय और पैसा खर्च हो जाता है। कृषकों को चाहिए कि वे अच्छी किस्म के कोल्हू खरीदें और कढ़ाव भी अच्छी डिजाइन का रखें। गुड़ पकाने वाली भट्ठी या चिमनी उन्नतिशील होनी चाहिए। बिलारी, जालंधर, तूफान आदि भटिठ्याँ अधिक सफल सिद्ध हुई हैं।

पेड़ी रखने की विधि—कभी-कभी गन्ने की फसल काट कर उस खेत में सिंचाई कर देते हैं और उसकी देखभाल करते रहते हैं। इससे पुनः गन्ने के पौधे उग आते हैं। इन्हें पेड़ी कहते हैं। भारतवर्ष में पेड़ी रखने की प्रथा आज से ही नहीं पुराने समय से है। कहीं-कहीं तो पेड़ी २-३ साल तक लगातार रखी जाती है परन्तु अधिक देखभाल और सिंचाई, खाद, गुड़ाई, आदि की कमी से पैदावार अधिकतर ठीक नहीं हो पाती। यदि इन बातों को ध्यान में रखकर पेड़ी रखी जाय और वही क्रियाएँ यथासमय की जायँ, जो नई फसल में की जाती हैं, तो निस्संदेह पेड़ी अच्छी उपज देगी।

१२—सरसों (Mustard)

तेल वाली फसलों में सरसों का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। यह फसल हमारे देश में अधिकता से उगाई जाती है। तेल वाली फसलों में सरसों, राई और तोरी तीन जातियाँ सम्मिलित हैं। इन्हें अकेले नहीं बोते। इन्हें रबी की फसल में गेहूँ, जौ, चना, मटर, अलसी आदि फसलों में मिलाकर बोना ही उत्तम होता है। इनका पौधा झाड़दार लगभग ३–४½ फीट का होता है। जड़ मूसला होती है। तना हरा और गाँठदार होता है। गाँठों से शाखाएँ निकलती हैं। पत्तियाँ चौड़ी-काँटेदार होती हैं। फल पीले रंग और पतले आकार के होते हैं। इन फलियों में सरसों के बीज बन्द रहते हैं। पक जाने पर फलियाँ फूटती हैं और बीज बाहर हो जाते हैं। यह लगभग सम्पूर्ण भारत में उगाई जाती है परन्तु बंगाल, बिहार, आसाम, और पंजाब प्रदेश में इसकी अधिक क्षेत्र में खेती की जाती है। उत्तर प्रदेश में भी हल्की खेती की जाती है।

भूमि—सरसों की खेती हल्की दोमट भूमि में अच्छी होती है पर अन्य भूमि में मिलवाँ फसलों के साथ उगाई जाती है।

सरसों की जातियाँ—रंग के आधार पर सरसों की दो जातियाँ होती हैं। (१) पीली और (२) काली। उन्नतिशील जातियाँ टाइप नं० ३२, AGHA राई

या ११, E. T. ३/२ T ४ L १६ आदि हैं। ये उत्तर प्रदेश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उगाई जाती हैं।

खाद और भूमि की तैयारी—मिलवाँ होने के कारण इस फसल में अलग से खाद नहीं डाली जाती बल्कि साथ की मुख्य फसल की ही खाद इसके लिए पर्याप्त होती है। यदि फसल अलग से बोई जाय तो १०० मन गोबर की सड़ी खाद काफी है। खेत की तैयारी साधारण होती है। ४-५ जुताइयाँ अधिक होती हैं किन्तु मिलवाँ फसल में मुख्य फसल के अनुसार ही खेत की तैयारी की जाती है।

बीज की मात्रा और बोने का समय—सरसों का बीज यदि खेत में अकेले ही बोया जाता है तो बीज अधिक लगता है। छिटकवाँ रीति में ४-५ सेर और कतारों में २-३ सेर लगता है। मिलवाँ बोने पर १ सेर से १½ सेर बीज प्रति एकड़ लगता है। इस फसल की बोआई १५ अक्टूबर से नवम्बर के प्रथम सप्ताह तक की जाती है परन्तु बोआई जितना शीघ्र हो उतना ही अच्छा होता है।

बोने का ढंग—इसे खेत तैयार करने पर जोतकर छिटक देते हैं या कूँड़ों में हल के पीछे बोते हैं। मिलवाँ फसल में मुख्य फसल के बीज में मिला कर ही इसे बोया जाता है। पौधे से पौधे की दूरी लगभग एक फुट होनी चाहिए। बीज बोकर पाटे से मिट्टी समतल कर देते हैं।

निकाई-गुड़ाई—यदि फसल में घास-पात काफी हों तो उन्हें निराई करके निकाल देते हैं, नहीं तो वैसे निकाई की कोई आवश्यकता नहीं होती।

सिंचाई—मिलवाँ फसल की सिंचाई के साथ-साथ इसकी सिंचाई हो जाती है। अलग बोने पर दो या तीन सिंचाई काफी होती है। वर्षा हो जाने पर सिंचाई में कमी हो सकती है। पहली सिंचाई पौधों के ३-४" ऊँचे हो जाने पर की जाती है। दूसरी एक माह बाद और महावट के न होने पर तीसरी सिंचाई फसल की आवश्यकतानुसार की जाती है।

कटाई—यदि सरसों की फसल मिलवाँ फसल के पकने के पहले ही तैयार हो जाय तो उसे काट लेना चाहिए क्योंकि देरी होने पर फसल की हानि का भय रहता है। लेकिन साथ बोने पर तो यह प्रायः मुख्य फसल के साथ ही कटती है और बोझों में बाँध कर खलिहान में पहुँचा दी जाती है। अलग बोई गई फसल को काटकर खलिहानों में जमा कर देते हैं। इसकी कटाई मार्च के पहले सप्ताह से प्रारम्भ होकर अंतिम सप्ताह तक चली जाती है।

मड़ाई—मिलवाँ फसल के साथ ही इसकी मड़ाई करते हैं। अलग रहने पर उसे अच्छी तरह सुखाकर बैलों की दाँय चला देते हैं। फिर ओसाई द्वारा बीज भूसे से अलग कर लेते हैं।

रोग—सरसों में लाही का रोग हो जाता है। सूखा मौसम होने पर एक कीड़ा इसका रस चूस लेता है। लगातार वर्षा से भी इनमें लासा लग जाने का भय रहता है। रात में एक प्रकार की मक्खी लगती है जो पत्तों को चाटती है।

उपज—इसकी मिलवाँ फसल के साथ उपज ५-८ मन और अकेले बोने पर १५-२० मन प्रति एकड़ होती है। सरसों को पेर कर तेल निकालते हैं जो खाने के काम आता है। खली जानवरों को खिलाई जाती है और खाद में भी प्रयोग की जाती है।

१३—बरसीम (Barseem)

बरसीम हमारे देश के लिए नई फसल है। यह सबसे पहले १९०४ ई० में मिस्र से मँगाकर सिन्ध में बोई गई तत्पश्चात् अन्य क्षेत्रों में फैल गई। अभी अनपढ़ किसानों तक इसका महत्व नहीं पहुँचा है पर यदि उन्हें इसका उपयोग बतलाया जाय तो यह अधिक कल्याणकारी सिद्ध होगा। यह चारे की फसल है और जिस खेत में बोई जाती है उसमें नाइट्रोजन की मात्रा अधिक हो जाती है। इससे अनुर्वर भूमि नाइट्रोजन से भर जाती है। यह जानवरों को बहुत स्वादिष्ट लगती है और ऐसे समय में उगती है जब कि चारे की अन्य फसलें कट गई रहती हैं। यह फसल काटकर रख देते हैं और सूखे मौसम में पशुओं को खिलाते हैं।

भूमि और जलवायु—यह खरीफ की मक्का, धान, ज्वार आदि फसलों को काटकर बो दी जाती है। मटियार भूमि इसके लिए ठीक नहीं पड़ती। बलुई भूमि में भी इसकी खेती नहीं की जाती। दोमट भूमि इसके लिए अत्युत्तम होती है। गर्म और सूखी जलवायु चाहने के कारण इसे नम प्रदेशों में ही उगाया जाता है।

भूमि की तैयारी—खरीफ की फसल काट कर मिट्टी पलटने वाले हल से भूमि की एक बार जुताई कर देनी चाहिए। फिर तो खेत देशी हल से जोता जाता है। देशी हल की जुताई कुल ३-४ बार होती है। खेत की मिट्टी भुरभुरी बनाने के लिए बीच-बीच में पाटा भी चलाते हैं। पाटा चलाने से भूमि समतल हो जाती है। बीज बोने के लिए खेत में बरहे और क्यारियाँ बना दी जाती हैं।

खाद—बरसीम नाइट्रोजन उत्पादित करने वाली फसल है। अतः यह अपनी आवश्यकता की पूर्ति तो स्वयं कर ही लेती है, बाद में बोई जाने वाली फसल के लिए भी अधिक मात्रा में नाइट्रोजन छोड़ जाती है। किन्तु फास्फोरसयुक्त खाद बरसीम के लिए उत्तम सिद्ध हुई है। इससे उपज में काफी अभिवृद्धि हो जाती है। ३०० पौं० सुपर फास्फेट डालने से पौधे को ६० पौं० के लगभग फास्फोरस मिल जाता है जो उसकी आवश्यकता के लिए पर्याप्त है।

बीज और बीज बोने की मात्रा—बरसीम के बीज में यदि किसी प्रकार की गन्दगी या कोई अन्य बीज मिला हुआ है तो उसे सावधानी से अलग कर लेना चाहिए। बहुधा इस बीज में कासनी का बीज पाया जाता है जिसका रहना ठीक नहीं होता। अतः इसे नमक के पतले घोल में डाल कर छान कर फेंक देते हैं। बरसीम का बीज नीचे बैठ जाता है। यह अलग किया हुआ बीज यदि पहले-पहल खेत में बोया जाय तो इसे 'बरसीम कल्चर' में भिगो लेना चाहिए। अच्छा हो यदि एक पाव बरसीम

कल्चर आधा सेर पानी में एक छटाँक शक्कर घोल कर मिला दिया जावे। कल्चर के न मिलने पर खेत में बरसीम उगाये गये खेत की सूखी मिट्टी का २" की तह छिड़क देना चाहिए। इसका बीज एक एकड़ में ८-१० सेर तक लगता है।

बीज बोने की विधि—इसके बोने की दो विधियाँ प्रचलित हैं। पहली विधि में इसे क्यारियों में छिटक कर हैरो चला देते हैं। बोआई के बाद ही खेत में हल्की सिंचाई कर देते हैं। दूसरी विधि में क्यारियों को पानी से भरकर बीज छिटक देते हैं। पानी की मात्रा ऐसी ही होनी चाहिए जो लगभग दिन भर में सूख जाय। धान की खड़ी फसल में पकते समय जब भूमि में नमी या पानी रहता है तो इसे उसी में छिड़क देते हैं। इसे मिट्टी में मिला कर बोना चाहिए।

समय—बीज की बोआई १५ अक्टूबर से १५ दिसम्बर तक होती है परन्तु पहले बोई गई फसल ही अच्छी होती है।

निराई—बरसीम में निराई की कोई आवश्यकता नहीं होती। बड़े घास-पात उखाड़ कर फेंक देना चाहिए।

सिंचाई—इसे पानी की अधिक जरूरत होती है। इसे कई बार काटते हैं। काटने से यह फिर पनप जाती है। प्रत्येक कटाई के बाद सिंचाई करनी होती है। पहली कटाई के पहले बोआई के समय से लेकर २-३ सिंचाई कर देनी चाहिए। गर्मी के दिनों में प्रत्येक तीसरे-चौथे सप्ताह सिंचाई करनी पड़ती है। इस प्रकार कुल सिंचाई १०-१२ बार तक हो जाती है। सिंचाई की संख्या वास्तव में कटाई पर निर्भर है।

कटाई—बोआई के लगभग ६-७ सप्ताह बाद कटाई शुरू करते हैं। पौधों की पहली कटाई ९"-१०" की ऊँचाई पर करते हैं। इसके बाद प्रति १५ वें दिन एक कटाई की जाती है। अप्रैल-मई तक ६-७ कटाई कर ली जाती है।

उपज—हरा चारा ५००-८०० मन तक हो जाता है।

बीज की उपज—पौधे की जाति बनाने के लिए फर्वरी से फसल को बिना काटे ही छोड़ देते हैं किन्तु आवश्यकतानुसार सिंचाई करते रहते हैं। मई के अन्त तक फसल पक कर तैयार हो जाती है। बीज की उपज २-३ मन प्रति एकड़ होती है।

फसल-चक्र एक साल—ज्वार—बरसीम
" " धान—बरसीम
दो साल—धान—बरसीम—चरी—गेहूँ

१४—रिजका (Lucerne)

रिजका चारे की फसल है। यह अफगानिस्तान, फारस और दक्षिणी पश्चिमी एशिया में अधिकता से उगाया जाता है। भारतवर्ष में भी इसकी खेती होती है। इसकी फसल बरसीम की भाँति ही उगाई जाती और एक ही बार की बोई कई वर्षों

तक रखी जाती है। इसे घोड़ों को खिलाते हैं। गर्म होने के कारण गर्भिणी गाय को नहीं खिलाया जाता।

भूमि और जलवायु—हल्की दोमट भूमि रिजका की खेती के लिए अच्छी पड़ती है। जिस भूमि में अनावश्यक पानी के निकास का अच्छा प्रबन्ध न हो, उसमें इसकी खेती सफल नहीं होती। अधिक वर्षा वाले स्थान में यह नहीं उगाया जा सकता। ३०"-४०" की वार्षिक वर्षा में यह पैदा किया जाता है परन्तु इससे अधिक वर्षा इसके लिए हानिकर होती है।

खेत की तैयारी—रिजका की फसल लेने के लिए खेत की तैयारी ठीक उसी भाँति करते हैं जिस प्रकार गेहूँ की बोआई के लिए करते हैं। प्रति एकड़ १५०-२०० मन गोबर की सड़ी खाद डाल कर खेत में अच्छी तरह मिलाते हैं। ६-७ जोताई मिट्टी को भुरभुरी बनाने के लिए काफी होती है। समतल बनाने के लिए खेत में पाटा फेरते हैं।

बोआई का समय—यह फसल १५ सितम्बर से बोना प्रारम्भ कर देते हैं और नवम्बर के प्रथम सप्ताह तक बो कर समाप्त कर देते हैं। १५ अक्टूबर की बोआई बहुत उत्तम होती है।

बोने की विधि—बरसीम की भाँति इसमें बोआई के पहले बरहे और क्यारियाँ बना ली जाती हैं ताकि सिंचाई में सुविधा हो। बीज को क्यारियों में छिटक कर हल्की सिंचाई कर देते हैं। इसे मेड़ों पर भी बोते हैं। इस विधि में २-२ फीट की दूरी पर दो फीट चौड़ी और आधी फुट ऊँची मेड़ें बना ली जाती हैं। इन्हीं मेड़ों पर बीज १" की गहराई में बो दिया जाता है।

बीज की मात्रा—एक एकड़ खेत में रिजका की मात्रा ६ से ८ सेर लगती है। छिटकवाँ विधि में १०-१२ सेर बीज लगता है।

सिंचाई—बीज की बोआई करने के शीघ्र पश्चात् सिंचाई की जाती है। बीज का जमाव यदि ठीक न हो तो एक सप्ताह बाद ही फिर दूसरी सिंचाई करते हैं। जाड़े के दिनों में नमी देर तक स्थिर रहती है इसलिए महीने में एक बार सिंचाई करते हैं। पर गर्मी के दिनों में १५ दिन के अन्तर पर ही फसल में पानी देना पड़ता है।

निकाई-गुड़ाई—खेत में से हानिकारक खर-पतवार उखाड़ कर फेंक देना चाहिए। बथुआ, दूब, मोथा, असरबेल आदि मुख्य घास-पात हैं जिन्हें दूर कर देना ही हितकर होता है। मेड़ों वाली फसल पर पहली कटाई के बाद मिट्टी चढ़ा देते हैं और फिर सिंचाई कर देते हैं।

कटाई—लगभग दो माह बाद ही फसल काटना प्रारम्भ कर देते हैं। पहली कटाई के बाद इसकी फसल बहुत तेजी से बढ़ना प्रारम्भ कर देती है। वर्ष भर में ६ या ७ कटाई की जाती है। यदि फसल की सभी आवश्यकताएँ समयानुसार पूरी कर दी जायँ तो रिजका की फसल ४-५ वर्षों तक लगी रहती है। बरसात के दिनों

में इसकी कटाई नहीं की जाती। बरसात के समाप्त होते ही एक गुड़ाई करके खाद मिला दी जाती है। इससे फसल उत्तम हो जाती है।

बीज तैयार करना—जब बीज लेना हो तो फसल की कटाई फर्वरी के माह में बन्द कर देना चाहिए और पौधों में फूल आने देना चाहिए। मार्च-अप्रैल में फल आ जाते हैं और इन्हें काट कर मड़ाई कर बीज भूसे से अलग कर लेते हैं।

उपज—हरा चारा ६००–८०० मन प्रति एकड़ और ३ मन बीज पैदा होता है।

१५—तम्बाकू (Tobacco)

भारतवर्ष में इसकी खेती मुगल काल से प्रारम्भ हुई बतलाई जाती है। व्यापारियों ने इसे हिन्दुस्तान की भूमि पर पहले-पहल बोया। मद्रास, बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में इसकी खेती प्रचुर मात्रा में की जाती है। उत्तर प्रदेश में फर्रुखाबाद मैनपुरी, एटा, गोरखपुर, अवध आदि स्थानों पर तम्बाकू की खेती बहुलता से होती है। इसे सिगरेट, बीड़ी, पान, सिगार, हुक्का आदि में प्रयुक्त करते हैं।

भूमि—लोनी मिट्टी तम्बाकू की फसल के लिए सर्वोत्तम सिद्ध हुई है। हल्की और भारी दोनों दोमट भूमियों में इसे सफलतापूर्वक उगा सकते हैं। पानी जमा होने वाली नीची भूमि इसके लिए उचित नहीं होती। तम्बाकू अधिकतर बस्ती के निकट ही उगाते हैं जहाँ पानी की सुविधा हो।

खेत की तैयारी—खेत की मिट्टी को पहले मिट्टी उलटने वाले हल से १-२ बार जोत करके देशी हल से ५-६ जुताई करते हैं। मिट्टी भुरभुरी करने के लिए कई बार पाटा फेरते हैं। घास-पात दूर करने के लिए लीवर हैरो का प्रयोग करते हैं। इस फसल के लिए बहुत भुरभुरी मिट्टी की आवश्यकता होती है।

खाद का प्रयोग—बोआई से पहले गोबर की सड़ी खाद ३००-४०० मन प्रति एकड़ देनी चाहिए और इसे खेत में अच्छी तरह मिला देना चाहिए। जहाँ इस खाद का अभाव हो वहाँ कम्पोस्ट या नीम अथवा रेड़ी की खली ही भूमि में मिलाते हैं। तम्बाकू के खेत में एक एकड़ में ५०-६० पौं० फास्फोरस ७०-७५ पौं० पोटाश दी जाती है। सिगरेट वाला तम्बाकू १५-२० पौं० किन्तु हुक्का वाला ५०-६० पौं० नाइट्रोजन चाहता है। खारे कुएँ से सिंचाई करने वाले स्थान पर लोनी मिट्टी देना जरूरी है।

जातियाँ—वर्जिनिया तम्बाकू हमारे देश में बहुत कम उगाया जाता है। इसकी सिगरेट बनती है। हमारे यहाँ देशी और कलकतिया जातियाँ पाई जाती हैं। ये दोनों बहुधा हुक्के में प्रयोग की जाती हैं। देशी जाति का पत्ता कलकतिया से कोमल और चिकना होता है।

पौध की बेहन डालना—तम्बाकू की बेहन साल में दो बार डालते हैं। पहली बेहन सितम्बर के प्रारम्भ में और दूसरी दिसम्बर के अन्त में। बेहन डालने वाले स्थान को खाद से परिपूर्ण कर नम बना लेना चाहिए। बीज को राख या मिट्टी में मिलाकर

छिड़कते हैं क्योंकि ये बहुत छोटे होते हैं। बीज छिड़क कर ऊपर से सड़ी खाद की एक पतली तह बिछा देते हैं और ऊपर से पानी छिड़कते रहते हैं। यदि धूप तेज हो तो खर-पतवार से बीहड़ ढक देना चाहिए क्योंकि बीज का जमाव अन्धेरे में ही अच्छा होता है। समय-समय पर सिंचाई और निकाई करते रहना चाहिए। जब पौधे ४"-५" के हो जाते हैं तो उन्हें उखाड़ कर तम्बाकू के खेत में रोप देते हैं।

बीज की मात्रा—एक एकड़ भूमि के लिए १/२ औंस तम्बाकू का बीज पर्याप्त होता है।

बेहन की रोपाई—तम्बाकू के तैयार खेत को क्यारियों और बरहों में बाँट लेते हैं। जब पौधे में ४-६ पत्तियाँ हो जायँ तो बेहन की सिंचाई करके उन्हें उखाड़ लेना चाहिए। पौधों को रोपने के पहले क्यारियों में २-२ फीट की दूरी पर कतारें बना ली जाती हैं और फसल की रोपाई कर देते हैं। रोपाई के दिन ही खेत में पानी दे देना चाहिए जिससे पौधे जड़ पकड़ लें।

निकाई-गुड़ाई—पौधों के ९"-१२" हो जाने पर गहरी जुताई कर देते हैं। इससे खेत की मिट्टी भुरभुरी हो जाती है तथा अनावश्यक घासें विनष्ट हो जाती हैं। पौधों में पत्तियों की गति का निरीक्षण करते रहना चाहिए। एक पौधे में ८-१० से अधिक पत्तियाँ नहीं होनी चाहिए। कल्ले या फूल जब पौधे में निकल आयें तो उन्हें तोड़ कर फेंक देना चाहिए।

सिंचाई—इस फसल को पानी की सुविधा वाले स्थान पर बोना चाहिए क्यों कि हर दो हफ्ते बाद इसे पानी की जरूरत होती है किन्तु पानी की मात्रा अधिक न होनी चाहिए। अच्छा हो, यदि हुक्के वाला तम्बाकू खारे पानी से सींचा जाय।

कटाई—जब तम्बाकू की पत्तियाँ हल्के पीले रंग की हो जायँ और उन पर एक प्रकार की चिपचिपाहट हो जाय तो फसल तैयार समझना चाहिए। पक जाने पर पत्तियाँ मोड़ने पर चटक का शब्द करती हैं। काटते समय यदि पानी बरस जाय और पत्तियों का चिपचिपापन समाप्त हो जाय तो उसे तब तक नहीं काटना चाहिए जब तक पत्तियों पर फिर चिपचिपापन उत्पन्न न हो जाय। पौधों को काटकर २-३ दिनों तक सूखने के लिए खेत में ही छोड़ देते हैं। सूख जाने पर इन पत्तों को सबेरे तड़के ही उठा लेना चाहिए। फिर पत्तियों को पौधे से तोड़ कर अलग कर लेते हैं।

पत्तियाँ तैयार करना—तम्बाकू की पत्तियाँ तीन प्रकार से बनाई जाती हैं—

१. मशीन द्वारा,
२. कमरे में ढेर लगाकर, तथा
३. गड्ढे में ढेर लगाकर।

कृषक अन्तिम दो विधियों को ही साधारणतया प्रयोग करते हैं। कमरे का तापक्रम घटा-बढ़ा कर पत्ती को रचाते हैं। पत्तियों के ढेर गोलाई में लगाते हैं। पत्तियों की नोक अन्दर की ओर को रखते हैं। हर दूसरे-तीसरे दिन यह देख लेना चाहिए कि पत्तियाँ अधिक गर्म तो नहीं हो गई हैं। गर्म हो जाने पर इन्हें उलट कर

गर्म पत्तियाँ ऊपर और ऊपर की पत्तियाँ नीचे कर देना चाहिए। इस प्रकार उलट-फेर तब तक किया जाता है जब तक पत्तियों में सुनहला रंग न आ जाय। पीने वाला तम्बाकू रस्सियों पर टाँग कर सुखाया जाता है।

बीमारी व कीड़े—भूमि की दुर्बलता से तम्बाकू के पौधे उकठने लगते हैं। इस फसल में कटुआ और माहू नामक दो कीड़े पाये जाते हैं जो फसल को हानि पहुँचाते हैं। इन्हें नीम की खली से दूर किया जाता है।

उपज—पीने वाली फसल प्रति एकड़ १५-१७ मन और खाने वाली १०-१२ मन तक उपज देती है।

१६—मूंगफली

मूंगफली का पौधा भारत में चीन और दक्षिणी अमेरिका से लाया गया। यह मद्रास, हैदराबाद, बम्बई और मध्य प्रदेश में अधिक क्षेत्रफल में लगाया जाता है। उत्तर प्रदेश के मध्य जिलों और हरदोई, मैनपुरी, उन्नाव आदि जिलों में इसकी खेती होती है। इसकी खेती उस स्थान पर सरलतापूर्वक की जा सकती है जहाँ वार्षिक वर्षा ५०" से अधिक और २०" से कम न हो। मूंगफली के खेत में पानी के निकास का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए। यह फली वाली फसल है, अतः भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने में अधिक योग देती है। इसकी पत्तियाँ जानवरों को खिलाने के काम आती हैं और बीज को खाने, तेल, खाद और साबुन बनाने आदि में प्रयोग करते हैं।

भूमि और जलवायु—इस फसल के लिए हल्की दोमट भूमि या बलुवार-दोमट सफल सिद्ध हुई है। जीवांशों से परिपूर्ण भूमि, जिसमें चूना भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता हो इसके लिए अच्छी होती है। भूमि में जल के निकास का प्रबन्ध रहना आवश्यक है। कड़ी या मटियार भूमि में मूंगफली की खेती नहीं की जा सकती क्योंकि इसकी जड़ें मुलायम होने के कारण भूमि में जल्दी प्रवेश नहीं कर पाती हैं। खुदाई करने में भी अधिक खर्च पड़ता है। नर्म और भुरभुरी भूमि में इसकी खुदाई शीघ्र हो जाती है। यह फसल गर्म और शीतोष्ण दोनों जलवायु में उगाई जा सकती है।

खेत की तैयारी—रबी की फसल काटकर मिट्टी पलटने वाले हल से एक जुताई कर देते हैं। फिर मई के मध्य में खेत में पलेवा देकर देशी हल से ४-५ जुताइयाँ करते हैं। पर यह वहीं सम्भव है जहाँ पानी के साधन उपलब्ध हों। जहाँ इन साधनों का अभाव रहता है वहाँ वर्षा प्रारम्भ होने पर ही खेत की तैयारी शुरू करते हैं। मिट्टी भुरभुरी करने और नमी कायम रखने के लिए प्रत्येक जुताई के बाद पाटा देते हैं।

खाद—मूंगफली, दाल वाली फसल होने के कारण अधिक खाद नहीं चाहती पर खाद दे देने से इसकी उत्पत्ति में वृद्धि हो जाती है। गोबर की खाद १०० मन या अण्डी की खली ६-८ मन एक एकड़ के लिए काफी होती है। इसे नाइट्रोजन की आवश्यकता प्रति एकड़ ३०-४० पौं० होती है।

बीज और बोआई की विधि—बोने से पहले मूंगफली के मोटे छिलके उतार लेने चाहिए परन्तु लाल छिल्के वैसे ही रहने देना चाहिए। यदि छिलके उतारे बीज को किसी प्रकार धक्का पहुँच जाता है तो बीज के उगने में एक दोष आ जाता है। छिल्के को बोने से २४ घण्टे पहले उतारना प्रारम्भ कर देना चाहिए। अधिक देर हो जाने पर जमाव ठीक नहीं हो पाता।

इसके बोने की कई विधियां प्रचलित हैं। छोटे क्षेत्र में खुर्पी की सहायता से बोआई करते हैं। इससे बीज मनचाही दूरी पर गाड़ सकते हैं। दूसरी विधि हल के पीछे कूड़ों में बोने की है। तीसरी छिटकवां विधि है। पौधों की पौधों से दूरी बीज की जाति पर निर्भर करती है। बीज यदि छोटी जाति का है तो पंक्ति से पंक्ति की दूरी १२" से १८" और पौधे से पौधे की दूरी ६" से ९" होती है परन्तु बड़ी जाति वाले बीज में पंक्ति से पंक्ति की दूरी २'–२½' रखी जाती है। बीज को भूमि में २"–३" की गहराई तक बोते हैं।

बीज बोने की मात्रा और समय—एक एकड़ में छिला हुआ बीज २०-२५ सेर और बिना छिला हुआ ३०-४० सेर लगता है। १५ मई से इनकी बोआई शुरू हो जाती है। बोआई अधिक स्थानों पर वर्षा प्रारम्भ होने पर ही की जाती है। इस प्रकार जुलाई के प्रथम सप्ताह तक बोने की क्रिया चलती रहती है।

जातियाँ—इसकी दो जातिया मुख्य हैं। पहली, जिसकी पत्तियाँ गुच्छेदार, पौधे खड़े और दाने बड़े होते हैं। इसमें खानदेश, नैटाल, अकोला नं० १० जातियाँ सम्मिलित हैं। दूसरी जाति के दाने बड़े और पौधे जमीन पर फैलने वाले होते हैं। इसमें मारीशस, पाण्डीचेरी, बड़ा जापानी, बरारी, राजपूती, मोगोम्बिक, और कारामंडल आते हैं। इसके अतिरिक्त नं० १८, २३, २४, और २५ भी प्रचलित हैं।

सिंचाई और गुड़ाई—बोआई के कुछ समय बाद से फसल में फूल आने के पहले तक कई बार गुड़ाई करनी चाहिए। यह गुड़ाई कुदाली, 'हो' या कल्टिवेटर की सहायता से की जाती है। भूमि भुरभुरी होने से फलियों को बढ़ने का अवसर मिलता है।

सिंचाई—बरसात से पहले बोई गई फसल को पानी की आवश्यकता पर सिंचाई करनी पड़ती है। परन्तु वर्षा के शुरू होने पर सिंचाई नहीं की जाती। पौधों में फूल आते समय भूमि में पर्याप्त नमी का होना आवश्यक है। वर्षा ऋतु में भी जब फसल की पत्तियाँ मुरझाने लगें तो हल्की सिंचाई कर देनी चाहिए।

कटाई—हरे पत्ते और डण्ठलों को फसल के पक जाने पर काट कर अलग कर लेते हैं और उन्हें पशुओं को खिलाने तथा कम्पोस्ट के काम में लाते हैं। फलियाँ भूमि की गुड़ाई करके निकाल लेते हैं। इस कार्य के लिए देशी हल, कुदाली आदि यंत्र काम में लाये जाते हैं। फसल की कटाई के समय यदि भूमि में नमी की कमी हो तो एक हल्की सिंचाई कर देना चाहिए। मूंगफली को खोद कर धूप में अच्छी तरह सुखा लेते हैं।

उपज—मूंगफली की उपज प्रति एकड़ १०–२० मन तक होती है। सूखा चारा २४ मन प्रति एकड़ तक मिलता है।

बीमारी—इस फसल पर फफूंदी की बीमारी का आक्रमण अधिक होता है। दीमक भी इस फसल का शत्रु है। फली आ जाने पर गीदड़ों और साहियों से इसे बचाना चाहिए।

१७—रेंड़ी या अरण्डी

इसकी जन्मभूमि अफ्रीका है। भारतवर्ष में इसकी खेती बम्बई, मद्रास, हैदराबाद, उड़ीसा, और उत्तर प्रदेश में होती है। यह कभी-कभी अकेले न बोकर ज्वार, तिल, अरहर, कपास, गन्ने आदि फसलों के खेतों में मेड़ों पर या खेत के किनारे-किनारे बो दी जाती है। इसका पौधा वार्षिक, द्विवर्षीय और कभी-कभी बहुवर्षीय होता है। झाड़ी के रूप में रेंड़ी का पौधा १०'–१२' ऊँचा होता है।

भूमि और जलवायु—दोमट और बलुवार-दोमट भूमि इसके लिए उत्तम होती है। नीची भूमि में जहाँ बरसात का पानी जम जाता हो, इसकी खेती नहीं हो सकती। यह खाद के गड्ढों के पास स्वयं उग आती है। यह रबी और खरीफ दोनों समयों में उगाई जा सकती है। परन्तु खरीफ में बोने पर इसे पाले का भय नहीं रहता।

भूमि की तैयारी—यदि फसल मिलवाँ रूप में बोई जा रही है तो वही तैयारी की जाती है जो मुख्य फसलों के लिए की जाती है। परन्तु अलग बोने पर तीन-चार जुताइयाँ पर्याप्त होती हैं।

खाद—फसल को खाद की आवश्यकता होती है। गोबर की खाद १००-१५० मन तक डाली जा सकती है। नीम की खली खेत में डालने से रेंड़ी में तेल की मात्रा बढ़ जाती है।

बोआई—फसल को यदि अलग से बोना हो तो शुरू बरसात में कूंड़ में बोते हैं। पंक्ति से पंक्ति की दूरी तीन फीट और पौधों से पौधों की दूरी २ फीट रखी जाती है पर बहुवर्षीय पौधे में पंक्ति में १०–१२ फीट और पौधे से पौधे की दूरी ४–५ फीट होनी चाहिए।

बीज की मात्रा—मिलवाँ रूप में बोने पर २–३ सेर और अकेले ५–१० सेर तक प्रति एकड़ बीज की मात्रा लगती है।

जातियाँ—बड़े बीज और छोटे बीज वाली दो जातियाँ होती हैं। एक दूसरी जाति हरे और लाल तने वाली होती है। उत्तर प्रदेश में नं० ३ उन्नतिशील जाति है जिसमें तेल की मात्रा अधिक पाई जाती है।

सिंचाई और गुड़ाई—इसकी सिंचाई मुख्य फसल के साथ ही हो जाती है। अकेले बोने पर आवश्यकतानुसार एक-दो सिंचाई करनी पड़ती है। गुड़ाई भी एक-आध बार कर देनी चाहिए।

कटाई---रबी की रेंड़ी ६ से ७ माह में और खरीफ की ८ से १० माह में तैयार हो जाती है। जब बीज चटकने लगें तो पौधे की कटाई कर लेते हैं।

उपज---मिलवाँ फसल एक एकड़ में ४-५ मन और अकेले बोई गई ८-१० मन उपज देती है।

कीड़े---तने छिद्रक और केटरपिलर नामक दो कीड़े फसल को हानि पहुँचाते हैं।

हमारी तरकारियाँ

१---आलू (Potato)

आलू का स्थान हमारे देश की तरकारियों में महत्वपूर्ण है। यह पीरू और चिली देशों से सत्रहवीं शताब्दी में यहाँ लाया गया और तभी से इसकी उपयोगिता बढ़ी। इसका प्रयोग वर्ष के बारहों महीने होता है क्योंकि इसकी फसल सर्दी में मैदानी भागों में उगाई जाती है और गर्मी में पहाड़ों पर। दूसरे, इसे संचित करके भी बहुत दिनों तक रखा जा सकता है। आलू बीज से नहीं उगाया जाता क्योंकि इसमें फूल तो आते हैं परन्तु बीज नहीं बन पाते। इसीलिए इसके तने को ही वानस्पतिक उत्पादन द्वारा पौधे के रूप में उगाया जाता है। जिसे हम आलू कहते हैं, वास्तव में पौधे का वही तना है जो भूमि के अन्दर पाया जाता है। इसमें आँखें होती हैं जिन्हें आलू के साथ काटकर भूमि में डाल देने पर अंकुर निकल पड़ते हैं। इसी तने में सफेद रंग की जड़ें होती हैं जो इधर-उधर बिखरी होती हैं। तना अपने अन्दर भोजन संग्रह करता है। तने से पत्तियाँ और डण्ठल निकल कर वायु में फैलते हैं। हमारे देश में इसकी अच्छी पैदावार होती है। पश्चिमी बंगाल, आसाम, बिहार और उत्तर प्रदेश में इसकी अधिक खेती होती है। उत्तर प्रदेश में नैनीताल, मंसूरी, अल्मोड़ा, मुरादाबाद, फर्रुखाबाद. मेरठ, देहरादून, जौनपुर, लखनऊ, इलाहाबाद आदि में यह ज्यादातर उगाया जाता है। प्रायः सभी बड़े शहरों के पास की भूमि में आलू की खेती की जाती है।

भूमि और जलवायु---पथरीली, बलुई और मटियार भूमि में आलू की खेती नहीं होती। दोमट भूमि जो जीवांश से बनी हो और जिसमें जल-निकास का उचित प्रबन्ध हो, आलू के लिए ठीक पड़ती है। दोमट-बलुवार में भी यह उगाई जा सकती है। शीत जलवायु इसकी फसल के लिए हितकर होती है। यही कारण है कि इसकी उपज सर्दी के दिनों में ही की जाती है। किन्तु पहाड़ों पर गर्मी के दिनों में भी सर्दी रहने के कारण गर्मी में इसकी खेती होती है।

भूमि की तैयारी---खरीफ की शीघ्र बोई जाने वाली फसल काटकर मिट्टी पलटने वाले हल से भूमि की एक या दो जुताई कर देते हैं। यदि खेत में सनई की फसल बोई रहे तो उसे अगस्त के मध्य तक पलट देना चाहिए। सितम्बर के माह में देशी हल से ८-१० जुताई कर देना चाहिए। यदि भूमि से खरीफ की कोई फसल नहीं ली जाय तो जुताई की संख्या बढ़ जाती है। खेत की मिट्टी भुरभुरी बनाने के लिए पाटे का प्रयोग करते हैं।

खाद का प्रयोग—यह फसल नाइट्रोजन ८०-१०० पौं० प्रति एकड़ चाहती है। इसकी पूर्ति के लिए गोबर की सड़ी खाद २५०-३०० मन तक देते हैं। इसे बोआई से पहले खेत में मिलाकर देते हैं। फर्रुखाबाद के जिले में आलू मक्का की फसल काट कर बोते हैं। इसलिए खाद की पर्याप्त मात्रा उसी फसल में दे देते हैं। अण्डी की खली और अमोनियम सल्फेट तथा सुपर फास्फेट का भी प्रयोग इस फसल में किया जाता है। इससे उपज में वृद्धि हो जाती है।

आलू की जातियाँ—मुख्यतया आलू की दो जातियाँ होती हैं पर गुणों के आधार पर इनके कई वर्ग किये जाते हैं। वे दो जातियाँ हैं—देशी और पहाड़ी। देशी में पटना, काँगड़ा, जलन्धरा, फर्रुखाबादी आदि और पहाड़ी जाति में दार्जिलिंग, लिमिटरी, मैजेस्टिक, अपटुडेट आदि सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त फुलवा, सफेद ललुवा, गोला, तिपखिया, साठा आदि जातियाँ भी प्रचलित हैं।

बीज की बोआई—आलू की बोआई के दो ढंग हैं: (१) समतल भूमि में और (२) मेंड़बन्दी करके। प्रथम विधि में खेत को भली भाँति तैयार करके कूँड़ बनाते हैं और उन्हीं कूँड़ों में आलू की बोआई करते हैं। खुर्पी की सहायता से पौधे की दूरी ठीक रखी जा सकती है परन्तु कम क्षेत्र में ही इसका प्रयोग होता है। बोआई के बाद ४"-५" ऊँची मेड़ें बना दी जाती हैं। दूसरी विधि में बोआई के पहले ही खेत में मेंड़ें, बरहे और क्यारियाँ बना ली जाती हैं। जिससे सिंचाई के समय मेंड़ बनाने की कोई जरूरत नहीं होती। इसमें पंक्ति से पंक्ति की दूरी १½'-२' तक रखी जाती है। मेंड़ों की

चित्र १०९—आलू के खेत में मेंड़ें और नालियाँ

ऊँचाई आधे फीट के लगभग होनी चाहिए। आलू इन्हीं मेंड़ों पर २"-३" की गहराई पर ६" की दूरी पर बोते हैं। नालियों और मेड़ों की चौड़ाई ९" से अधिक नहीं होनी चाहिए। खेत में नालियों और मेड़ों का निर्माण चित्र १०९ की तरह होना चाहिए। सिंचाई कूँड़ की रीति से होती है।

बोने का समय—बोआई का उपयुक्त समय अक्टूबर का दूसरा सप्ताह है किन्तु यह सितम्बर से शुरू होकर दिसम्बर तक की जाती है। पहाड़ों पर फर्वरी-मार्च में इसकी बोआई होती है। यह मैदानों में दो बार बोई जाती है। पहली शुरू सितम्बर में बोकर फरवरी में निकाली जाती है और दूसरी नवम्बर-दिसम्बर में बोकर अप्रैल-मई में काट ली जाती है। पहाड़ों का आलू जुलाई-अगस्त में खोदा जाता है।

बीज की मात्रा—देशी आलू ५-६ मन और पहाड़ी ८-१० मन प्रति एकड़ बोया जाता है। बीज की मात्रा स्थान और बीज की किस्म पर निर्भर करती है। कटे आलू ६ से ८ मन प्रति एकड़ के हिसाब से पर्याप्त होते हैं।

सिंचाई—पौधों के ४"-५" की ऊँचाई के हो जाने पर सिंचाई प्रारम्भ कर देते हैं। यह फसल पानी बहुत चाहती है। इसलिए इसकी बोआई पानी की सुविधा वाले स्थल पर ही करते हैं। पहली सिंचाई के बाद लगभग हर पखवारे एक बार सिंचाई करनी पड़ती है। इस प्रकार कुल ८–९ सिंचाइयाँ हो जाती हैं। जब पौधे मुरझाने लगें तो पानी देना चाहिए।

निराई—पहली सिंचाई के बाद फसल की निराई कर देते हैं जिससे घास-पात जो खेत में उग आये रहते हैं, समाप्त हो जाते हैं। वैसे तो मिट्टी चढ़ाने में ही फसल की निकाई हो जाती है। किन्तु आवश्यकता समझ कर बीच-बीच में भी निराई कर देनी चाहिए।

मिट्टी चढ़ाना—आलू में मिट्टी का चढ़ाना अत्यावश्यक होता है। बोआई के कुछ दिन बाद जब पौधे आधे फीट के हो जायँ, मिट्टी चढ़ाई जाती है। इसमें नालियों से मिट्टी लेकर मेंड़ों पर इस प्रकार चढ़ाते हैं कि कल्लों को छोड़कर पौधे की जड़ें और तने ढक जायँ। खुले रहने पर वे हरे रंग के हो जाते हैं और फसल मारी जाती है। दूसरी बार मिट्टी एक माह बाद चढ़ाई जाती है। आवश्यकता समझ कर एक बार मिट्टी चढ़ा दी जाती है। यह क्रिया खुर्पी या कुदाली की सहायता से की जाती है। मिट्टी चढ़ाते समय पौधों को हानि नहीं पहुँचनी चाहिए।

कटाई—फसल पक जाने पर पत्ते पीले रंग के हो जाते हैं और पौधे मुरझाने लगते हैं। आलू भी बड़ा-बड़ा हो जाता है। ऐसी दशा में आलू को भूमि से खोदकर निकाल लेते हैं।

उपज—आलू की पैदावार २००-३०० मन तक होती है परन्तु इटावा में आलू की उपज ६८५-७२९ मन प्रति एकड़ प्राप्त की गई है।

रोग और कीड़े—ऐंठे (Mosaic) का रोग आलू में बहुधा हो जाता है। पोटेटोमाथ नामक कीड़ा आलू को हानि पहुँचाता है।

फसल-चक्र—
एक साल—मक्का—आलू—तम्बाकू
दो साल—सनई—आलू—मक्का
दो साल—आलू—मक्का—गेहूँ

आलू को सुरक्षित रखना—देहातों में आलू रखने की कई विधियाँ प्रचलित हैं किन्तु उसमें कुछ न कुछ दोष हैं जिनके कारण अधिकांश आलू सड़ कर बेकार हो जाते हैं। सड़ने का प्रधान कारण नमी है। नमी के मौजूद रहने पर आलू सड़ जाते हैं और उनमें कीड़े पड़ जाया करते हैं। कटे और कच्चे आलू तो स्वयं सड़ जाते हैं साथ ही अपने आस-पास के अन्य आलुओं को भी सड़ा देते हैं। अतः भण्डार में रखने से पहले कटे और रोग ग्रस्त आलू छाँट लेने चाहिए। आलू में जो सटी मिट्टी रहती है उसे रगड़ कर निकाल देना चाहिए।

भण्डार में तापक्रम, नमी, वायु आदि का उपयुक्त ध्यान रखना चाहिए। भण्डार सूखा व खिड़कीदार होना चाहिए। उनमें भूमि के ऊपर बालू की १" मोटी तह बिछा कर आलू की ६"-९" तह रखते जाते हैं। इस आलू की देख-भाल प्रति दो हफ्ते के बाद करते रहना चाहिए और खराब तथा सड़े आलुओं को निकाल कर बाहर फेंक देना चाहिए। भण्डार की खिड़कियाँ रात में खोल देते हैं पर दिन में बन्द कर देते हैं ताकि रात की ठण्डी वायु ही उसमें भरी रहे, गर्म वायु का प्रवेश न हो सके। खिड़कियों पर जालियाँ लगी होनी चाहिए जिससे वायु के कीड़े आदि कमरे में न घुस आवें।

आलू रखने की सबसे उत्तम विधि शीत भण्डार है। इसमें कमरे का तापक्रम वातावरण केअनुसार ३६°फा० से ३८°फा० तक रखते हैं। इसमें आलू सड़ने नहीं पाते। पर यह ढंग महँगा पड़ता है और साधारण कृषकों की पहुँच से अभी बाहर है।

२—टमाटर (Tomato)

टमाटर का फल स्वास्थ्य के विचार से बहुत उपयोगी पदार्थ है। यह हमारे देश में दक्षिणी अमेरिका से लाया गया। इसकी तरकारी, चटनी और मुरब्बा बनता है। कच्चे रहने पर यह हरे रंग का होता है पर पक जाने पर लाल रंग का हो जाता है।

भूमि और जलवायु—टमाटर की फसल लगभग प्रत्येक भूमि में उगाई जा सकती है। किन्तु दोमट भूमि अच्छी पड़ती है। इसके खेत में पानी के निकास का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। सर्द जलवायु में टमाटर की खेती सफलतापूर्वक की जा सकती है पर पाले का भय बना रहता है।

खाद और खेत की तैयारी—खेत की तैयारी करते समय गोबर की खाद १५० मन प्रति एकड़ के हिसाब से मिट्टी में छोड़ना चाहिए। चूँकि यह फल वाली फसल है, इसलिए इसे फासफोरस की अधिक आवश्यकता होती है। ५०० पौंड सुपरफास्फेट, ३०० पौंड अमोनियम सल्फेट और २००पौंड पोटैशियम सल्फेट खेत में छोड़ते हैं। ये खादें खड़ी फसल में ही छोड़नी चाहिए। टमाटर की बोआई प्रायः जुलाई से अक्टूबर तक की जाती है। पर साल के अन्त में भी यह उगा ली जाती है। टमाटर को बेहन डालकर पहले तैयार करते हैं, फिर तैयार खेत में क्यारियों में रोप देते हैं।

बीज की बोआई और रोपाई—दो-तीन छटाँक बीज एक एकड़ के लिए काफी होता है। इसे बीहड़ में बोकर ४" तक बड़े होने देते हैं। फिर उखाड़ कर क्यारियों में कतारों में रोपाई कर देते हैं। पौधों से पौधों की दूरी १½'–२' और पंक्ति से पंक्ति २'–३' रखी जाती है।

सिचाई और गुड़ाई—टमाटर में लगभग प्रति पखवारे सिंचाई करते हैं। जब ठंडक अधिक हो और पाले का भय हो तो हल्की सिंचाई कर देनी चाहिए। इससे फसल की रक्षा हो जाती। फसल की घास-पात साफ करने के लिए निकाई भी की जाती है। दो-तीन गुड़ाइयाँ काफी होती हैं। जब पौधे १'-१½' के हो जायँ तो लकड़ियों

की टेक देकर उन्हें भूमि पर नहीं गिरने देते क्योंकि गिरने से फलों के खराब होने का भय रहता है। भूमि पर न फैलने देने के लिए नीचे की कलियाँ तोड़ दी जाती हैं।

फसल की कटाई और उपज---लगभग तीन माह पश्चात् पौधे में फल आ जाते हैं। कच्चे फल तरकारियों में काम आते हैं। इसलिए पूर्ण विकसित फल तोड़ते जाते हैं। फल लगने के दिन से १ माह में ही ये पकने भी प्रारम्भ हो जाते हैं। पकने पर भी इनकी तोड़ाई की जाती है और बाजारों में खपत करते जाते हैं। देरी होने से इसके सड़ने का भय रहता है। अगस्त-सितम्बर की बोई फसल अप्रैल तक फल देने लगती है। इसकी उपज प्रति एकड़ लगभग १५० मन प्रति एकड़ होती है।

बीज की तैयारी---बीज तैयार करने के लिए खेत से पके टमाटर एक कपड़े की पटली में लेते हैं और उसे अच्छी तरह निचोड़ते हैं। तत्पश्चात् बीजों को छाँह में सुखाते हैं। जब ये आधे सूख जाते हैं तो इन्हें धूप में रख कर सुखाया जाता है। फिर सूखी राख की सहायता से रगड़ कर गुद्दे को बीज से अलग कर लिया जाता। यही बीज बोने के काम आता है।

३---बैंगन

बैंगन हमारे देश में लगभग सभी स्थानों पर उगाया जाता है। उत्तर प्रदेश में यह अधिकता से उत्पन्न किया जाता है। रूप-रंग के आधार पर इसकी कई जातियाँ होती हैं---लाल, काला, सफेद और हरी-उज्ज्वल चित्तियों वाला। रूप के अनुसार लम्बी, गोल और विलायती जातियाँ होती हैं।

भूमि और जलवायु---इसकी फसल दोमट और बलुवार दोमट में अच्छी होती है। साल में बराबर इसकी फसल खड़ी रहती है। इसकी बोआई तीन बार करते हैं। (१) अक्टूबर, (२) फरवरी-मार्च और (३) जून-जुलाई।

खेत की तैयारी---बैंगन बोने वाले खेत में गोबर की अच्छी सड़ी-खाद २००-२५० मन प्रति एकड़ छोड़ कर मिट्टी में अच्छी तरह मिला देते हैं। अमोनियम सल्फेट, सुपर फास्फेट और पोटैशियम सल्फेट मिलाने पर अच्छी उपज प्राप्त होती है। जब खेत तैयार हो जाय तो क्यारियाँ और बरहे बना लेते हैं।

बोआई---टमाटर की भाँति इसकी भी बेहन डाली जाती है। एक एकड़ के लिए २-३ छटाँक बीज अच्छी तरह से तैयार पौध-घर में डाल लेते हैं। इसमें आवश्यकतानुसार सिंचाई और निराई करते रहना चाहिये। जब पौधे ४-५" के हो जायँ तो इन्हें उखाड़ कर रोपाई कर देते हैं। रोपाई पंक्तियों में होती है। पंक्तियाँ $2\frac{1}{2}$' की दूरी पर बन बनती हैं। इनमें पौधे $\frac{1}{2}$' की दूरी पर रोप दिए जाते हैं। बोआई के शीघ्र पश्चात् सिंचाई कर देनी चाहिए।

सिंचाई और निराई---बरसात में फसल की सिंचाई नहीं करनी पड़ती किन्तु अन्य ऋतु में बोई गई फसल प्रति १५वें दिन सींच दी जाती है। सिंचाई के बाद नमी अधिक देर तक स्थिर रहने के लिए गुड़ाई कर दी जाती है। यह गुड़ाई कुदाली

अथवा 'हो' से की जाती है। इससे भूमि में उगे घास-पात भी कट कर विनष्ट हो जाते हैं और भूमि खुली हो जाती है।

उपज—अक्टूबर में बोई गई फसल मार्च तक, फरवरी में बोई फसल मई तक और जून-जुलाई में बोई फसल अक्टूबर तक फल देना प्रारम्भ कर देती है। जाड़े वाली फसल को पाले से बचाना चाहिए। फल लगभग तीन महीने बाद आने शुरू होते हैं और तीन माह तक आते रहते हैं। इसकी उपज लगभग १५० मन प्रति एकड़ ली जाती है।

बैंगन के बीज तैयार करना—बीज के लिए निरोग और अच्छे बैंगन छाँट कर बीज निकाल लेना चाहिए। इन बीजों को धोकर अच्छी तरह सुखाते हैं और फिर सुरक्षित स्थान में बोने के दिनों के लिए रख देते हैं।

गोभी

भारतवर्ष में गोभी अधिक उगाई जाती है। इसकी तीन जातियाँ प्रचलित हैं : (१) फूलगोभी, (२) पात गोभी या करमकल्ला और (३) गाँठ गोभी। ये तीनों एक ही परिवार की होती हैं पर भिन्न-भिन्न समयों में उगाई जाती हैं।

४—फूलगोभी (Cauliflower)

यह दो प्रकार की होती है। प्रथम तो वह जिसका बीज विदेश से मँगाया जाता है। और जो शीघ्र तैयार होती है। दूसरी देशी जो देर में होती है।

भूमि और भूमि की तैयारी—इसकी फसल के लिए उर्वर भूमि की आवश्यकता होती है। दोमट और दोमट-बलुवार भूमि अच्छी पड़ती है। भूमि में पानी निकास का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। इसकी खेती उसी स्थान पर करनी चाहिए जो सिंचाई के साधनों के समीप हो। भूमि को पहले मिट्टी पलटने वाले हल से एक या दो बार जोत देना चाहिए। फिर देशी हल से ६–७ बार खेत की जुताई करते हैं और मिट्टी भुरभुरी बनाने के लिये बीच-बीच में पाटा चला दिया करते हैं। खेत की शक्ति बढ़ाने के लिए गोबर की सड़ी खाद ३०० मन प्रति एकड़ के हिसाब से देते हैं।

बेहन डालना—फूलगोभी को खेत में रोपने के पहले पौध-क्षेत्र में बीज की बेहन डालते हैं। बेहन डालने वाली भूमि खाद देकर अच्छी प्रकार तैयार करते हैं। खाद खेत में उलट-पुलट कर मिट्टी भुरभुरी बनाते हैं। इस मिट्टी में ५'×१०' की क्यारियाँ बना कर फूलगोभी का बीज छिड़क देते हैं। इसके ऊपर से बारीक मिट्टी की पतली तह छिड़क देते हैं। यदि क्यारी में नमी की कमी हो तो जल छींटे रूप में देते हैं। क्यारी के चारों ओर की मेंड़ें १ फीट ऊँची बनाते हैं ताकि पानी की धारा हानि न पहुँचा सके। वर्षा की बौछारों और तीव्र धूप से रक्षा के लिए छप्पर का प्रबन्ध कर देते हैं। बीज की मात्रा प्रति एकड़ की रोपाई के लिए ३-४ छटाँक पर्याप्त है। क्यारी में बीज मिट्टी में मिलाकर बोते हैं। बोने के बाद आवश्यकतानुसार निराई और सिंचाई

करते रहना चाहिए। लगभग १ माह में बीज में ४-५ पत्तियाँ निकल आती हैं और पौधा ४-५" का हो जाता है। इस ऊँचाई पर वह उखाड़ कर खेत में रोपने के लिए तैयार हो जाता है।

रोपाई—पौधों की रोपाई शाम को छाये में करते हैं और रोप कर भूमि की एक हल्की सिंचाई कर देते हैं। खेत को पहले ही क्यारियों और बरहों में विभक्त कर लेना चाहिए। पौधों की रोपाई पंक्तियों में करते हैं। इन पंक्तियों की आपस की दूरी दो या ढाई फीट और पौधों से पौधों की दूरी १'–१½' होती है।

निराई गुड़ाई—जब पौधों के निकट घास-पात उग आवें तो उन्हें उखाड़ फेंकना चाहिए। पौधों के बढ़ाव और नमी स्थिर रखने के लिए दो-तीन बार गुड़ाई की जाती है। पौधों के लगभग १०" के हो जाने पर उनकी जड़ों में मिट्टी चढ़ा देते हैं।

सिंचाई—यदि फसल वर्षा ऋतु में उगाई जा रही है तब तो सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होतीं किन्तु वर्षा की अनुपस्थिति में ६-७ सिंचाई की जाती है।

फसल की कटाई—जब फूलों का रंग सफेद, और दुधियारा हो जाय तो कटाई प्रारम्भ कर देना चाहिए। लाल या पीले फूल ठीक नहीं होते। कटाई हँसिए या गँड़ासों की सहायता से की जाती है।

उपज—एक एकड़ में ९००० फूल आते हैं। फलों का फट जाना तरकारियों के लिए ठीक नहीं पड़ता। ऐसा असमान गर्मी और नमी के अभाव से होता है। इसलिए इससे सावधान रहना चाहिए। फसल के तैयार होने में ३–३½ महीने लग जाते हैं।

बीज तैयार करना—अच्छे फूलों को चुनकर खेत में ही छोड़ देना चाहिए। कुछ दिनों बाद फूलों की शाखाएँ छिटक कर फैल जाती हैं। इनमें दो या तीन शाखाएँ छोड़कर अन्य काट कर निकाल देना चाहिए। इनमें फलियाँ आती हैं और बीज लगते हैं। बीज पक जाने पर फली से अलग कर लेते हैं और सुरक्षित रख देते हैं।

५—पात गोभी (Cabbage)

यह पश्चिमी यूरोप से हमारे देश में पन्द्रहवीं शताब्दी में आई और सारे देश भर में फैल गई। अब तो प्रत्येक प्रदेश में इसकी खेती की जाती है। यह फूल गोभी की अपेक्षा अधिक गर्मी बरदाश्त कर सकती है। इसलिए इसे रबी के समय में बोते और काटते हैं। यह पत्तियों से बनी होती है। नर्म और मुलायम पत्तियाँ मिलकर ठोस आकार बना लेती हैं। पत्तियाँ ही खाई जाती हैं जिनका स्वाद बहुत अच्छा होता है।

भूमि और भूमि की तैयारी—पात गोभी दोमट, बलुवार-दोमट और दोमट-मटियार में उगा सकते हैं। किन्तु दोमट भूमि अधिक उत्तम होती है। इस भूमि में जल निकास का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। जिस खेत में पात गोभी बोना हो उसे एक बार मिट्टी पलटने वाले हल से जोत लेते हैं। तदनंतर देशी हल से ५-६ जुताई

करते हैं। मिट्टी भुरभुरी बनाने के लिए बीच-बीच में पाटे का प्रयोग करते हैं। जब खेत तैयार हो जाय तो उसमें बरहे और क्यारियाँ बना देना चाहिए।

खाद—चूँकि पात गोभी पत्तीदार फसल है इसलिए उसे नाइट्रोजन की अधिक आवश्यकता होती है। इसकी पूर्ति के लिए अमोनियम सल्फेट ३ मन प्रति एकड़ के हिसाब से खेत में छोड़ना चाहिए। गोबर की सड़ी खाद २००-२५० मन डालकर खेत में अच्छी तरह मिलाते हैं। इसे फसल की रोपाई के पहले ही खेत में छोड़ते हैं। राख और पोटैशियम सल्फेट की भी कुछ मात्रा खेत में देनी चाहिए।

बेहन डालना—फूलगोभी की भाँति इस गोभी के भी पौधे तैयार करने के लिए बेहन डाली जाती है। बीज की मात्रा २-३ छटाँक प्रति एकड़ लगती है। सितम्बर के माह से लेकर नवम्बर तक इसकी बेहन डाल देते हैं।

रोपाई करना—जब पौधे ४-५" के हो जायँ तो उन्हें उखाड़ कर तैयार खेत में रोप देना चाहिए। यह रोपाई पंक्तियों में की जाती है। पंक्ति से पंक्ति की दूरी २' और पौधे की दूरी १½' होती है। पौधे की जाति के अनुसार बीच की दूरी बढ़ाई, घटाई भी जा सकती है। समय में भी जाति के अनुसार आगे-पीछे करते हैं। आगे बोने के लिए देशी बीज, जो यहाँ की जलवायु में अभ्यस्त है, बोना चाहिए परन्तु पीछे की बोआई में विदेशी जाति का प्रयोग करते हैं। रोपाई के शीघ्र बाद ही सिंचाई करते हैं।

सिंचाई और निराई—पहली सिंचाई रोपाई के ही दिन की जाती है। पहली सिंचाई के बाद हर १२-१५ दिन के बाद सिंचाई करनी पड़ती है। प्रत्येक सिंचाई के बाद एक गुड़ाई कर देने से नमी देर तक बनी रहती है और खेत की घासें भी विनष्ट हो जाती हैं। भूमि भुरभुरी हो जाती है। इससे जड़ें अधिक गहराई तक पहुँच कर खुराक खींच सकती हैं।

उपज—३-३½ माह में गोभी तैयार हो जाती है। बँधे चिटकने के पहले फसल काट लेनी चाहिए। एक एकड़ खेत में ७,०००-८००० गोभी आती है। इसकी कटाई जनवरी के महीने से प्रारम्भ हो जाती है।

बीज की तैयारी—पातगोभी के बीज ठण्डे स्थानों पर तैयार किये जाते हैं। खेत में अच्छे पौधे को चुनकर उसके अन्य पत्ते इस हिसाब से काट देते हैं कि प्रधान कल्ला न कटे। प्रधान कल्ला बढ़कर फूल-शाखा में बदल जाता है और बीज पैदा करता है। यही बीज बोकर फिर पौधे के रूप में उगाया जाता है।

६—गाँठ गोभी (Knol-Khol)

फूलगोभी और पातगोभी के अनुपात में गाँठ गोभी का प्रचार नहीं है क्योंकि इसकी तरकारी उतनी स्वादिष्ट नहीं होती है जितनी प्रथम दोनों गोभियों की होती हैं।

भूमि और भूमि की तैयारी—यह हल्की दोमट और मटियार में उगाई जाती है पर दोमट भूमि इसके लिए उत्तम होती है। भूमि को एक बार मिट्टी पलटने वाले हल से जुताई करके देशी हल से ४-५ बार जोत देते हैं। भूमि भुरभुरी बनाने के लिए

बीच-बीच में पाटा भी दिया जाता है। खेत की मिट्टी उपजाऊ बनाने के लिए २००-२५० मन गोबर की सड़ी खाद खूब अच्छी तरह मिलाते हैं। रोपाई के पहले पौधों के लिए खेत में क्यारियाँ और बरहे बना लेते हैं।

बेहन की तैयारी और रोपाई—पौध-घर में १५ सितम्बर से अक्टूबर तक बेहन डाल देते हैं और जब पौधे ४-५" के हो जाते हैं तो उन्हें उखाड़ कर रोप लगा देते हैं। बीज की मात्रा ८-१० छटाँक प्रति एकड़ होती है। रोपाई करते समय क्यारियों में पंक्तियाँ बना लेते हैं। ये १-१½ फीट की दूरी पर होती हैं। इन्हीं में पौधे ९०-१२० की दूरी पर रोपे जाते हैं।

निकाई और सिंचाई——घास-पात निर्मूल करने के लिए निकाई कर देनी चाहिये। प्रथम सिंचाई रोपाई के बाद ही करनी चाहिये और अन्य गोभियों की भाँति हर पन्द्रहवें दिन पानी देना लाभकर होता है।

कटाई——जब फसल में गाँठें पूरी आ जायँ पर रेशे न निकले रहें तो गाँठों की कटाई प्रारम्भ कर देते हैं।

उपज——प्रति एकड़ २००-२५० मन उपज होती है।

७——मूली (Radish)

मूली का प्रयोग भोजन में किया जाता है। इसकी जड़ व पत्तियाँ दोनों खाई जाती हैं। मूली की कई जातियाँ होती हैं। विलायती मूली गोल, अण्डाकार, लाल और बैंगनी रंग की होती है। देशी जातियाँ सफेद और लम्बी होती हैं। जौनपुरी मूली लम्बी शुण्डाकार होती है। यह ३-४" मोटी १-१½' लम्बी होती है। कुछ जातियाँ शलजम की भाँति पाई जाती हैं। बरसाती और सेंगरी मूली की दो अन्य जातियाँ हैं।

भूमि—मूली के खेत में जल-निकास का सुप्रबन्ध होना चाहिए। पोटाश में घनी दोमट भूमि इसके लिए अधिक उपयोगी होती है। बलुई दोमट भूमि में भी यह उगाई जा सकती है परन्तु मिट्टी का उपजाऊ होना इसके लिए अधिक महत्वपूर्ण है।

खेत की तैयारी——भूमि की जुताई जितनी गहरी होती है, मूली भूमि में उतनी ही अधिक दूर तक जाती है। अतः इस फसल की भूमि में सड़ी गोबर की खाद १५०-२०० मन डालकर पहले तो पंजाब हल से एक या दो गहरी जुताई की जाती है फिर ६-७ देशी हल की जुताई कर देते हैं। इस से खाद तो मिल ही जाती है, मिट्टी भी भुरीभुरी हो जाती है। मिट्टी और भुरभुरी बनाने के लिए पाटा का प्रयोग करते हैं। भूमि में फासफोरस और नाइट्रोजन देने वाली खादें भी मिलाई जाती हैं।

बोने का समय—मूली की बोआई साल में दो बार की जाती है। पहली खरीफ और दूसरी रबी में। खरीफ की बोआई जुलाई-अगस्त और रबी की अक्टूबर-नवम्बर में की जाती है। बरसाती मूली जून-जुलाई में बोते हैं।

बीज और बोआई—फसल की बोआई के लिए खेत की तैयारी हो जाने पर मेंड़ें बना ली जाती हैं। इन मेंड़ों की ऊँचाई ४" और इनके आपस की दूरी लगभग

१ फुट होनी चाहिए। पौधे से पौधे की दूरी ३" से ४" रखी जानी चाहिए। पौधों के जमने पर एक हल्की सिंचाई की जाती है। इसकी बोआई छिटकवाँ ढंग से भी की जाती है जिसमें मेंड़ आदि नहीं बनाये जाते। जमने पर पौधों की दूरी ठीक कर दी जाती है। यदि मूली की फसल बराबर लेनी हो तो १४-१५ दिन बाद बोआई करनी चाहिए। प्रति एकड़ बीज ३-४ सेर लगता है।

सिंचाई और निराई—यदि फसल की बोआई वर्षा ऋतु में होती है तो सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती परन्तु रबी के दिनों में प्रति दूसरे तीसरे सप्ताह सिंचाई करनी पड़ती है। प्रत्येक सिंचाई के बाद गुड़ाई कर देनी चाहिए और आवश्यकतानुसार जड़ों पर मिट्टी भी चढ़ानी चाहिए।

उपज—मूली की फसल लगभग २½-३ महीने में तैयार हो जाती है। जब मूली के अन्दर गाँठें न आयें और रेशे न उत्पन्न हों तभी उसकी खुदाई कर लेना चाहिए। मूली की उपज प्रति एकड़ २०० मन तक होती है किन्तु औसत उपज ७५ मन है।

बीज उत्पन्न करना—मजबूत और अच्छी मूली चुनकर उसके कुछ भाग काट कर खाद डाली हुई मिट्टी में रोप देना चाहिए। ऊपर की कुछ पत्तियाँ भी तोड़ दी जाती हैं। कुछ दिनों बाद फलियाँ आ जाती हैं। पक जाने पर उन्हें झाड़ लिया जाता है और बीज सुरक्षित स्थान पर संचित कर लिया जाता है।

८—प्याज (Onion)

प्याज की मूल-भूमि अफ्रीका है। वहीं से सारे विश्व में इसका वितरण हुआ। भारतवर्ष की भूमि में यह सफलतापूर्वक उगाई जा रही है। इसका तना भूमि के अन्दर रहता है और वहीं बढ़ता है। इसमें पौधे के लिए भोजन संग्रहीत होता है। इसको लोग साग, मसाले और दव इयों में प्रयोग करते हैं। कुछ लोग इसकी तीखी गन्ध से प्रभावित हो इसका इस्तेमाल धर्मविरुद्ध सिद्ध करने को तैयार हो जाते हैं पर वास्तव में प्याज आरोग्यता के दृष्टिकोण से हितकर है। हैजे, लू आदि में यह लाभकर होती है क्योंकि इसमें शीतलता अधिक होती है और खून शुद्ध करने की भी शक्ति होती है।

भूमि और भूमि की तैयारी—दोमट-भूमि में प्याज की पैदावार अच्छी होती है। यदि हल्की भूमि रहे तो और अच्छा है। भूमि उपजाऊ होना चाहिए। इसके लिए खेत में २००-३०० मन गोबर की सड़ी खाद अथवा कम्पोस्ट डालना चाहिए। नाइट्रोजन, पोटाश और फासफोरस की पूर्ति के लिए अमोनियम सल्फेट, सुपर फास्फेट और पोटैशियम सल्फेट का उपयोग किया जाता है।

बेहन की तैयारी—प्याज का बीज पहले नर्सरी या पौध-घर में उगाया जाता है। पौध-घर की मिट्टी खूब भुरभुरी करके खाद और राख की उचित मात्रा मिला देते हैं। फिर नमी की उपस्थिति में बीज को मिट्टी में मिलाकर बीहड़ छिड़क दिया जाता है बीज मिट्टी और खाद की हल्की परत से ढँक देते हैं और ऊपर से पानी के फुहारे दिया करते हैं। जब बीज अंकुरित हो जायें तो सिंचाई और निकाई में साव-

धानी रखनी चाहिए। बेहन डालने के पूर्व पौध-घर को क्यारियों में बाँट लेते हैं। क्यारियाँ ३'-४' चौड़ी और आवश्यकतानुसार लम्बी रखी जाती हैं। लगभग १-१½ माह में पौधे ५"-६" के हो जाते हैं। इस अवस्था में इनको उखाड़ कर रोपाई कर देते हैं। १५ अक्टूबर से आधे नवम्बर तक प्याज की बोआई कर देनी चाहिए।

रोपाई—खेत को क्यारियों में बाँट कर पंक्तियाँ बना देते हैं। ये पंक्तियाँ १' की दूरी पर बनाई जाती हैं और इन्हीं पंक्तियों में पौधे ६" की दूरी पर लगा दिये जाते हैं। एक एकड़ के लिए २-३ सेर बीज की आवश्यकता होती है।

सिचाई—रोपाई के शीघ्र बाद एक हल्की सिंचाई कर देते हैं। इसके बाद हर १० वें १२ वें दिन सिंचाई करनी पड़ती है। नमी स्थिर रखने और घास-पात दूर करने के लिए बीच-बीच में गुड़ाई और निराई भी कर देते हैं।

फसल की कटाई और उपज—लगभग ४-५ माह में फसल तैयार हो जाती हैं। जब पत्तियाँ सूखने लगें तो फसल खाने योग्य हो जाती है। जिस पौधे में फूल आना प्रारम्भ हो उसे उखाड़ देना चाहिए। इससे गाँठें अच्छी बैठती है। प्याज की उपज प्रति एकड़ २००-२५० मन होती है।

बीज पैदा करना—बीज पैदा करने के लिए सुदृढ़ गाँठों को अक्टूबर के माह में नीचे का तिहाई भाग काट कर रोप देते हैं। पंक्ति की दूरी २-२½' और पौधे से पौधे की दूरी १½ फीट रखते हैं। खेत की मिट्टी उपजाऊ बनाने के लिए खाद भी मिलाई जाती है। फसल को आवश्यकतानुसार पानी देते रहना चाहिए। इससे कल्ले शीघ्र ही फूट आते हैं और पत्तियों में फूल आने प्रारम्भ होते जाते हैं। फूल लगने के पहले इन पौधों को खाने के भी प्रयोग में लाते हैं। इन्हीं फूलों में बीज लगते हैं। जब बीज पक जायें तो उन्हें काट कर अलग कर लेना चाहिए। बीज सुखा कर शीशी में बन्द करके रख देना चाहिए।

प्याज की गाँठों को सुरक्षित रखना—आलू की भाँति प्याज की गाँठों को भी ढेर में रख देने पर सड़ाव प्रारम्भ हो जाता है और बहुत-सी प्याज खराब हो जाती है। इसे ऐसे कमरे में रखना चाहिए जिसमें अधिक नमी न हो और वायु के आने-जाने का सुप्रबन्ध हो। बाँस की बनी मचानों पर रखने से प्याज कम खराब होती है। ढेर में कच्ची और कटी प्याज नहीं जाने देना चाहिए। सड़ी प्याज बाहर फेंक देना अच्छा होता है।

९—गाजर (Carrot)

हमारे देश में गाजर की दो जातियाँ पाई जाती हैं। एक तो काली होती है जो घोड़ों या पशुओं को खिलाई जाती है और दूसरी जाति लाल-पीले रंग की होती है जो मनुष्य खाते हैं। गाजर की जड़ ही काम की होती है। यह भूमि में बढ़ती है और अपने अन्दर मूली की तरह भोजन संचित करती है। पत्तियाँ जानवरों को खिला दी जाती हैं। गाजर को दवाइयों और मिठाई बनाने के काम में भी लाया जाता है।

भूमि और खेत की तैयारी—इसकी खेती दोमट भूमि में अच्छी होती है। गाजर बोने वाली भूमि को खाद की अधिक आवश्यकता होती है। गोबर की खाद १००-

१५० मन के हिसाब से भूमि में डालकर अच्छी तरह मिलाते हैं। पशुओं को खिलान के लिए बोई गई फसल को नाइट्रोजन की खाद अधिक दी जाती है और जड़ लेने के लिए फासफोरस तथा पोटाश दिया जाता है।

बीज की बोआई—गाजर छिटकवाँ और कतारों दो विधियों से बोते हैं। छिटकवाँ में खेत तैयार करके बीज बो देते हैं और फिर पाटा चला देते हैं जिससे बीज मिट्टी में ढँक जाता है। कतार में बोने के लिए मेंड़ें बना ली जाती हैं। मेंड़ों की दूरी एक से दूसरे तक १ फुट से १½ फीट रखी जाती है और पौधे से पौधे की दूरी ४" से ६" होती है। बीज १" से गहरा नहीं बोना चाहिए। बीज की मात्रा प्रति एकड़ १ से १½ सेर लगती है।

निकाई और सिंचाई—देशी बीज अगस्त-सितम्बर में और विलायती गाजर अक्टूबर-नवम्बर में बोया जाता है। पौधों के जमने के बाद कमजोर पौधों को उखाड़ कर फेंक देना चाहिए और पौधों की दूरी ठीक कर देते हैं। आवश्यकतानुसार सिंचाई करते रहना चाहिए। पानी बरसने पर तो पानी की कोई जरूरत नहीं होती पर सूखे दिनों में १५ वें दिन पानी दिया जाता है।

उपज—३ से ४½ माह में फसल तैयार हो जाती है। इसकी उपज १५०-२०० मन प्रति एकड़ होती है।

१०—मिर्चा

साधारणतया मिर्चा हमारे देश में प्रत्येक स्थानों पर उगाया जाता है। यह कई प्रकार का होता है। मोटा, लम्बा, गोल, छोटा, पतला-लम्बा, बैंगनी रंग का मोटा और पतला, तरकारी में प्रयोग किये जाने वाले गोल मिर्चे आदि कई जातियाँ हैं। इनमें से कुछ जातियाँ तो एक बार की बोई कई वर्षों तक फलती रहती हैं पर कुछ एक ही वर्ष में सूख जाती हैं।

भूमि और बोने की तैयारी—दोमट और मटियार दोमट भूमि मिर्चा के लिए उत्तम पड़ती है। मिर्चा के खेत के लिए जल-निकास का समुचित प्रबन्ध आवश्यक है। खेत को उर्वर बनाने के लिए गोबर और कम्पोस्ट की खाद मिलाते हैं पर नाइट्रोजन वाली खादें अधिक लाभकर सिद्ध होती हैं। भूमि को एक बार पंजाब या विक्ट्री हल से जोत देते हैं और फिर देशी हल की ४-५ जुताइयाँ काफी होती हैं। बीच-बीच में पाटा भी दिया जाता है ताकि मिट्टी काफी भुरभुरी हो जाय।

बेहन डालना—देशी बीज की बेहन खेत तैयार करके अप्रैल-मई में डाल देते हैं और जून-जुलाई में रोपाई करना शुरू कर देते हैं। अगस्त-सितम्बर में विलायती बीज की बेहन डालते हैं और अक्टूबर में पौधों को रोपते हैं।

रोपाई—जब पौधे ४"-६" के हो जाते हैं तो तैयार किये गये खेत में रोप लगा कर पानी दे देते हैं। यह रोपाई पंक्तियों में की जाती है। पंक्तियाँ १½'-२' की दूरी पर और पौधे ९"-१२" की दूरी पर लगाये जाते हैं।

सिंचाई—पहली सिंचाई रोपाई के शीघ्र बाद करनी चाहिए। इसके बाद प्रति १२ वें या १५ वें दिन सिंचाई की जाती है। आवश्यकतानुसार निराई और गुड़ाई भी कर दी जाती है।

उपज—शीघ्र तैयार होने वाली फसल नवम्बर से कटने लगती है और जनवरी-फरवरी तक चलती है। देर में पकने वाली फसल जनवरी-फरवरी से प्रारम्भ होकर मार्च-अप्रैल तक जाती है। उपज १०-१२ मन प्रति एकड़ होती है।

११—भिण्डी (Ladies Finger)

भिण्डी की खेती लगभग सारे भारतवर्ष में की जाती है। यह तरकारी के काम में लाई जाती है। इसका अँचार भी बनता है। इसकी दो जातियाँ हैं। (१) बरसात में बोई जाने वाली और (२) जायद की भिण्डी। पहली जाति की भिण्डी के पौधे बड़े होते हैं और इसमें अधिक फल आते हैं। दूसरी जाति के पौधे छोटे होते हैं और फल शीघ्र आते हैं।

भूमि और खेत की तैयारी—भिण्डी की खेती सभी मिट्टी में हो सकती है किन्तु हल्की और भुरभुरी दोमट भूमि अच्छी होती है। खेत में १५० मन गोबर की सड़ी खाद डाल कर देशी हल से ४-५ जुताई कर देते हैं। इससे खाद खेत में भली-भाँति मिल जाती है और मिट्टी भी भुरभुरी हो जाती है।

बीज की बोआई—खेत तैयार करके बीज बोना प्रारम्भ करते हैं। गर्मी की भिण्डी की बोआई पंक्तियों में होती है। ये पंक्तियाँ एक फुट की दूरी पर होती हैं। पौधों से पौधों की दूरी भी एक फुट रखी जाती है। इसकी बोआई फरवरी-मार्च में होती है। बरसात की फसल जून-जुलाई में बोते हैं। पहली फसल में बीज ४-५ सेर और दूसरी में ३-४ सेर प्रति एकड़ लगता है।

गुड़ाई और सिंचाई—फ़सल को २-३ बार गोड़ देना अच्छा पड़ता है। गर्मी की फसल को १५वें दिन सींचते हैं पर बरसात वाली फसल की सिंचाई नहीं करनी पड़ता।

उपज—गर्मी की फसल ५० से ६० मन और बरसात की ८५-१०० मन प्रति एकड़ उपज देती है। बीज के लिए पकी भिण्डी तोड़कर रख लेते हैं।

१२—अरवी या घुइयाँ

अरवी के तने और पत्तियाँ दोनों तरकारियों में प्रयुक्त होती हैं। पत्तियाँ जब पौधा खेत में रहता है तभी पाई जाती हैं पर तने साल भर बाजारों में मिलते हैं। अरवी की दो जातियाँ होती हैं। पहली हरी पत्ते वाली और दूसरी बैंगनी पत्ते वाली।

भूमि और खेत की तैयारी—अरवी उपजाऊ भूमि में ही उगाई जाती है। इसे जल-निकास वाले खेत में बोना अच्छा होता है। भूमि की तैयारी रबी की फसल काट कर शुरू कर देते हैं। भूमि पलटने वाले हल से खेत को जोत कर देशी हल की ५-७ जुताइयाँ की जाती हैं। खेत में गोबर की सड़ी खाद अथवा कम्पोस्ट प्रति एकड़ २०० मन के हिसाब से डालकर उसे भली भाँति मिलाते हैं। जब खेत की भूमि तैयार

हो जाय तो छोटी-छोटी क्यारियाँ बना ली जाती हैं और उन्हीं में बीजों की बोआई कर देते हैं। बीज कतार में डाले जाते हैं जिनकी आपस की दूरी एक फुट होती है। यह फसल १०-१२ मन प्रति एकड़ बीज की मात्रा लेती है।

समय—अरवी की फसल साल में दो बार की जाती है—पहली वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में मई-जून के माह में और दूसरी जनवरी-फरवरी में।

सिंचाई—बोआई के बाद यदि खेत में नमी की कमी हो तो एक हल्की सिंचाई कर देनी चाहिए। बरसात की फसल को पानी देने की आवश्यकता नहीं पड़ती परन्तु फरवरी में बोई गई फसल पानी चाहती है। हर दूसरे-तीसरे सप्ताह सिंचाई कर देते हैं। समय-समय पर फसल में निकाई-गुड़ाई कर देनी चाहिए। औसतन ५ या ६ सिंचाई की जाती है।

मिट्टी चढ़ाना—पौधे जब ८"-१०" के हो जायँ, तो उनकी जड़ों पर मिट्टी चढ़ा देते हैं। फिर जब पौधे काफी बड़े हो जाते हैं तो मिट्टी चढ़ाने की क्रिया एक बार और की जाती है। पौधों में जब८-१० पत्तियाँ आ जायँ तो नीचे की दो-तीन पत्तियाँ काटकर तरकारी के काम में लाते हैं।

उपज—जब पत्तियाँ सूखने लगती हैं तो समझना चाहिए कि घुइयाँ खोदने योग्य हो गई है। कुदाल या खुर्पी से खुदाई करके तने तरकारी के काम में लाते हैं या बेच देते हैं। बीज के लिए कुछ घुइयाँ सुरक्षित स्थान पर रख देते हैं और समय-समय पर इनकी देख-भाल करते रहते हैं।

१३—शकरकन्द (Sweet-Potato)

शकरकन्द हमारे देश में अमेरिका से लाया गया। इसकी जो जातियाँ प्रचलित हैं। पहली जाति रंग के हिसाब से लाल और दूसरी सफेद होती है।

भूमि और खेत की तैयारी—दोमट और बलुवा-दोमट भूमि इसके लिए ठीक पड़ती है पर प्रायः सभी मिट्टी में इसकी सफलतापूर्वक खेती की जा सकती है। कछार भूमि में भी यह अच्छी फसल देती है। खेत की तैयारी करते समय भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिए गोबर की सड़ी खाद २००-२५० मन प्रति एकड़ खेत में छोड़ते हैं। पोटाशयुक्त खादों के देने से फसल की उपज बढ़ जाती है।

बीज और बोआई—इसकी बोआई दो विधियों से करते हैं। पहली विधि में बेड़ लगाकर बेलें पैदा कर ली जाती हैं। इसके लिए मोटी शकरकन्द भूमि में बो दी जाती हैं। इनसे जो बेलें आती हैं उन्हें काट-काट कर खेत में रोप देते हैं। दूसरी विधि में शकरकन्द की गाँठों को काट कर खेत में बो देते हैं। गाँठें एक एकड़ में लगभग ३ मन लगती हैं। बेलों के टुकड़े १½'-२' के होते हैं जिन्हें तैयार खेत में २"-३" की दूरी पर रोप लगाते हैं।

निराई-गुड़ाई—खेत के घास-पात तो स्वयं ही लताओं की बाढ़ से दब कर समाप्त हो जाते हैं परन्तु जड़ों को मिट्टी में ठीक तरह से ढँकने के लिए खुर्पी से मिट्टी चढ़ा देते हैं। मिट्टी के भुरभुरी और नर्म रहने पर शकरकन्द अधिक मोटा होता है।

सिंचाई—यदि फसल बरसात में खड़ी है तो सिंचाई नहीं करनी पड़ती। वर्षा के बाद ३-४ सिंचाई काफी होती है।

उपज—मई-जून की बोई फसल नवम्बर तक बढ़ती है। दिसम्बर-जनवरी में इसके पौधे सूखना प्रारम्भ कर देते हैं। तभी फसल की खुदाई कर देते हैं। उपज प्रति एकड़ २०० मन तक होती है। लताओं को चारे या कम्पोस्ट में प्रयोग करते हैं।

१४—हल्दी

हमारे देश में हल्दी का प्रयोग अधिकतर मसालों में होता है। इसे रंग बनाने के काम में लाते हैं और औषधियों में प्रयोग करते हैं।

भूमि की तैयारी—दोमट भूमि में यह अच्छी फसल देती है पर इसे कछारों में भी उगा सकते हैं। हल्दी को बागों में पेड़ों के साये में पैदा किया जा सकता है। इसकी जुताई शुरू बरसात में अथवा मई के आखिरी सप्ताह में खेत में पलेवा करके प्रारम्भ करते हैं। ४-५ गहरी जुताइयाँ करके खेत में मेंड़ें और नालियाँ बना ली जाती हैं। भूमि की उर्वरता बढ़ाने के लिए २००-२५० मन सड़ी गोबर की खाद खेत में भली-भाँति मिलाते हैं। पत्ती की सड़ी खाद अधिक लाभ दिखाती है।

बोआई—खेत में १½'-२' दूरी की कतारें बना ली जाती हैं और उन्हीं में हल्दी की गाँठें बो दी जाती है। गाँठों के आपस की दूरी एक फुट तक रखते हैं। प्रति एकड़ ८-१० मन बीज लगता है।

निकाई-गुड़ाई—आवश्यकतानुसार निराई कर देनी चाहिए। फसल में एक-दो बार जड़ों के ऊपर मिट्टी चढ़ाना चाहिए। इससे गाँठें अधिक मोटी होती हैं।

सिंचाई—वैसे सिंचाई की जरूरत नहीं होती। किन्तु बरसात से पहले या बाद में यदि फसल में नमी की जरूरत मालूम पड़े तो पानी दे देना चाहिए।

उपज—हल्दी की फसल के तैयार होने का प्रमाण पत्तों का सूखना है। पत्तों के सूख जाने पर कुछ समय तक गाँठों को भूमि में पड़े रहने देना चाहिए। दिसम्बर के महीने में इनकी खुदाई करते हैं। इसे सुरक्षित रखने के लिए मिट्टी में गड्ढे खोद कर रख देते हैं। खाने वाली हल्दी तैयार करने के लिए उसे भली-भाँति धोते हैं। धोने पर गाँठों को तोड़ कर उबलते हुए पानी में छोड़ दिया जाता है। फिर सुखा कर रगड़ दिया जाता है और पुरानी हल्दी के रंग से रंग देते हैं। इसकी उपज ७० मन प्रति एकड़ होती है।

१५—मेथी

मेथी का बीज मसालों में प्रयोग होता है। इसकी पत्तियाँ तरकारी बनाने के काम आती हैं। इसे चारे में भी काम में लाया जाता है। यह रबी की फसल है।

भूमि और उसकी तैयारी—इसकी खेती दोमट भूमि में की जाती है पर अन्य भूमियों में भी यह उगाई जा सकती है। मेथी उगाने वाले खेत पहले मिट्टी पलटने वाले हल से एक बार जोत लेते हैं फिर गोबर की सड़ी खाद १००-१२५ मन प्रति एकड़ के हिसाब से छोड़ देते हैं। खाद मिट्टी में मिला देने के लिए देशी हल से ३-४ जुताइयाँ करके मिट्टी को काफी भुरभुरी बना देते हैं।

बोआई—सितम्बर-अक्टूबर के माह में खेत में क्यारी और बरहे बना कर बीज छिड़क देते हैं और फिर हैरो चला कर बीज मिट्टी में मिला देते हैं।

बीज की मात्रा—प्रति एकड़ ५—७ सेर मेथी का बीज पर्याप्त होता है।

सिंचाई—पहली सिंचाई बोआई के शीघ्र बाद ही कर देनी चाहिए। फिर आवश्यकतानुसार २—३ सिंचाई करते हैं।

निकाई—पौधों के साथ उग आये खर-पतवार खुर्पी की सहायता से निकाल कर फेंक देना चाहिए।

कटाई—जिस फसल की हरी तरकारी तैयार करनी हो अथवा चारा लेना हो उसे दो माह के बाद ही काटना शुरू कर देते हैं। क्यारी की कटाई बारी-बारी करते हैं ताकि उन्हें पनपने का मौका मिले।

बीज—जब खेत से बीज लेना हो तो कटाई नहीं की जाती। ६ माह में बीज पक कर तैयार हो जाता है।

उपज—१००-१५० मन शाक और ४—५ मन बीज प्रति एकड़।

प्रश्न

१. गेहूँ की खेती का ढंग संक्षिप्त में लिखो। बीज, खाद तथा सिंचाई का भी विवरण दो। मुख्य किस्मों के नाम लिखो। (१९५०)

२. कपास की खेती के ढंग का संक्षिप्त वर्णन करो। आवश्यक बीज, खाद तथा सिंचाई का विवरण दो। (१९५१)

३. गन्ने की खेती के ढंग का संक्षेप में वर्णन कर, आवश्यक बीज, खाद तथा सिंचाई का उल्लेख करो। (१९५२, ५४)

४. आलू की खेती का वर्णन करते हुए बताओ कि वर्ष भर में आलू की खेती कितनी बार की जाती है ? (१९५३)

५. धान बोने का समय, बीज, खाद की मात्राएँ तथा सिंचाई व कटने का समय बताओ। (१९५३)

६. गोभी की खेती का ढंग बताओ तथा प्रत्येक काम करने का समय भी बताओ। (१९५४)

७. धान की खेती का संक्षिप्त वर्णन कीजिये। इसमें और जापानी ढंग में क्या भिन्नता है ? (१९५६)

८. तरकारी की खेती नगरों से दूर क्यों कम की जाती है ? इसकी खेती बढ़ाने के लए तुम क्या सुझाव दोगे ? (१९५६)

९. निम्नांकित फसलों के बोने का समय, बोने की रीति, प्रति, एकड़ बीज की मात्रा, पंक्ति से पंक्ति तथा पौधे से पौधे की दूरी और प्रति एकड़ उपज सारणी के रूप में लिखो :—

आलू, टमाटर, मक्का। (१९५६)

मुख्य फसलों की सूची

क्रम सं०	फसलें	बोने का समय	बीज दर प्रति एकड़	भूमि	सिंचाई	कटने का समय	उपज मन में
१	धान	मई-जुलाई	२५-३० सेर छिटक कर ४०-५० सेर बेहन	मटियार-दोमट व ऊसर	वर्षा के पहले २-३ वर्षा न होने पर जरूरत समझ कर	सितन्बर से लेकर अक्टूबर तक	रोपुआ २५-३० मन छिटकवाँ १५-२० मन
२	गेहूँ	१५ अक्टूबर से १५ नवम्बर परन्तु अक्टूबर का अन्तिम सप्ताह उत्तम पड़ता है।	४०-५० सेर	दोमट-मटियार	२-३ सिंचाई	मार्च-अप्रैल	दाना २०-२५ मन भूसा ४०-५० मन
३	जौ	अक्टूबर-नवम्बर	४०-५० सेर	दोमट-मटियार	२ सिचाई काफी है।	मार्च-अप्रैल	बिना सींचे ८-१० मन सींचे खेतों में १५-२० मन
४	चना	सितम्बर-अक्टूबर	३०-४० सेर	मटियार-दोमट नीची भूमि या बिना तैयार भूमि ठीक पड़ती है।	१ सिंचाई	मार्च	५-८ अच्छी फसल १८-२० मन

५	मक्का	मई-जुलाई	६-८ सेर		शीघ्र बोई फसल में सिंचाई	जुलाई-सितंबर	दाना २०-२५ मन कड़वी ६०-७०मन
६	कपास	मई-जुलाई	६-८ सेर		पलेवा करके बोने पर १ २ सिंचाई	अक्टूबर-दिसंबर	देशी ५-६ मन, अमेरिका ९-१५ मन
७	मटर	सितंबर-अक्टूबर	२०-४० सेर	दोमत-बलुवार	२ सिंचाई	मार्च-अप्रैल	१०-१५ मन
८	सरसों	अक्टूबर-नवम्बर	२-३ सेर	"	२ सिंचाई	मार्च-अप्रैल	८-१० मन
९	ज्वार	जून-जुलाई	४-५ सेर	बलुवार-दोमट	१ "	अक्टूबर-नवम्बर	१८-२० मन दाना
१०	अरहर	जुलाई	७-८ सेर	दोमट	१ सिंचाई	दिसंबर-मार्च	१५-२० मन
११	तम्बाकू	जनवरी	१ छटाँक	"	६-८ सिंचाई	फरवरी-जून	१०-१५ मन
१२	सनई	जुलाई	१०-३०	प्रत्येक भूमि में	पलेवा पर एक सिंचाई	अगस्त-खाद सितम्बर-रेशे अक्टूबर-दाना	दाना १०-१५ मन
१३	मूंगफली	पलेवा देकर मई के अन्त में। वर्षा के साथ जून में	३५-४० सेर	दोमट	१ या २ पलेवा वाली फसल में	अक्टूबर-नवम्बर	१०-३० मन
१४	अंडी	मार्च-जुलाई	७-८ सेर	प्रत्येक-भूमि	१-२ सिंचाई	दिसंबर-जनवरी	६-८ मन
१५	बरसीम	अक्टूबर-नवम्बर	छिटकवाँ २० सेर पंक्तियों में १५ सेर	"	६-७ सिंचाई	दिसम्बर	५००-६०० मन चारा

क्रम सं०	फसलें	बोने का समय	बीज दर प्रति एकड़	भूमि	सिंचाई	काटने का समय	उपज
१६	मेथी	नवम्बर	१०-१२ सेर	प्रत्येक भूमि	२-३ सिंचाई	जनवरी-फरवरी	२०० मन चारा
१७	रिजका	अक्टूबर	६-८ सेर	"	८-१० "	जनवरी से	६००-८००
१८	नेंपियर	जुलाई	१५-२० मन	"	६-८ "	वम्बर	१०००-१२००
१९	गाइना घास	जुलाई	१२-१५ मन जड़ें	"	६-८ "	नवम्बर	८००-१०००
२०	कुसुम	अक्टूबर	६-७ सेर	"	२-३ "	मार्च-अप्रैल	१२-१५ मन
२१	मूंग	जुलाई	५-६ सेर	"	"	अक्टूबर	८-१० मन दाना
२२	उर्द	जुलाई	५-६ सेर	"	" "	अक्टूबर-नवम्बर	१०-१२ मन दाना
२३	गाजर	अगस्त-नवम्बर	३-४" सेर	"	५-६ "	दिसम्बर	१५०-२०० मन
२४	ज्वार	जून-जुलाई	१५-२० सेर	"	—	अगस्त	२०० मन दाना

मुख्य तरकारियों की सूची

क्रम सं०	फसल	बोआई का समय	बीज दर प्रति एकड़	पंक्ति से पंक्ति की दूरी	पौधे से पौधे की दूरी	उपज
१	आलू	पहाड़ी जातियाँ— जनवरी-फरवरी देशी जातियाँ— सितम्बर से अक्टूबर	५-१० मन	$१\frac{१}{२}$ फीट २ फीट	६"-९"	१५०—३०० मन
२	टमाटर	जुलाई-अक्टूबर	२-३ छटाँक	२-३ फीट	$१\frac{१}{२}$—२ फीट	१५०—२०० मन
३	बैंगन	जून-जुलाई- अक्टूबर-फरवरी	२-३ छटाँक	२-$२\frac{१}{२}$ फीट	$१\frac{१}{२}$ फीट—२ फीट	२००—२५० मन
४	फूल गोभी	जुलाई-सितम्बर अक्टूबर	३-४ छटाँक	२.$२\frac{१}{२}$ फीट	$१\frac{१}{२}$ —२ फीट	५००० फूल
५	गाँठ गोभी	सितम्बर-अक्टूबर	८-१० छटाँक	$१\frac{१}{२}$ फीट	१ फीट	२०० मन
६	पात गोभी	सितम्बर-नवम्बर	२-३ छटाँक	२ फीट	$१\frac{१}{२}$ फीट	२०००—६००० फूल
७	मूली	पहली बोआई जुलाई-अगस्त दूसरी अक्टूबर-नवम्बर	२-३ सेर	९"—१२"	४—६"	२५०—३०० मन

क्रम सं०	फसल	बोआई का समय	बीज दर प्रति एकड़	पंक्ति से पंक्ति की दूरी	पौधे से पौधे की दूरी	उपज
८	प्याज	अक्टूबर-नवम्बर	२–३ सेर	१–१½'	६"–९"	२००–१५० मन
९	गाजर	अगस्त-अक्टूबर	२–३ सेर	८"–१२"	४–६"	१५०–२०० मन
१०	मिर्च	जुलाई	३–४ छटाँक	१–१½'	९–१२"	१०–१२ मन
११	भिण्डी	(१) जून-जुलाई (२) फर्वरी-मार्च	३–५ सेर	१–२'	१–१½'	५०–१०० मन
१२	अरवी	(१) जुलाई (२) फर्वरी-मार्च	५–६ मन	१½–२'	८–१२"	१५०–२०० मन
१३	शकरकन्द	जुलाई	७–८ मन लताएँ	१–१½'	८–१२"	२५० मन
१४	हल्दी	फर्वरी-जुलाई	८–१० मन हरी गाँठ	१–१½'	८–१२"	१५० मन हरी गाँठ
१५	मेथी	सितम्बर-अक्टूबर	५–७ सेर कहय-कहीं १२–१५ सेर	छिटकवाँ		१००–१५० मन

अध्याय १०

बाग लगाना

हमारे देश में बहुत पुराने समय से फलों और फलदार पेड़ों का महत्व चला आ रहा है। रामायण और महाभारत काल के इतिहास के अध्ययन से हमें पता चलता है कि तत्कालीन ऋषि-महर्षि जंगलों में निवास करते थे। उन जंगलों में उन्हें नाना प्रकार के कन्दमूल-फल प्राप्त होते थे जिन्हें खाकर वे अपना जीवन-कायम रखते थे। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि फल एक पौष्टिक पदार्थ है और इसे खाकर अन्न की अनुपस्थिति में भी जीवित रहा जा सकता है। इनमें वे प्रत्येक तत्व पाये जाते हैं जो जीवन के लिए आवश्यक हैं। ऐसा भी देखा गया है कि फल पर निर्भर रहने वाले व्यक्ति का मस्तिष्क अन्न खाने वाले मनुष्य से काफी विकसित और तीक्ष्ण होता है। भोजन के साथ फलों का सेवन आवश्यक है इससे, शरीर के अन्दर वे कमियाँ जो भोजन लेने से बनी रहती हैं, दूर हो जाती हैं।

भारतवर्ष की भूमि ऐसी है कि इसमें अनेक प्रकार के फल उत्पन्न किए जा सकते हैं सेव, आम, अमरूद, नासपाती, अनार, नीबू, पपीता आदि विभिन्न फल यहाँ उगाये जाते हैं किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे देश की निर्धन जनता को ये उपलब्ध नहीं हो पाते। ये इतने महँगे बिकते हैं कि केवल उच्चवर्ग के लोग ही इन्हें खरीद सकते हैं। देहातों में प्रथम तो उनकी उपज कम है और यदि मिलते भी हैं तो बड़े महँगे। अतः अच्छा रहते हुए भी हमारे देश की अधिकांश जनता फल के स्वाद से दूर रह जाती है। यदि इन फलों की खेती उचित ढंग से की जाय तो जन-साधारण लाभ उठा सकते हैं और सस्ते भी हो सकते हैं। हमारी भूमि इन फलों को उगाने के योग्य है ही, बीज मिल ही सकते हैं। यदि आवश्यकता है तो फल लगाने के ज्ञान की। किसानों को फलों की खेती का ढंग विस्तारपूर्वक बताया जाय तो सम्भव है यह कमी किसी सीमा तक दूर हो जावे। यदि उन्हें प्रयोगात्मक ढंग से समझाया जाय तो इस कार्य में शीघ्रता हो सकती है।

फलों की खेती दो प्रकार से की जाती है (१) व्यापार के लिए और (२) अपने उपयोग के लिए। जिस प्रकार फसलों, शाक-सब्जियों आदि की खेती होती है ठीक उसी प्रकार फल की भी खेती होती है। अपनी आवश्यकता भर फल रख कर अन्य बाजार में बेच देना चाहिए। इससे लाभ होगा और शरीर की आवश्यकता भी पूरी होगी। ऐसा देखा जाता है कि देहातों में यह सुविधा न होने के कारण गरीब किसान रुग्णावस्था में भी फल नहीं पाते। वैद्य उन्हें फल उपयोग करने को बतलाता है किन्तु यह उनकी पहुँच के बाहर रहते हैं। खेती होने पर यह कठिनाई नहीं आने पायेगी।

जो फल हरे या सूखे नहीं रखे जा सकते उन्हें तत्काल प्रयोग में लाना चाहिए और जो सुखा कर बहुत दिनों तक रखे जा सकते हैं, उन्हें अपने पास कुछ दिनों तक रखना चाहिए। हम इस अध्याय में बाग लगाने के ढंगों पर ही विचार करेंगे।

बाग लगाने में ध्यान देने योग्य बातें—बाग लगाते समय कुछ बातों पर ध्यान देना पड़ता है जिससे फल अच्छे आते हैं और लाभ भी अधिक होता है। साधारणतया दो प्रकार के बाग लगाये जाते हैं—

(१) बेफलदार तथा
(२) फलदार।

बेफलदार बाग में अनेक प्रकार के फूल और ऐसे वृक्ष आते हैं जो फल नहीं देते अथवा जिनके फलों का कोई महत्व नहीं होता। ऐसे वृक्ष अमीर लोगों के बागों में लगाये जाते हैं जो केवल सुन्दरता के लिए उगाये जाते हैं। कुछ इतने सुन्दर और सुगन्धित फूल देते हैं जिनसे उपवन की छटा अधिक बढ़ जाती है। किन्तु इनका कृषि में उतना महत्व नहीं जितना फलदार वृक्षों का है।

फलदार वृक्ष में वे सभी वृक्ष आते हैं जो फल देते हैं। ये वृक्ष बाग की शोभा बढ़ाने के साथ-साथ कृषक को लाभ भी पहुँचाते हैं। यदि इनकी खेती व्यापार के दृष्टिकोण से नहीं करनी हो तो घर के समीप ही थोड़े स्थान में एक छोटा-सा बाग लगाना चाहिए। बाग लगाने में निम्नलिखित चार बातों की आवश्यकता होती है—

१. भूमि,
२. सिंचाई का प्रबन्ध,
३. आँधी से रक्षा, तथा
४. वृक्षों की देखाल।

१. भूमि—यहाँ हमें देखना यह है कि बाग लगाने के लिए कैसी भूमि उपयुक्त होती है। एक स्थान से दूसरे स्थान की भूमि गुण रंग आदि में भिन्न होती है किन्तु बाग लगाने के लिए तो कहा जाता है कि 'कोई भूमि अनुपयुक्त नहीं है' प्रत्येक प्रकार की भूमि में कुछ न कुछ गुण होते हैं और उन गुणों का लाभ उठाकर कुछ कृत्रिम बातें जोड़ कर हम उसे इस योग्य बना सकते हैं कि वह अच्छी उपज दे सके। भूमि की उर्वरता परिश्रम पर निर्भर करती है।

गुण के आधार पर भूमि दो प्रकार की होती है: (१) हल्की और (२) भारी। हल्की भूमि के कण बड़े-बड़े होते हैं। भूमि में उपस्थित बालू के कण बड़े-बड़े होते हैं। हल्की भूमि नमी शीघ्र ले लेती है और शीघ्र निकाल भी देती है। इसे कृषि के उपयुक्त बनाने के लिए सड़ी गोबर की खाद या कम्पोस्ट की खाद दी जाती है। पत्तियों की खाद अधिक लाभ दिखाती है। बनावटी खादों का प्रयोग सफलता पूर्वक किया जा सकता है। इससे भूमि की नमी रोक रखने की शक्ति बढ़ती है। भारी मिट्टी के कण बहुत बारीक होते हैं। ये नमी को ले लेते हैं और शीघ्र लसदार हो

जाते हैं। ऐसी भूमि सूखने पर बहुत कड़ी हो जाती है। इसे सुधारने के लिए इसमें बालू का कुछ अंश मिलाते हैं अथवा अच्छी सड़ी खादों का प्रयोग करते हैं ताकि इसका टेक्सचर ठीक हो

जिस भूमि में बाग लगाना हो, पहले उस भूमि की परीक्षा कर लेनी चाहिए। इसके लिए एक गड्ढा खोद कर यह देखना चाहिए कि यहाँ की भूमि कैसी है। कंकड़-पत्थर वाली भूमि ठीक नहीं पड़ती। बाग लगाने के लिए कंकड़ों को भूमि से निकाल कर बाहर फेंक देना चाहिए। दूसरी बात यह देखनी चाहिए कि इस भूमि में सूर्य का पर्याप्त प्रकाश मिलता है क्या नहीं। तीसरी चीज कि उसमें कैसी वनस्पतियाँ उगाई जा सकती हैं। चौथी चीज यह देखना चाहिए कि भूमि के जल-निकास का सुप्रबन्ध है अथवा नहीं। इसके लिए जमीन में छोटे-छोटे सूराख कर देना चाहिए। यदि भूमि में पानी का निकास अच्छा होगा तो ये सूराख वैसे ही रहेंगे पर जब पानी जमा रहता होगा तो ये थोड़े ही समय में पानी से भर जायेंगे। बाग लगाने में मटियार, कंकरीलो व पथरीली भूमि ठीक नहीं पड़ती। इसके लिए दोमट भूमि विशेष अच्छी होती है।

जिस खेत में बाग लगाना हो उसे जनवरी-फरवरी के महीने में मिट्टी पलटने वाले हल से एक या दो बार जोत देना चाहिए। भूमि की किस्म के अनुसार खाद की मात्रा भी मिलाते हैं। अच्छा हो, यदि भूमि में हरी खाद का प्रयोग किया जाय। शुरू बरसात में सनई का बीज ४० सेर प्रति एकड़ के हिसाब से बो देना चाहिए। सितम्बर-अक्टूबर के माह में पलटाई करके जुताई प्रारम्भ कर देते हैं। ४-५ जुताई देशी हल द्वारा करने पर भूमि ठीक हो जाती है अब जैसा बाग लगाना हो, उसके अनुसार कतारें और गड्ढे बनाना प्रारम्भ करते हैं। पौधे लगाने के लिए गड्ढों की लम्बाई-चौड़ाई उनकी जाति के अनुसार होनी चाहिए। छोटे पेड़ों के लिए ३'×३'×३' और बड़े पेड़ों के लिए ४'×४'×३' गड्ढा तैयार करते हैं। गड्ढों में खाद की अच्छी मात्रा छोड़नी चाहिए। इन गड्ढों की आपस की दूरी वृक्षों के आकार पर निर्भर करती है। यदि वृक्ष अधिक स्थान घेरने वाला हो और अधिक ऊँचाई तक जाता हो तो गड्ढों की दूरी अधिक रखते हैं। आम, लीची, कटहल, अमरूद आदि बड़े पेड़ों की दूरी २५ से ४० फीट तक रखते हैं। छोटे आकार वाले वृक्षों की आपस की दूरी कम ही रखी जाती है।

बाग में वृक्षों का क्रम—खेत को तैयार करके जो गड्ढे तैयार किये जाते हैं उन्हें इस हिसाब से बनाते हैं कि बाग के पेड़ों का क्रम सुव्यवस्थित हो। दूर से देखने पर ये अच्छे जान पड़ें। उनका क्रम बिखरा हुआ और जंगल की भाँति न हो। ये क्रम गड्ढों के निर्माण के समय ही ठीक किये जाते हैं। यह तीन प्रकार से होता है—

(१) वर्गाकार या आयताकार क्रम,
(२) पंचभुजाकार तथा
(३) षट्भुजाकार।

वर्गाकार क्रम में बाग लगाने वाले सारे क्षेत्र को वर्गों या आयतों में विभाजित कर लेते हैं और इनकी भुजाएँ उतनी रखते हैं जितनी एक पेड़ से दूसरे पेड़ की

दूरी होना चाहिए। भुजाओं के मिलने वाले स्थान पर गड्ढे बना कर पौधे लगाते हैं। दूसरे प्रकार के क्रम में आयत या वर्ग के कर्णों के काटने वाले स्थान में अस्थायी वृक्ष लगाते हैं। जो प्रति दूसरे-तीसरे वर्ष काट लिये जाते हैं। तीसरा क्रम पहले दोनों क्रमों से सघन होता है। इसमें वृक्षों के गड्ढे षट्कोण आकृति के बनाते हैं। इस क्रम द्वारा कम क्षेत्र में अधिक वृक्ष लगाये जा सकते हैं, जैसा कि नीचे के चित्रों से स्पष्ट होता है।
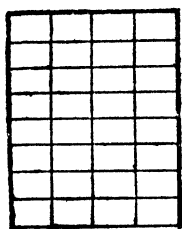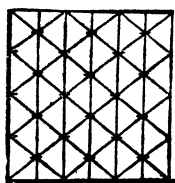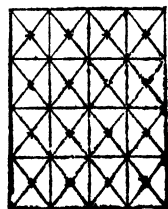
चित्र १०३—पेड़ लगाने का ढंग

पौधे तैयार करना—वृक्ष की जाति को स्थिर रखने के लिए दो प्रकार से उत्पादन किया जाता है। प्रथम तो वृक्ष की कलियों, टहनियों अथवा तनों की कलम लगा कर जिसका अध्ययन पिछले पृष्ठों में किया गया है और दूसरा उत्पादन बीजों द्वारा होता है। वृक्ष के अच्छे बीज चुनकर पौध-घर में बो देते हैं। बोने के पहले इसे खाद आदि देकर खूब उपजाऊ बना लेते हैं। बीज बोते समय भूमि में नमी का ध्यान रखना चाहिए। अच्छा हो, यदि बोआई बरसात में की जाय। बरसात में भूमि में नमी मौजूद रहती है। इससे सिंचाई का खर्च बच जाता है। बरसात के बाद पौधों की आवश्यकतानुसार सिंचाई करते रहते हैं। गुड़ाई और निकाई भी यथासमय करते रहना चाहिए। खाद की कमी न होनी चाहिए। जब पौधे १′—२′ के हो जायँ तो उन्हें पौध-घर से मिट्टी सहित निकाल कर तैयार किये गए गड्ढों में रोप देना चाहिए। रोपते समय पौध घर की मिट्टी का रहना लाभकर होता है। कभी-कभी बीजों को गमलों में तैयार किया जाता है और बड़े होने पर गड्ढों में लगा दिया जाता है।

२. **सिंचाई**—बाग में वृक्षों की सफल कृषि के लिए सिंचाई की उत्तम व्यवस्था जरूरी है। अतः बाग लगाते समय ही उस स्थान पर सिंचाई के साधनों का ध्यान रखना चाहिए। यदि सिंचाई का प्रबन्ध ठीक नहीं है तो फसल अच्छी नहीं हो सकती। पानी के अभाव में पौधे सूख जाते हैं, उनकी पत्तियाँ मुरझा जाती हैं, फूल गिर जाते हैं और फल छोटे लगते हैं। अतः भूमि के साथ-साथ पानी की सुविधा पर भी ध्यान

देना चाहिए। बाग के आकार, वृक्षों के क्रम और उनकी आपस की दूरी के आधार पर चार प्रकार से सिंचाई की जाती है।

पहली विधि में पेड़ों की कतारों में नालियाँ इस हिसाब से बना ली जाती हैं कि पेड़ नाली के मध्य में आ जायँ। इससे पानी कम लगता है और सिंचाई भी शीघ्र हो जाती है।

दूसरी विधि थालों में की जाती है, दो कतारों के बीच में नालीं बना लेते हैं। वृक्ष के तने के चारों ओर अँगूठी के आकार का थाला बना लेते हैं। यह थाला पेड़ के बढ़ने के अनुसार ही बढ़ाते रहना चाहिए। नाली को इनसे इस प्रकार सम्बन्धित कर देना चाहिए कि पानी नाली से होकर इनमें पहुँच जाय।

तीसरी विधि क्यारी बनाकर सिंचाई करने की होती है। इसमें बाग की सभी भूमि सींची जाती है। यह प्रायः उन पौधों में की जाती है जो आकार में छोटे और निकट-निकट लगाये जाते हैं।

३. **आँधी और तेज वायु से वृक्षों की रक्षा**--प्रायः यह देखा जाता है कि तेज हवा या आँधी के आने से शाखाएँ और टहनियाँ टूट जाया करती हैं और छोटे-छोटे वृक्ष तो जड़ समेत ही उखड़ जाया करते हैं। इससे कभी-कभी बहुत हानि उठानी पड़ जाती है। गर्मी के दिनों में लू लग जाने से भी बहुत से पौधे झुलस जाया करते हैं। इनसे रक्षा करने के लिए वायु-अवरोध वृक्ष लगाये जाते हैं। ये बाग के चारों ओर लगाये जाते हैं। ये घने और इतने ऊँचे होते हैं कि वायु के झोकों का प्रभाव इन्हीं तक सीमित रह जाता है? बाग के अन्दर के वृक्ष बिल्कुल सुरक्षित ही बच जाते हैं। लू के दिनों में भी इनपर प्रभाव नहीं पड़ने पाता। यदि लू का अधिक भय हो तो बाग के पश्चिमी किनारे पर ऊँची और घनी टट्टियाँ लगा देते हैं।

४. **वृक्षों की देख-भाल**--उपर्युक्त तीनों बातों के पश्चात् वृक्ष की देखभाल करना आवश्यक होता है। भूमि, सिंचाई की उत्तम व्यवस्था और वायु, प्रकाश आदि से रक्षा करते हुए भी कभी कभी पेड़ों में अच्छे फल नहीं आते। इसका कारण पौधे के जीवन में किसी तत्व विशेष का अभाव है। ऐसी परिस्थिति में पौधों को वही पदार्थ देना आवश्यक होता है। पौधे का उचित समय में सिंचाई, गुड़ाई, निकाई आदि सभी क्रियाएँ करनी चाहिए। अधिक पानी देना भी हानिकर होता है। खाद की उचित मात्रा ही हितकर होती है। कम या अधिक खाद लाभ के स्थान पर हानि करती है। वृक्षों में अनेक प्रकार की व्याधियाँ और कीड़े-मकोड़े लगते हैं जो बाग की उपज में घाटा ला देते हैं। ये व्याधियाँ कई प्रकार की होती हैं। कुछ पत्तियों में काले धब्बे पड़ जाते हैं और कुछ में चाँदी का रंग के धब्बे पड़ते हैं। ये गुलाब और बेर में पाये जाते हैं। मूली और गोभी में जड़ों की बीमारी होती है। इस प्रकार अनेक व्याधियाँ पेड़ों पर आक्रमण करती हैं। कुछ छोटे-छोटे कीड़े, घोंघे, चूहे, चीटियाँ, चीटे, चिड़ियाँ, मक्खियाँ आदि कीड़े भी वृक्षों को हानि पहुँचाया करते हैं। चतुर कृषक को इन बीमारियों और कीड़ों की पहचान करके इन्हें दूर करने का उपाय करना चाहिये।

छोटे-छोटे पौधे में पाले का भय रहता है। इससे बचाने के लिए बाग में सिंचाई कर दी जाती है अथवा धुवें आदि से बाग का तापक्रम बढ़ या जाता है जिससे इसका प्रभाव न पड़ सके। बाग में बन्दर और लंगूर आदि भी धावा बोलते हैं जो केवल फलों को ही नहीं खाते हैं, पत्तियाँ और टहनियाँ भी तोड़ डालते हैं। बाग को इनसे बचाना पड़ता है।

फलों की रक्षा—वे फल जो अधिक दिनों तक टिक नहीं सकते कई विधियों से सुरक्षित रखे जाते हैं। शीत भण्डार में कमरे का तापक्रम घटाकर फल को सड़ने से बचाया जा सकता है? बोतलों में भी कुछ फल जो कम मात्रा में होते हैं, सुरक्षित रखे जा सकते हैं। नमक लगाकर, धुआँ देकर या सुखाकर रखने की विधि तो पुरानी है। कुछ फलों की जेली, जैम और मुरब्बे आदि बना लिये जाते हैं। फलों की अपेक्षा ये चीजें अधिक दिनों तक रखी जा सकती हैं और इनका स्वाद भी स्वादिष्ट होता है।

कुछ प्रसिद्ध फल

१—आम (Mango)

आम भारत के मुख्य फलों में एक है। इसका मूल स्थान हमारा ही देश बतलाया जाता है क्योंकि प्राचीन काल से इसकी खेती यहाँ होती आ रही है। इसकी खेती अन्य फलों की अपेक्षा अधिक क्षेत्र में होती है। देहातों में आम के पेड़ में जब से बौर आ जाते हैं और फल लगना प्रारम्भ हो जाते हैं, लोग पत्थरों से मारना और फल तोड़ना शुरू कर देते हैं। यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि आम की फसल समाप्त नहीं हो जाती। आम पकने के दिनों में तो बागों में रंग रहता है। बाल मंडली की बैठक इतस्ततः खूब जमती है। इस प्रकार जिनके बाग होते हैं वे तो आम खाते ही हैं, अन्य लोगों को भी सरलतापूर्वक उपलब्ध हो जाता है। शहरों में भी यह लोगों को आसानी से मिल जाया करता है।

आम की जातियाँ—आम की अनेक जातियाँ हैं। रूप, रंग, गुण आदि के आधार पर इनकी जातियों के नामकरण कर दिये गए हैं। सुर्खा, जर्दा, खट्टा, काला, गोला, ककड़िया, अँचारू, कचमिट्ठा, स्टौकार्ट, लंगड़ा, सफेदा, खपरिया, चौसा, लम्बा भडरा, फकीर वाला आदि। कुछ आम स्थान के अनुसार पुकारे जाते हैं, जैसे बम्बई कलकतिया, लखनऊ सफेदा, सिंगापुरी, मलीहाबादी, लंगड़ा बनारसी, दानापुरी, दसहरी आदि। इनमें कुछ आम समय के पहले ही पक जाते हैं। इन्हें शीघ्र पकने वाली जातियाँ कहते हैं। इसके उदाहरण स्टौकार्ट, बम्बई, कचमिट्ठा आदि हैं। कुछ समय पर अर्थात् जून-जुलाई में पकते हैं। इसके उदाहरण खपरिया, सिंगापुरी, गोपालभोग, लखनऊ सफेदा, सफेदा नं० १ आदि हैं। तीसरी देर में पकने वाली जातियाँ हैं जिसमें लम्बा भडरा, हाथीझूल, चौसा, फकीर आदि हैं।

भूमि और जलवायु—कँकरीली-पथरीली भूमि आम के लिए उपयुक्त नहीं होती। नीची और मटियार में भी अच्छी उपज नहीं होती। दोमट भूमि आम के लिए बहुत अच्छी सिद्ध हुई है। अलूवियल मिट्टी में भी इसकी उपज सफलतापूर्वक ली जा सकती है। इसके बोने के लिए ३ फीट चौड़ा, तीन फीट लम्बा और तीन फीट गहरा गड्ढा खोदना चाहिए। उत्तम हो, यदि स्थान पर ३ फीट गहरी मिट्टी हो। गड्ढे में पत्तियों की खूब सड़ी खाद छोड़ना चाहिए और थोड़ी-सी मिट्टी भी मिलानी चाहिए। इससे भूमि खादयुक्त हो जाती है और गड्ढा भी भर जाता है। ऐसे गड्ढों में आम का पौधा तेजी से बढ़ता है।

आम की फसल गर्म जलवायु पसन्द करती है क्योंकि अत्यन्त सर्द स्थानों पर यह नहीं उगाया जाता। गर्मी के साथ-साथ सूखी और नम दोनों ऋतुएँ इसके लिए आवश्यक हैं। बौर आते समय या आने के पहले शुष्क ऋतु और पकते समय या पकने के बाद बरसात जरूरी है। बौर आते समय यदि पानी बरस जाय तो सारी फसल ही चौपट हो जाती है क्योंकि बौर धुल जाते हैं और उनके फूल सूख जाते हैं। कभी-कभी आम की फसल पर पाले का प्रभाव पड़ता है जो उपज में कमी ला देता है। जहाँ बराबर वर्षा होती रहती है वहाँ आम की फसल नहीं ली जा सकती। इसके लिए ३५"-८५" तक वर्षा वाले स्थान ही उपयुक्त होते हैं। कम पानी बरसने वाले स्थानों पर आवश्यकतानुसार सिंचाई करनी पड़ती है। किन्तु अधिक वर्षा वाले स्थानों पर इसकी कोई जरूरत नहीं होती।

आम के पौधे तैयार करना—आम के पौधे दो तरह से तैयार किये जाते हैं। बीज द्वारा और कलम लगा कर। पहली विधि में आम की गुठली गूदे खाकर इकट्ठी कर ली जाती है और उसे बाग में एक कोने में क्यारी बना कर बो देते हैं। इसमें बीजों का थोड़ी-थोड़ी दूर पर रखना चाहिए। यह दूरी १'—१½' तक होती है। ३ या ४ सप्ताह में गुठली में अँखुए निकल आते हैं। गुठली को मिट्टी से ढक देना अच्छा होता है। बरसात के बाद क्यारी में आवश्यकतानुसार सिंचाई कर दिया करते हैं। गुड़ाई कर देने से भूमि की नमी देर तक बनी रहती है। क्यारी में समय-समय पर खाद भी मिलाते रहना चाहिए। ऐसा करते रहने से १–१½ वर्ष में पौधे रोपने योग्य हो जाते हैं। जब पौधे १½'–२' के हो जायँ तो इन्हें रोप देना चाहिए।

दूसरी विधि में पौधे कलम लगाकर बोये जाते हैं। इसमें भी कलम लगाने से पहले गुठली गमले में या अन्य किसी स्थान पर उगाई जाती है। इसका भी ध्यान वैसे ही रखा जाता है जैसे क्यारी में बोये गए पौधों का रखा जाता है।

पौधों की रोपाई—जब पौधे रोपने योग्य हो जाते हैं तो इनके लिए बाग म कतारों में गड्ढे बना लिये जाते हैं। गड्ढों का क्रम वैसे ही रखना चाहिए जैसा उत्पादक को पसन्द हो। यदि क्षेत्र अधिक हो और कम पेड़ लगाना हो तो वर्गाकार क्रम ही

अच्छा पड़ता है पर अधिक वृक्ष लगाने के लिए षट्भुजाकार क्रम प्रयोग किया जाता है। गड्ढे जैसा कि ऊपर बताया गया है, तैयार करके पौधे पौधघर से खोद लेते हैं और उन्हें इन गड्ढों में रोप देते हैं। पौधों को रोपते समय, गड्ढों में पौध-घर की मिट्टी का रहना जरूरी होता है। इससे पौधे शीघ्र जड़ पकड़ लेते हैं। पौधों की रोपाई वर्षा ऋतु या जनवरी-फर्वरी के माह में करते हैं। वर्षा ऋतु में रोपाई उचित पड़ती है क्योंकि जड़ों के फैलने के लिए काफी नमी उपलब्ध होती है। जनवरी-फर्वरी के माह में भी पौधों की रोपाई होती है। उन्हें सिंचाई द्वारा आवश्यक पानी दिया जाता है। इन गड्ढों की मिट्टी खूब तैयार होनी चाहिए क्योंकि दुर्बल भूमि में पौधे जड़ नहीं पकड़ते और सूख जाते हैं।

खाद—सर्वप्रथम, खोदे गए गड्ढों में ही खाद देते हैं। गड्ढों में यदि गोबर की खूब सड़ी खाद, बोनमील और खलियों का मिश्रण भरा जाय तो भूमि अधिक उर्वर होगी। इसके अतिरिक्त पूरे खेत में भी खाद का प्रयोग करना चाहिए। खाद देने के पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि पौधे की जड़ें कितनी दूर तक फैल सकती हैं। कम से कम जड़ों के फैलाव भर की भूमि को खाद्य पदार्थों से परिपूर्ण होना चाहिए क्योंगि जड़ें वृक्ष के लिए खान इन्हीं भूमियों से लेती हैं। अतः खेत में खाद का उचित अंश बराबर मिलाते रहना चाहिए।

सिंचाई—वृक्षों को बरसात में सींचने की कोई आवश्यकता नहीं होती किन्तु शुष्क ऋतु में सिंचाई की जरूरत होती है। यह सिंचाई पेड़ की अवस्था पर निर्भर होती है। यदि पौधा हाल में ही लगाया गया है तो सिंचाई प्रति तीसरे दिन की जाती है। यह क्रिया रोपाई के दिन से ६ माह तक की जाती है। बरसात के दिनों में जब पौधा बच्चा हो और ऋतु शुष्क हो तो सिंचाई कर देनी चाहिए। ज्यों-ज्यों पौधे बढ़ते जायँ, सिंचाई की मात्रा कम करते जाते हैं। ६ माह के पश्चात् लगभग १ वर्ष की अवस्था तक प्रति सप्ताह और फिर दूसरे वर्ष में प्रति पखवारे सिंचाई करते हैं। वृक्ष के बडे हो जाने पर सिंचाई की कोई जरूरत ही नहीं पड़ती। उनके लिए बरसातका ही पानी यथेष्ट होता है। सिंचाई करने की विधि जो उपयुक्त हो प्रयोग करनी चाहिए।

आम में फूल और फल लगना—गुठली या बीज से उत्पन्न किया गया पौधा ८–१० वर्ष में फल देना प्रारम्भ करता है और कई वर्षों तक देता रहता है। कलम द्वारा पैदा किया गया पौधा ४-५ वर्षों में फूलने लगता है और उसमें अच्छे फल भी आने लगते हैं। फूलने और फल देने वाले पौधे में जनवरी-फर्वरी के महीने में फल आना प्रारम्भ हो जाते हैं। ये फूल गुच्छे में आते हैं, जिन्हें बौर कहते हैं। एक गुच्छे में लगभग चार हजार तक फूल आते हैं। यदि ये सभी फूल फल बन जायँ तो सम्भवतः डालियाँ उन्हें सँभाल न सकें। इसलिए इनमें बहुत व्यर्थ हो जाते हैं और बहुत ही कम फल बन पाते हैं। इनमें सेचन-क्रिया कीड़ों द्वारा होती है। बौर आने के समय आम के वृक्ष को देखो। उसमें अनेक कीड़े भनभनाते हुए दीख पड़ेंगे। ये ही एक फूल से दूसरे फूल को उड़-उड़ कर सेचन किया करते हैं। आम के

एक गुच्छे में मुश्किल से ८–१० फल बन पाते हैं। बीजू आम बहुत ऊँचे और बड़े होते हैं। इनमें कलमी की अपेक्षा अधिक आम आते हैं। कलमी आम बड़े होते हैं। अतः इनके एक गुच्छे में १ से ४ आम लगते हैं। बीजू आम में एक वृक्ष पर ३०००–४००० फल होते हैं पर कलमी में २००–३०० फल लगते हैं।

आम की तोड़ाई—जब फल का पूर्ण बढ़ाव हो जाता है तो उसे तोड़ने में सड़ाव का भय नहीं रहता। तोड़ कर उसे अँचार के काम में लाते हैं। चटनी के लिए तो कच्चे आमों का ही प्रयोग करने लगते हैं। इन आमों को तोड़ कर भूसे में ढक देते हैं। भूसे में ये शीघ्र पक जाते हैं। कुछ की पाल डाल देते हैं और इस प्रकार उन्हें पकाते हैं। आम को तोड़ने में इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि वे भूमि पर गिर कर फटने न पावें। उन्हें हाथ से तोड़ना चाहिए अथवा आम तोड़ने वाली जाली का प्रयोग करना चाहिए। जाली से आम अच्छी तरह से दूर से ही तोड़ लिये जाते हैं। घायल आम ठीक नहीं होते। यदि आम भूमि पर गिर जाय तो घायल हो जाता है और शीघ्र सड़ जाता है। जो फल पेड़ से गिरें अथवा फट जायँ उनकी चटनी बना ली जाती है। अथवा सुखाकर खटाई बना लेते हैं। पेड़ पर जब आम का रंग बदलने लगे तो समझना चाहिए कि अब वे पकने लगे हैं। साधारणतया कच्चे आम हरे और पके लाल या पीले हो जाते हैं पर कुछ पकने पर भी हरे रंग के होते हैं। पेड़ का पका आम अधिक स्वादिष्ट होता है। जब फल पूरा पक जाता है तो पेड़ से टपकना प्रारम्भ करता है।

उपज—आम का पकना जून से ही प्रारम्भ हो जाता है और अगस्त-सितम्बर तक बाजार में मिलता रहता है। पके या कच्चे आम टोकरियों में भरकर बाहर भेज देते हैं। वे या तो पास की मंडियों में बेच दिये जाते हैं या दूर के बड़े-बड़े नगरों में बेचे जाते हैं। आम एक ऐसी फसल है जिसकी बहुत कड़ी रखवाली करनी पड़ती है। यदि इसकी देखभाल में किसी प्रकार की कठिनाई प्रस्तुत हो तो कुंजड़ों के हाथ फसल बेच देना अधिक श्रेयस्कर होता है।

कीड़े और रोग—आम की मिठास के कारण उस पर बहुत से कीड़ों का आक्रमण होता है। कुछ तो फसल के पकते समय उसके अन्दर घुस जाते हैं और गूदे खाना प्रारम्भ कर देते हैं। भीतर ही भीतर इनका प्रजनन भी होता रहता है। एक प्रकार का और कीड़ा पाया जाता है जो आम के तने में प्रवेश कर जाता है और उसे खोखला बना देता है। इसे फिनायल आदि दवाओं द्वारा दूर करते हैं। बौरों और फूलों पर एक प्रकार के कीड़े का धावा होता है जो उन्हें विनष्ट कर देता है। कुछ बीमारियाँ भी होती हैं जो फसल को हानि पहुँचाने में सहायता करती हैं। आम की पत्तियों पर एक प्रकार का रस टकपता है जो पत्तियों को सूर्य की रोशनी में चमकाता है। इसके प्रभाव से पौधे में फूल ही नहीं आते या आते भी हैं तो शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं।

२—अमरूद (Guava)

आम की भाँति अमरूद भी हमारे देश में लगभग सभी स्थानों पर पाया जाता है। यह इतना सस्ता पड़ता है कि सभी लोग इसे बो सकते हैं। यह बोने के चौथे साल फल देना प्रारम्भ कर देता है और १०–१२ साल में पूर्ण पेड़ हो जाता है।

जातियाँ—अमरूद की कई जातियाँ होती हैं। रूप, रंग, छिल्के और गूदे के आधार पर जातियाँ भिन्न हो जाती हैं। करेला, हाफजी, चित्तीदार, सफेदा बिना बीज वाली आदि जातियाँ प्रचलित हैं। उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद का सफेदा अमरूद अधिक प्रसिद्ध है। करेला अमरूद लम्बाकार होता है। ऊपर से देखने पर तो यह खुरदरा दिखाई पड़ता है पर स्वाद अच्छा होता है। हाफजी अमरूद का गूदा लाल होता है। यह ऊपर से चिकना और गोलाकार होता है परन्तु स्वाद मीठ नहीं होता। चित्तीदार अमरूद चित्तियों की मौजूदगी के कारण चित्तीदार कहलता है। यह खाने में बहुत मीठा होता है। सफेदा अमरूद सफेद गूदे का होता है। इसमें बीज कम होते हैं और स्वाद अच्छा होता है। एक प्रकार का और अमरूद होता है जिसमें बीज ही नहीं आते।

भूमि—अमरूद के लिए दोमट-बलुवार भूमि अधिक उपयुक्त होती है। इसे लगभग सभी प्रकार की मिट्टी में उगा सकते हैं।

जलवायु—इसे शुष्क ऋतु अधिक पसन्द है क्योंकि धूप और गर्मी की तीक्ष्णता सहन करने की इसमें अधिक शक्ति होती है। अधिक नमी में भी इसकी पैदावार हो सकती है। साधारण पाला फसल को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता किन्तु जोरों के पाले से नुकसान का डर रहता है।

बीज लगाना—इसकी जाति स्थिर रखने के लिए आम की भाँति उत्पादन की दो विधियाँ प्रयोग की जाती हैं। बीज द्वारा और कलम लगाकर। अमरूद के पकने पर कुछ अच्छे फल चुन लिये जाते हैं और उनके गूदे निकाल कर फेंक देते हैं। बीज को धोकर साये में सुखा लेते हैं। सुखाये हुए बीज को सुरक्षित रखते हैं और शुरू बरसात में एक क्यारी में लगा देते हैं। बोने के पहले क्यारी में खाद आदि मिलाकर उसे अच्छी तरह तैयार करते हैं। प्रारम्भ में तो इन बीजों की पारस्परिक दूरी १′ रखते हैं पर बाद में जब पौधे बड़े हो जाते हैं, तो इन्हें अन्य उपयुक्त स्थान पर रोप देते हैं। यह रोपाई वर्षा ऋतु में होनी चाहिए।

कलम तैयार किया गया पौधा अधिक फल देता है। इसे भी पहली विधि की भाँति बीज बोकर तैयार कर लेते हैं अथवा गमले में बो देते हैं। जब यह एक वर्ष की आयु का हो जाता है तो इसकी कलम कर ली जाती है।

पौधों की रोपाई—जब पौध-घर में तैयार पौधे एक वर्ष के हो जायँ तो इन्हें वहाँ से कुछ मिट्टी के साथ खोद लेते हैं और बनाये गड्ढों में रोप देते हैं। ये गड्ढे रोपाई के पहले क्रमानुसार खोद लिये जाते हैं और इनमें खाद की उपयुक्त मात्रा भी छोड़ देते हैं जिससे ये पौधे शीघ्र जड़ पकड़ने लगते हैं। इन गड्ढों की आपस की दूरी १८′ से २४′ तक रखी जाती है ताकि वृक्षों का बढ़ाव सन्तोषजनक हो सके। यदि वृक्षों की आपस की दूरी ठीक नहीं होती तो फसल भी अच्छी नहीं आने पाती।

खाद की आवश्यकता—आम की भाँति अमरूद की फसल भी खाद की आवश्य-

कता रखती है। खाद गड्ढों में मिट्टी के साथ मिलाकर भर देना चाहिए। यह क्रिया यदि बरसात के पहले मई के महीने में ही कर दी जाय तो खाद के सड़ने का अवसर होता है। यदि सिंचाई के साधन उपलब्ध हों तो खाद को काफी नमी मिल सकती है और वह सड़कर पौधों की पहुँच में आ सकती है।

सिंचाई—वृक्षों की सिंचाई समयानुसार जरूरी होती है। पौधों की छोटी अवस्था में अधिक पानी की जरूरत होती है। बरसात में तो प्रकृति ही पौधों को पानी देती है पर गर्मी में प्रति माह एक सिंचाई काफी होती है। पौधे ज्यों-ज्यों बढ़ते जायँ, उनकी सिंचाई कम करते जाते हैं और बड़े हो जाने पर तो बिल्कुल हो नहीं करते। सिंचाई करने में सुविधाजनक विधि ही अपनानी चाहिए।

छँटाई—अमरूद के वृक्ष में जितनी ही कम शाखाएँ और डालियाँ रहेंगी, फसल उतनी ही अच्छी होगी। इसके तने के बढ़ाव पर ध्यान रखना चाहिए। पहले उसे बढ़ने देना चाहिए। यदि टहनियाँ निकलें भी तो उन्हें तोड़ कर अलग कर देना चाहिए। तना कम से कम ३–४ फीट तक सीधा और शाखाहीन रहना चाहिए। उसके बाद तने में शाखाएँ आने देनी चाहिए। शाखाओं की संख्या ४–५ से अधिक नहीं रखना चाहिए और प्रशाखाएँ भी इसी परिमाण में रहें तो अच्छा हो। शाखाओं-प्रशाखाओं की प्रतिवर्ष छँटाई फसल के लिए लाभकर सिद्ध होती है। यह क्रिया सूखे मौसम में करनी चाहिये। अप्रैल से मई तक का समय इसके लिए उपयुक्त होता है। छँटाई से बरसात में नई कोपलें निकलती हैं और फसल में नई जान-सी आ जाती है। फल शीघ्र लगते हैं और इनका आकार भी बड़ा होता है।

पौधे में फूल-फल लगना—अमरूद में वर्ष में दो बार फूल-फल लगते हैं। पहला फल फर्वरी के माह में लगता है जो बरसात में फल तैयार कर देता है। बरसात के कारण ये फल स्वादिष्ट नहीं होते और इन पर चित्तियाँ सी पड़ जाती हैं। कभी-कभी तो इनमें कीड़े भी पड़ जाया करते हैं। इसलिए यह फसल नहीं लेनी चाहिए। इसके लिए वृक्षों में जब फूल आयें, उसी समय उन्हें तोड़ कर साफ कर देना चाहिए। फूल के आने के पहले यदि सिंचाई कर दी जाय तो फूल लगने ही नहीं पाते अथवा जो लगते हैं वे झड़ जाते हैं। दूसरी फसल जाड़े के दिनों में उगती है। इसके फल फरवरी के महीने में लगना शुरू करते हैं और फल दिसम्बर-जनवरी के माह में ही उग जाते हैं। यह फसल अच्छी होती है तथा स्वाद भी अच्छा होता है। यदि पहली फसल विनष्ट कर दी गई है तो जाड़े की उपज दूनी होगी और पिछली कमी भी पूर्ण हो जायगी। साल में दो बार फसल लेने से दोनों फसलें ठीक नहीं आतीं। फल छोटे-छोटे और मात्रा में भी कम आते हैं। अतः बरसात की फसल न लेकर जाड़े की ही सफल लेना श्रेयस्कर होता है।

फसल की कटाई—अमरूद कच्चा नहीं तोड़ते। इसे पेड़ पर ही पक जाने देना चाहिए। पक जाने पर फल तोड़ने वाली जाली या पेड़ पर चढ़ कर हाथ से फल तोड़ लेते हैं। भूमि पर गिरा हुआ अमरूद फट जाता है और बेकार हो जाता है। इसे फटने से बचाना चाहिए। अमरूद तोड़कर बाजारों में बेचते हैं अथवा टोकरियों

में बन्द कर बाहर भेज देते हैं। अमरूद के एक वृक्ष पर ४००-५०० फल लगते हैं।

अमरूद की बिक्री—फसल की तोड़ाई एक ही दिन नहीं करते। अमरूद डाल पर जैसे-जैसे पकते जायँ, उन्हें वैसे ही तोड़ते जाना चाहिए। तोड़ने के बाद उन्हें नित्य निकट के बाजार में भिजवा देना चाहिए। यदि निकट कोई बाजार न हो या बिक्री अच्छी न हो तो टोकरियों में भरकर लारी या बैलगाड़ी आदि से बड़े शहर अथवा बाहर भेज देना चाहिए। बाहर भेजने के लिए रेल सबसे अच्छा साधन है।

३—पपीता (Papaya)

पपीता लगभग सभी फलों में शीघ्र फल देने वाला वृक्ष है। यह भारतवर्ष में लगभग सभी स्थानों पर पाया जाता है। इसकी खेती बड़ी सरलतापूर्वक की जाती है और खर्च भी बहुत कम पड़ता है। इसके वृक्ष दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह जो मादा होता है और जिसमें फल लगते हैं। दूसरा वह जिसमें नर फूल आता है और जिसे नर वृक्ष कहते हैं। यह फल नहीं देता। पपीते का फल स्वास्थ्य के लिए बहुत हितकर होता है। इसमें आरोग्यकर विटामिन उपस्थित रहते हैं। इसे रोगियों को दिया जाता है। तना और पत्तियाँ सूखने पर सड़ा कर खाद बनाने के काम में लाई जाती हैं।

भूमि—यह सभी प्रकार की भूमि में उगाया जाता है किन्तु नीची भूमि में जहाँ बरसात का पानी जमा हो जाता हो और अधिक नमी रहती हो, इसे नहीं बोना चाहिए। अधिक नमी में इसके तन गल जाते हैं। बलुवार-दोमट, भुरभुरी और मटियार भूमि इसके लिए उपयोगी सिद्ध हुई हैं। यदि नम भूमि में इसकी खेती करना बहुत जरूरी हो तो जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए।

जातियाँ—पपीते में नर और मादा करके दो जातियाँ होती हैं। दोनों का उपस्थित होना फसल के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि मादा फल है, नर फूल नहीं नहीं है तो फल नहीं बन सकता। इसके विपरीत नर फल हो पर मादा फूल न हो तो भी फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। नर की पहचान यह होती है कि उसमें लम्बी-लम्बी टहनियाँ निकलती हैं जिनमें फूल लगते हैं। नर पेड़ों की संख्या बाग में अधिक नहीं होनी चाहिए। ३५-४० पपीते के पेड़ों के बीच एक नर पेड़ काफी होता है। इससे अन्य सभी पेड़ सेचन कर सकते हैं।

पौध-घर में पपीता तैयार करना—अच्छे, पूर्ण पके पपीते के फल लेकर चीर देना चाहिए और उसके भीतर जितने काले-काले बीज हों निकाल लेना चाहिए। इन बीजों को धोकर साये में सुखा लिया जाता है। तत्पश्चात् एक क्यारी खाद डाल कर अच्छी तरह गोड़-गाड़ कर ठीक करना चाहिए जिसमें बीज लगभग एक फुट की दूरी पर लगा दिये जाते हैं। यह बोआई अप्रैल-मई में की जाती है। आवश्यकतानुसार पौधों को पानी देते रहना चाहिए। ये पौधे तीन-साढ़े तीन माह में रोपने योग्य हो जाते हैं।

पौधों को रोपाई—जब पौधे रोपाई के योग्य हो जाते हैं तो उन्हें रोपना प्रारम्भ करते हैं। रोपने वाले स्थान पर पहले २'×२'×२' के गड्ढे बना लिये जाते हैं। इन गड्ढों को मिट्टी के साथ खाद की अच्छी मात्रा मिला कर भर दिया करते हैं। यह कार्य वर्षा के शुरू होने से पहले ही करना अच्छा होता है ताकि खाद अच्छी तरह सड़ जाय। खाद के सड़ने पर पौधों को इन गड्ढों में लगा दिया जाता है। वृक्षों का यह रोपण-कार्य क्रम में ही होना चाहिए। रोपाई के शीघ्र बाद एक हल्की सिंचाई की जाती है। इसके पश्चात् वर्षा का पानी ही फसल के लिए पर्याप्त होता है किन्तु वर्षा की कमी में पौधों की आवश्यकतानुसार सिंचाई कर देना हितकर होता है। पपीते की रोपाई प्रायः अकेले नहीं करते। इसे वैसे वृक्षों के बाग में लगाते हैं जो लगाने के कई वर्षों बाद फल देना प्रारम्भ करते हैं। इसके लगाने से बाग शीघ्र ही लाभ देने लगता है। अतः इसके बाग का क्रम वर्गाकार होता है। वर्ग के चारों कोनों पर अन्य वृक्ष होते हैं और बीच में पपीते का एक पेड़ लगाते हैं।

सिंचाई—पपीते के पौधों को बहुत हल्की सिंचाई की आवश्यकता होती है। सूखे मौसम में जब पौधा छोटा रहे, तो हफ्तेवार सिंचाई करनी चाहिए पर बड़े होने पर महीने में एक बार की भी सिंचाई पर्याप्त होती है। बरसात के दिनों में सिंचाई नहीं करनी पड़ती। यदि कड़ी वर्षा से पौधे के निकट अधिक पानी जमा हो जाय तो उसे काट कर बहा देना चाहिए।

पौधे में फूल-फल लगना—सादा वृक्ष में लगभग साल के सभी माह में फल पाया जाता है पर फूल दो ही बार आते हैं। पहला फूल जनवरी-फरवरी में और दूसरा जुलाई-अगस्त में आता है अर्थात् एक फूल शीत काल तथा दूसरा वर्षा काल में आता है। शीतकाल का फूल वर्षा तक फल देता है और वर्षाकाल का शीतकाल तक। फल वृक्षों के सिरे पर पत्तियों के नीचे लगते हैं। कच्चे फल हरे रंग के होते हैं पर पकने पर इनका रंग पीला हो जाता है। जब फलों का पूरा बढ़ाव हो जाता है तो उन्हें तोड़ते जाते हैं। तोड़ कर कच्चे फलों को तो तरकारी में प्रयोग करते हैं। कुछ को पकाने के लिए भूसे में ढँक देते हैं। जब इनका रंग पीलापन लिये हुए हो जाता है तो निकाल लेते हैं और बाजारों में बेच देते हैं।

फलों की तोड़ाई—फल को एक ही बार नहीं तोड़ते। जैसे-जैसे नीचे वाले फल बढ़ते जाते हैं, उन्हें वैसे ही तोड़ते जाते हैं। इससे ऊपर के छोटे फलों को बढ़ने का स्थान मिल जाता है। इन फलों को हाथ से तोड़ते हैं। भूमि पर गिरने से ये खराब हो जाते हैं। एक फसल में ५०-१०० फल आते हैं।

बिक्री—पपीते को कच्चे और पक्के दोनों रूपों में बाजारों में बेचा जाता है। कच्चे फलों के सड़ने का कोई भय नहीं रहता पर पके फल शीघ्र न बेचे जाने पर सड़ जाया करते हैं। इन फलों को निकट के बाजार में बेच देना चाहिए या कुँजड़ों के हाथ फसल ही बेच देना चाहिए।

४—केला (Banana)

केला हमारे देश में कई स्थानों पर बहुतायत से उगाया जाता है। बम्बई, बंगाल और आसाम प्रदेश में इसकी महत्वपूर्ण खेती होती है। यह फसल उष्ण और नम जलवायु में सफलतापूर्वक पैदा की जा सकती है। इसका तना ७ से १० फीट तक लम्बा होता है। यह पत्तियों से मिलकर बनता है। यह गोलाकार चिकना और हरे रंग का होता है। पत्तियाँ खूब लम्बी और चौड़ी होती हैं। केले के पौधे बाग की छटा बढ़ाने के लिए अधिकतर उगाये जाते हैं। विवाहोत्सव आदि में इन्हें सजाने के काम में लाते हैं।

भूमि—इसे नम व तर भूमि अधिक पसन्द है पर पानी का अधिक जमाव भी ठीक नहीं है। दोमट और मटियार भूमि में इसकी पैदावार अच्छी होती है। बलुई भूमि में केले की खेती नहीं की जा सकती। उपजाऊ भूमि में उपज अधिक होती है।

खाद—केला के लिए नाइट्रोजन, पोटाश और फासफोरस तीनों तत्वों की आवश्यकता होती है। अतः इन तत्वों की पर्याप्त मात्रा भूमि में दी जाती है। केले की फसल में गोबर की खाद अच्छा काम दिखाती है। यह ताजी हालत में भी इसे हानि नहीं पहुँचाती।

खेत की तैयारी—जिस खेत में केले की फसल लगानी हो उसे गर्मी के दिनों में जोत कर छोड़ देना चाहिए ताकि मिट्टी धूप की काफी मात्रा ले ले। खेत में पौधों की रोप लगाने के लिए गड्ढे खोदना चाहिए। ये गड्ढे दो फीट चौड़े, दो फीट लम्बे और दो फीट गहरे होने चाहिए। इन गड्ढों में खाद की उचित मात्रा मिट्टी के साथ मिलाकर भर देते हैं। गड्ढों की आपस की दूरी १०-१२ फीट रखी जाती है।

जातियाँ—इस फल की कई जातियाँ होती हैं : (१) बम्बइया या हरी छाल वाला—यह बम्बई प्रदेश में अधिक होता है। इसकी छाल हरी होती है और पकने पर भी वैसे ही रहती है। इसका स्वाद अच्छा होता है। (२) चीनिया, कलकतिया—यह पकने पर पीले रंग का हो जाता है। यह छोटा होता है पर स्वाद में बम्बइया से स्वादिष्ट होता है। (३) देशी केला—यह देहरादून और सहारनपुर जिले में अधिकता से पाया जाता है। इसका स्वाद अच्छा नहीं होता अतः इसे तरकारी के काम में ही लाते हैं।

पौधा लगाना—केले के पौधे बीज अथवा कलम द्वारा नहीं पैदा किये जाते। इनकी जड़ों में पुत्तियाँ होती हैं जिनके अंकुरण से केले का नया पौधा तैयार होता है। इन पुत्तियों को थोड़ी मिट्टी सहित उखाड़ लेते हैं और तैयार किये गये गड्ढों में लगा देते हैं। इस प्रकार केला का वृक्ष तैयार हो जाता है। पुत्तियों की रोपाई वर्षा ऋतु में ही की जाती है। इससे पौधे शीघ्र जड़ पकड़ लेते हैं।

सिचाई—फसल की बोआई नालियों में करने पर सिंचाई में सुविधा होती है। पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि नालियों में पानी अधिक समय तक जमा न होने पावे। पहली सिंचाई तो पौधों को लगाने के ही समय करते हैं। इसके बाद

जब इसे जरूरत हो तभी पानी देना चाहिए। इसे अन्य फसलों की अपेक्षा अधिक पानी की जरूरत होती है। पानी देते समय खाद का देना फसल के लिए अधिक लाभकर होता है।

फूल और फल लगाना—एक पेड़ में एक बार ही फल आता है और यह पौधे के जीवन के प्रथम वर्ष के पश्चात् ही आता है। पहले वृक्ष में फूल निकलते हैं। तत्पश्चात् फल निकलने लगते हैं। फलो की संख्या २००-३०० तक पाई जाती है। तरकारी वाली फसल में फलों के बढ़ने के अनुसार ही इन्हें तोड़ते जाते हैं परन्तु पके फल खाने के लिए इन्हें उस समय तोड़ते हैं जब इनका बढ़ाव रुक जाता है और तोड़कर अन्धेरे घर में पत्तियों से ढँक कर रख देते हैं। इससे ये पक जाते हैं और फिर बाजार में बेच दिये जाते हैं। एक बार फलने के बाद पौधा बेकार हो जाता है। इसे काटकर कम्पोस्ट के काम में लाना चाहिए। काट देने पर पौधों में पुत्तियाँ निकल आती हैं जो बढ़कर फिर पूरा पेड़ बन जाती हैं। एक पौधे में तीन-चार पुत्तियों से अधिक नहीं होने देना चाहिए।

उपज—केले को पकने पर बाजारों में बेच देते हैं या बाग की फसल ही कुंजड़ों के हाथ बेचते हैं। केले उद्यानों से ट्रकों, बैलगाड़ियों आदि पर लादकर मंडी या बाजार में पहुँचाये जाते हैं जहाँ उन्हें बेचा जाता है। ये खाने और तरकारी बनाने के काम आते हैं। कभी-कभी इनके रेशों को कपड़े बनाने के काम में लाते हैं।

५—संतरा (Citrus-Fruits)

सन्तरा की जाति में नीबू, लैमन, नारंगी, माल्टा, मौसम्बी, जम्बूरी, पमैलो आदि कई फल सम्मिलित हैं। इनमें कुछ खट्टे और कुछ मीठे रस वाले होते हैं। ये अमेरिका में अधिक क्षेत्रफल में उगाये जाते हैं। योरप के कई देशों में इनकी अच्छी खेती होती है। भारतवर्ष में भी इनकी लगभग सभी जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं पर इनकी पैदावार कम होती है कि हमारे देश में ये फल बाहर से भी मँगाने पड़ते हैं।

जातियाँ—सीट्रफ सल में कई जातियाँ होती हैं जो हमारे देश में प्रयोग की जाती हैं : (१) नीबू—इसकी भी कई जातियाँ हैं। मीठा नोबू, कागजी, बिजौरिया आदि इसकी प्रधान जातियाँ हैं। इसके पेड़ झाड़ी के आकार में होते हैं। इसका गूदा हरे रंग का और छिलका पतला होता है। (२) लैमन—इसका पौधा ३'—५' तक होता है। रस खट्टा होता है और नीबू की भाँति छिलका पतला होता है पर रंग हलका पीला होता है। (३) मौसम्बी—इसकी पत्तियाँ हल्के हरे रंग की और फूल छोटे होते हैं। इसका गूदा छिल्के से मिला होता है। रस नारंगी से कम मीठा होता है। डण्ठल पर पत्तियों का छोटा सा पंख मौजूद रहता है। (४) माल्टा—यह ठीक मौसम्बी की भाँति होता है। (५) जम्बूरी—इसका प्रयोग अधिकतर संतरे की कलम करने में किया जाता है। इसका फल स्वादिष्ट नहीं होता? (६) बिजौरा या तुरंज—इसके नर और मादा भाग अलग-अलग पेड़ों पर होते हैं। पेड़ छोटा, झाड़ीदार, काँटेदार और पत्तियाँ चौड़ी होती हैं। रस मीठा होता है। इसीलिए बहुधा इसे मुरब्बा के काम में प्रयुक्त करते हैं। (७) पमैलो—यह बड़ा-बड़ा सफेद रंग का होता है।

वजन लगभग १ सेर का होता है। इसका रस बहुत खट्टा और गूदा सूखा होता है। इसका छिलका मोटा होता है। (८) मिष्टा—इसकी फसल वर्षा ऋतु में देर में होती है। फूल बड़े-बड़े और धवल रंग के होते हैं। इसका स्वाद हल्का मीठा होता है। (९) रेशमी—इसकी जाति संतरे की जाति से मिलती-जुलती है। किन्तु यह उससे आकार में थोड़ा-सा छोटा होता है। इसका छिलका गूदे से सरलतापूर्व उतारा जा सकता है। (१०) संतरा—इसकी खेती नागपुर के क्षेत्र में अधिक होती है। यह खाने में बहुत स्वादिष्ट होता है।

भूमि—सन्तरे के फल की खेती उसी स्थान पर सफलतापूर्वक की जा सकती है जहाँ जल निकास का उत्तम प्रबन्ध होता है। इसकी जड़ें भूमि में २½'–३½' की गहराई तक ही प्रवेश कर पातीहैं, इसलिए गहरी भूमि की कोई जरूरत नहीं होती। इसके लिए दोमट बलुवार भूमि अधिक अच्छी होती है किन्तु यह सभी भूमि में उगाया जा सकता है। यह पौधा नम व तर जलवायु के साथ-साथ शुष्क ऋतु भी चाहता है। यदि स्थान पर वर्षा ८०"–१००" तक होती है तो फसल अच्छी होगी पर फलों के पकने के समय सूखी ऋतु का होना जरूरी है। सूखापन अधिक नहीं होना चाहिये नहीं तो फसल को हानि का भय रहता है।

खाद—इस जाति के पौधों को चूँकि नाइट्रोजन की अधिक आवश्यकता होती है, इसलिए इन्हें नाइट्रोजनस खादें ही देते हैं। नीबू आदि के लिये पत्तियों और गोबर की मिली हुई खाद देते हैं पर नारंगी की जाति अर्थात् माल्टा, मौसम्बी, सन्तरा आदि को गोबर की खाद के साथ चूना हड्डी का चूरा भी मिलाते हैं। खाद रोपाई करने वाले गड्ढों में पर्याप्त मात्रा में देते हैं जिसे पौधे ले सकें।

पौधे लगाना—पौधे लगाने की दो विधियाँ प्रचलित हैं। प्रथम तो बीज द्वारा और दूसरे कलम लगा कर। पहली विधि में फलों से बीज निकाल कर पौध-घर के लिये तैयार क्यारियों में बो देते हैं। जब बीज २"–३" के ऊँचे हो जाते हैं तो उन्हें उखाड़ कर पंक्तियों में कर देते हैं। पंक्तियों से पंक्तियों की दूरी २'–२½ और पौधे से पौधे की दूरी १'–१½' तक रखी जाती है। इस दशा में पौधों को २-३ वर्ष तक रखते और फिर उन्हें यहाँ से निकाल कर तैयार किए गड्ढों में डाल देते हैं।

दूसरी विधि में बीज से उगाये गए पौधे की कलम की जाती है। कलम में चश्में बाँधने की क्रिया ही अधिक प्रचलित है। यह क्रिया बरसात के दिनों में जुलाई-अगस्त में की जाती है। इसमें एक पौधे की आँख दूसरे में बाँध दी जाती है। यही आँख बढ़कर पेड़ का रूप ग्रहण करती है तब इसे अन्यत्र रोप दिया जाता है।

पौधों की रोपाई—आम की भाँति अमरूद की रोप लगाने वाले क्षेत्र में गड्ढे खोद लेने चाहिए। ये गड्ढे २० फीट की दूरी पर होने चाहिए। इनकी गहराई लम्बाई, और चौड़ाई ३ फीट रखी जाती है। इन्हीं गड्ढों में ऊपर बताई गई खाद, मिट्टी के साथ मिलाकर भर देनी चाहिए। इस मिट्टी में पौधों की रोप लगा दी जाती

है। रोपाई वर्षा ऋतु में की जाती है। इससे सिंचाई कम करनी पड़ती है। रोपाई के शीघ्र बाद पौधों को पानी दे देना चाहिए ताकि जड़ें मिट्टी पकड़ लें।

सिंचाई—इस फसल को कोई विशेष पानी की आवश्यकता नहीं होती। सिंचाई आवश्यकतानुसार ही करते हैं। सिंचाई करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जड़ों में अधिक पानी का होना हानिकर होता है पानी का तने से लगाव भी ठीक नहीं होता। इसलिए इसकी सिंचाई के साथ भूमि के जल-निकास का अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए। इससे अनावश्यक पानी शीघ्र बहाया जा सकता है। कभी-कभी पौधों की लम्बान कम करने के लिए छँटाई की जाती है। इसमें सम्दी-लम्बी शाखाओं को काट कर छोटा कर देते हैं जो दूसरे वर्ष बढ़कर फिर फल-फूल देने योग्य हो जाती हैं।

फल आना—रोप लगाने के लगभग ४-५ वर्ष बाद फल आना आरम्भ हो जाता है। ये फल साल में दो बार आते हैं परन्तु एक ही फसल लेना अच्छा पड़ता है। पहली फसल जुलाई में फूलती है और इसके फल अप्रैल-जून में आते हैं दूसरी फसल फरवरी में फूलती है और फल नवम्बर-दिसम्बर में आते हैं दोनों फसलें लेने से फल छोटे-छोटे होते हैं। अतः एक फसल रोक देनी चाहिये। और दूसरी लेनी चाहिए

फल की तोड़ाई—नीबू जब पूरा बढ़ जाता है, तो तोड़ना शुरू कर देते हैं। इसका पेड़ पर रहना हानिकर नहीं होता। अन्य जातियाँ जब पक जाती हैं तो उन्हें तोड़ लेते हैं और तोड़कर एक ही साथ बाजार भेज देते हैं।

बिक्री—तोड़े हुए फल सन्दूकों में भरकर बाजार भेज देते हैं। खुला भेजने पर इनमें से बहुत से खराब हो जाते हैं। अतः टीसू कागज में बाँधकर सन्दूकों में भर कर भेजना अच्छा होता है। इस विधि में फटे, खराब और सड़े फलों को छांटक अलग कर देते हैं और अच्छे फलों को ही भेजते हैं।

६—बेर

हमारे देश में बेर की कई जातियाँ देखी जाती हैं जिनमें लगभग प्रत्येक का स्वाद भिन्न-भिन्न होता है। इनमें कोई मीठी और कोई खटास मिठास लिये हुई रहती है। कोई बड़ी तो कोई बहुत छोटी होती है। इसके पेड़ ऊँचे' चौड़, काँटेदार और झाड़ीनुमा होते हैं। इन्हें बागों में अवरोध के रूप में लगाया जा सकता है।

भूमि—बेर के लिए यद्यपि सभी मिट्टी उपयुक्त होती है पर नीची और पानी जमा होने वाली भूमि सर्वथा अनुपयुक्त होती है। मटियार-दोमट भूमि में इसकी सफल खेती होती है। इसे गर्म व तर जलवायु में उगाया जाता है। फूलते और पकते समय सूखी ऋतु का होना आवश्यक होता है फूल के आते समय पानी का बरस जाना अत्यन्त हानिकर होता है। क्योंकि फूल धुल जाते हैं।

खाद—इस फसल को कोई खाद नहीं दी जाती पर दे देने पर फसल की उपज बढ़ जाया करती है। इसके लिए भी आम की तरह गड्ढे तैयार किये जाते हैं

और उन गड्ढों में पत्ती की सड़ी खाद गोबर के साथ डालते हैं। इन खादों में मिट्टी का चौथाई अंश मिला कर गड्ढों को भर देते हैं और इन्हीं में पौधों की रोपाई कर देते हैं अथवा बीज छोड़ देते हैं।

जातियाँ—बेर की कई जातियाँ पाई जाती हैं। कुछ तो पैबन्द द्वारा तैयार की जाती हैं। इनका आकार बड़ा और स्वाद मीठा होता है। इसमें मोटी और पैबन्दी बेर आता है। दूसरी जातियाँ बीज बोकर उगाई जाती हैं। ये छोटी और स्वाद में खट्टी होती हैं। कठबेरी और झड़बेरी इसके उदाहरण हैं।

पौधे की रोपाई—जिन जातियों की बोआई बीजों द्वारा की जाती है, उन्हें बोने वाले क्षेत्रों में ही लगाते हैं। कलम करने या पैबन्द लगाने के लिये बीज द्वारा उगे पौधों को चुन कर कलम में कार्य में लाते हैं। इन्हें खादयुक्त गड्ढों में एक क्रम के अनुसार बोते हैं। अच्छा हो, यदि इन्हें बाग के किनारे-किनारे अवरोध वृक्षों की भाँति प्रयोग किया जाय। खाली बेर की भी खेती होती है। कुछ ऐसी भी जातियाँ होती हैं जो बिना बोये ही जंगलों या परती भूमि में उग आती हैं। इनकी बोआई-रोपाई आदि नहीं की जाती।

सिंचाई—रोपाई के बाद पौधों में पानी दिया जाता है। सिंचाई की आवश्यकता जब जब पौधों को हो, करनी चाहिये। गर्मी की ऋतु में अधिक सिंचाई करनी पड़ती है। पौधों में जब फल लग जायँ तो सिंचाई कर देने से उपज में वृद्धि हो जाती है।

कटाई—जब फल पक जायँ तो उन्हें सावधानी से तोड़ते हैं। तोड़ने में पेड़ पर चढ़ कर डालियाँ हिला देते हैं अथवा हाथ से तोड़ते हैं। पेड़ हिलाने में नीचे की भूमि सूखी और नम होनी चाहिये ताकि गिरी बेर फटने न पावे और धूल में मिलकर खराब न हो। जाली द्वारा भी पकी बेरों की तोड़ाई करते हैं।

बिक्री—फल तोड़कर सावधानी से बोरों में या संदूकों में भर कर बाजारों में बेचने के लिए भेजे जाते हैं। यदि बाजार निकट हो तो टोकरियों में ही भर कर बाजार तक बेर लाई जाती है। इससे फलों के दबने और फटने का भय नहीं रहता।

७—लीची

भारत के फलों में लीची का स्थान भी महत्वपूर्ण है। उत्तर प्रदेश में यह नैनीताल, सहारनपुर आदि जिलों में अधिक मात्रा में उगाया जाता है। इसका पेड़ लम्बा, हरा-भरा होता है। इसके लगाने से बागों की सुन्दरता बढ़ जाती है।

भूमि—इसके लिए नम और भुरभुरी मिट्टी अच्छी होती है। पानी जमा होने वाला स्थान इसकी खेती के लिए सर्वथा उपयुक्त नहीं होता। नम दोमट भूमि में लीची की अच्छी फसल मिलती है।

खाद—लीची पैदा की जाने वाली भूमि में गोबर और पत्ती की सड़ी खाद अधिक मात्रा में डाली जाती है। चूना इसके लिए अधिक उपयोगी होता है। यह लीची के लिए खोदे गए गड्ढों में डाल दिया जाता है और फिर गढ़े मिट्टी के साथ भर देते हैं।

पौधों की तैयारी—इसके पौधे दो प्रकार से तैयार किये जाते हैं। (१) बीज द्वारा और (२) कलम लगा कर। बीजों से जो पौधा तैयार होता है वह फल के दृष्टिकोण से अच्छा नहीं होता। इसके फल छोटे और कठिया होते हैं। दूसरी विधि में कलम बांधना, गोटी और दाबे का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार से उत्पन्न पौधा बड़े-बड़े फल देता है। कलम करने की क्रिया बरसात के दिनों में की जाती है।

पौधों की रोपाई—बीज द्वारा उगाये गए पौधे जब बड़े हो जाते हैं तो उन्हें बाग के खोदे गये गड्ढों में रोप देते हैं। कलम किये हुए पौधे ही अधिकतर इन गड्ढों में उगाये जाते हैं क्योंकि इनकी फसल अच्छी होती है।

सिंचाई—पौधे को अधिक पानी की आवश्यकता होती है। नमी की कमी में कभी-कभी फसल को अधिक हानि उठानी पड़ती है। इसलिए आवश्यकता समझ कर समय पर सिंचाई कर देनी चाहिये।

कटाई—जब फल पकने लगें तो उन्हें तोड़कर टोकरियों में भरकर बाहर भेजते हैं। टोकरियों में सड़े और फटे फल नहीं भरने चाहिए क्योंकि इससे अन्य अच्छे फलों के भी सड़ जाने का भय रहता है।

प्रश्न

१. वृक्षों की पौधे लगाने का सही ढंग वर्णन करो। पौधे की रक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं पर प्रकाश डालो। (१९५१)

२. फलदार वृक्षों के बाग के लिए भूमि कैसी होनी चाहिए। फल के बाग के वृक्ष लगाने के क्रम, स्थिति आदि का वर्णन करो। उत्तर प्रदेश में होने वाले प्रधान फलों के नाम दो। (१९५२)

३. पपीता की खेती तथा पपीते के बाग को अच्छे ढंग से रखने पर टिप्पणी लिखो। (१९५०)

४. पपीते के लिए कैसी मिट्टी व जलवायु की आवश्यकता होती है ? इसका बाग स्थापित करने की विधि बताओ तथा पौधे लगाने के पश्चात् एक वर्ष तक क्या देखभाल करनी पड़ती है। इसका विवरण दो। (१९५३)

५. अमरूद के बाग लगाने के ढंग का संक्षिप्त वर्णन करो। एक एकड़ भूमि में कितने वृक्ष लगायेंगे। (१९५४)

६. नीबू का बाग लगाने के ढंग का संक्षिप्त वर्णन करो। एक एकड़ में तुम कितने वृक्ष लगाओगे। (१९५६)

अध्याय ११

कृषि को हानि और लाभ पहुँचाने वाले जीव

फसलों के शत्रु और मित्र

किसान जन-कल्याण के लिए कृषि-कर्म करता है। अपना अमूल्य समय देकर और अथक् परिश्रम कर वह फसल तैयार करता है किन्तु फसल तैयार करने में उसे अन्यान्य जन्तुओं, व्याधियों और खर-पतवारों से होड़ लेनी पड़ती है जो उसकी फसल को हानि पहुँचाना चाहते हैं। यदि विजय इन्हीं की हो जाती है तब तो समय की वर्षा और प्रकृति की अनुकूलता में भी फसल हाथ से निकल जाती है और बेचारा किसान हाथ पर हाथ धरे ही रह जाता है। पर ऐसा होता बहुत कम है तथापि कुछ न कुछ अंश में लाख यत्न करने पर भी फसल का कुछ हिस्सा विनष्ट हो ही जाता है क्योंकि प्रकृति में ऐसे कीड़ों की संख्या अपार है जो मानव समाज तथा कृषि को हानि पहुँचाया करते हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि प्रतिवर्ष हमारे देश में पाँच सौ करोड़ रुपए का नुकसान होता है और उत्तर प्रदेश में इसका १०% भाग हानि में आता है। इन्हें फसलों के शत्रु कहते हैं क्योंकि ये खेती-बारी को हानि पहुँचाते हैं। फसल की बोआई से लेकर कटाई तक और खलिहानों से घर में रखने तक इन शत्रुओं के आक्रमण का भय बना रहता है। पौधा जब छोटा होता है तो ये शत्रु उसके कोमल अंगों पर धावा बोलते हैं, फल आने पर फूल को चौपट करना चाहते हैं, फल या बीज लगने पर उन्हीं पर झपटते हैं फिर फसल के कटते-कटते बीज का अधिक अंश समाप्त कर जाते हैं। जब फसल कट कर खलिहान से घर में आ जाती है तो भी ये पिण्ड नहीं छोड़ते। घर में गोदामों में भी रखने पर ये पहुँच जाते हैं और हानि पहुँचाने का यत्न करते रहते हैं। इस प्रकार इनका हमला बराबर जारी रहता है। इन हानि पहुँचाने वाले जीवों में जानवर चिड़ियाँ और कीड़े-मकोड़े आते हैं। व्याधियाँ और घास-फूस भी फसल के शत्रु हैं।

कृषि को हानि पहुँचाने वाले जन्तु—प्रकृति-राज्य में ऐसे बहुत से जन्तु पाये जाते हैं जो अपनी क्रियाओं द्वारा खेती की अत्यधिक हानि कर जाया करते हैं। इनमें सुअर, गीदड़, साही, खरगोश, चूहे, गिलहरी, चमगादड़, बन्दर, लंगूर, बन गाय, नील गाय, आदि जानवर सम्मिलित हैं।

सुअर—ये जन्तु जंगलों में रहते हैं और निकट की फसल पर भयंकर धावा बोलते हैं। तने और दाने की अपेक्षा ये कुछ पौधों की जड़ों को अधिक पसन्द करते हैं। जड़ पाने के लिये खेत को अधिक गहराई तक गोड़ देते हैं। इससे वे जितनी फसल खाते नहीं उससे कहीं अधिक नुकसान कर जाते हैं। इनसे कृषकों की रक्षा के लिए सरकार

की सहायता आवश्यक है क्योंकि ये लाठी और पत्थर से नहीं मारे जा सकते। इनको मारने के लिए बन्दूकें और बर्छियाँ जरूरी होती हैं।

गीदड़—सुअरों की भाँति ये भी फसल पर रात्रि में आक्रमण करते हैं। इन्हें मक्का का भुट्टा अधिक प्रिय है। रात को जब अन्धेरा हो जाता है तो ये अपनी माँदों से निकलते हैं और भोजन की खोज में इधर-उधर दौड़ा करते हैं। भुट्टे के दिनों में किसान इनके अत्याचार से तंग आ जाते हैं। गन्ने की फसल को भी ये चूस-चूस कर विनष्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त खरबूजे, तरबूजे आदि फसलों पर भी ये चोट करते हैं पर ये बहुत डरपोक जानवर हैं। ये मनुष्य की गन्ध पाकर भाग निकलते हैं। कुत्तों से भी ये बहुत डरते हैं।

साही—सुअरों की भाँति साही भी खड़ी फसल कुरेद डालती है। यह जड़ वाली फसलों मूँगफली, शकरकन्द, गाजर, अरुई आदि खोद कर खा जाती है। मक्का के तने तोड़कर भुट्टे पर भी आक्रमण करती है और आलू की फसल की मिट्टी खोद कर हानि करती है। ये भी मनुष्य की आहट पाकर गायब हो जाती हैं।

खरगोश—ये उगती हुई फसल के बीजों को कुरेद कर खा जाते हैं और लगी हुई फसल के दाने कुतर डालते हैं। कभी-कभी तो ये खड़ी फसल में ही अपनी माँद बनाते हैं। मनुष्य को दूर से ही देख कर भागते हैं।

लोमड़ी—यह जानवर खरगोश की भाँति ही कृषि को हानि पहुँचाती है।

चूहे—चूहे कृषि के बहुत बड़े शत्रु हैं। ये फसल के खड़े होने पर भी बालियों को कुतर डालते हैं। ये अपनी बिल भी खेत ही में बना लेते हैं। बहुत-सी बालियाँ और दाने ये अपनी बिल में खींच ले जाते हैं और कृषक को नुकसान पहुँचाते हैं। फसल जब खलिहानों में जमा की जाती है, वहाँ भी इनका आक्रमण हो जाता है। वहाँ की भूमि में बिलें बन जाती हैं और ये जन्तु दाने उठा-उठाकर इन माँदों में जमा करते रहते हैं। बीज जब घर जाता है और बोरों में या अन्य पात्रों में रखा जाता है वहाँ भी ये पहुँच जाते हैं और काफी बीज उठा ले जाते हैं। इस प्रकार ये बीज के पीछे बराबर लगे रहते हैं और कृषक जाति का एक बहुत बड़ा अहित करते हैं।

चूहे दो प्रकार के होते हैं। एक सफेद और दूसरे मटमैले रंग। दोनों कृषि के शत्रु हैं। अतः इन्हें चूहेदानी, गैमेसलीन और अन्य साधनों द्वारा मारने का प्रयत्न किया जाता है। कभी-कभी आटे की गोलियों में विष मिलाकर चूहे की माँदों पर रख देते हैं। जिनके खाने पर उनका प्राणान्त हो जाता है। कई प्रकार की और दवाएँ निकाली गई हैं जिनसे चूहों में प्लेग की बीमारी फैला दी जाती है और वे अधिक संख्या में मर जाते हैं।

गिलहरी—यह बागों में पेड़ों पर रहती है और इतनी तेजी से वृक्षों पर चढ़ती उतरती है कि देखने वाले आश्चर्य करते हैं। यह पके फलों को खाती है, और उन्हें विनष्ट कर देती है। बागों की निकट की फसलों पर भी ये झपटती हैं और फलों का हानि पहुँचाती हैं। इन्हें जालों में फँसाया जाता है।

चमगादड़—ये जन्तु दिन को तो पेड़ की खोखलों में पत्तियों में छिपे रहते हैं पर रात होते ही निकल पड़ते हैं और भोजन की खोज में इधर-उधर घूमने लगते हैं। ये काले रंग के जानवर हैं। इनके पंजे इतने मजबूत होते हैं कि ये जिस वस्तु को पकड़ते हैं, शीघ्र छोड़ते नहीं। बहुधा ये पेड़ की डालियों को पकड़ कर झूलते रहते हैं। इनके पंख होते हैं और इनकी सहायता से ये चिड़ियों की भाँति उड़ा करते हैं। ये फलों और दाने वाली फसलों को हानि पहुँचाते हैं। इन्हें पकड़ने के लिए जाल लगाये जाते हैं और पकड़कर मार डाला जाता है। कुछ लोग इन्हें खा भी जाते हैं।

बन्दर—बन्दर फसल के बहुत बड़े शत्रु हैं। ये खेत में बोये गए बीजों को चुन-चुन कर खा जाते हैं और खड़ी फसल भी नोच डालते हैं। गन्ने की फसल ये रौंद डालते हैं। ज्वार, बाजरे के गुच्छे तोड़ने के लिए बन्दर पौधे ही तोड़ देते हैं। यही नहीं, बागों में इनका अत्याचार सीमा को पहुँच जाता है। फलों को ये कच्चा ही खाना शुरू कर देते हैं और पकते-पकते आधा समाप्त कर देते हैं। ये केवल खाते ही नहीं हैं, फलों को आधा-आधा काटकर गिरा भी देते हैं। बहुत से फल तो इनके इस डाली से उस डाली पर कूदने से टूट जाया करते हैं। इनसे फलों की हानि तो होती ही है डालियाँ और शाखाएँ भी टूट जाया करती हैं। इस प्रकार ये फसल और बाग को उजाड़ देते हैं। ये अकेले नहीं रहते जहाँ रहते हैं, झुण्ड के झुण्ड रहते हैं। फसल के साथ-साथ ये बस्ती में भी आक्रमण करते हैं और किसानों की खपरैलें फोड़ डालते हैं। घरों की रोटियाँ तक ले भागते हैं। इनको दूर करने के लिए बन्दर भगाने वालों की शरण लेनी पड़ती है। इन्हें वे जाल द्वारा पकड़ कर जंगलों में छोड़ आते हैं जहाँ से ये शीघ्र न लौट सकें।

लंगूर—बन्दरों की ही जाति का यह जानवर बन्दरों से अधिक खूँखार होता है। आकार और रंग में यह बन्दरों से भिन्न होता है। इसका कद बन्दरों से बड़ा और मुंह काला होता है। ये भी झुण्डों में ही रहा करते हैं और फसलों पर आक्रमण करते हैं। ये बागों में फलों को बर्बाद कर देते हैं।

बन गाय—ये जंगली गायें हैं जो झुण्डों में रहती हैं और झुण्डों में ही फसलों पर धावा बोलती हैं। फसल जो खाती हैं, वह तो नुकसान होता ही है, इनके दौड़ने से रौंदकर अधिक फसल बर्बाद हो जाती है। ये जिधर से चली जाती हैं उधर की फसल स्वाहा ही समझी जाती है। जंगलों या यमुना नदी की खादर में इन्हें अधिक पाया जाता है। इन्हें पकड़ कर पालतू बनाया जा सकता है।

नील गाय—नील गायों को घोड़-पड़ास भी कहा जाता है क्योंकि इनका आकार घोड़ों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। ये उन्हीं की भाँति दौड़ती हैं और इनके खुरों की बनावट बहुत-कुछ उनसे मिलती-जुलती है। ये अकेले नहीं रहतीं बल्कि ८–१० के झुण्डों में पाई जाती हैं। ये खड़ी फसलों को रौंद और खाकर चौपट कर डालती हैं। इन्हें विनष्ट करने के लिये बन्दूकों का प्रयोग करना चाहिये पर कुछ हिन्दू इन्हें मारना धर्म-विरुद्ध समझते हैं। पर यह बात तो केवल गायों तक ही सीमित रहनी

चाहिए। घोड़े तक नहीं। ये जन्तु जंगलों, गंगा और घाघरा के खादरों में अधिक पाये जाते हैं।

इन जन्तुओं के अतिरिक्त पालतू गाय, बैल, भैंस, साँड़, बकरियाँ, भेड़ें आदि भी कभी-कभी फसल को हानि पहुँचा जाया करती हैं। ये अपना बन्धन तोड़ कर फसलों को रौंद डालते हैं और चर कर फसल खराब कर देते हैं। देहातों में बहुधा भैंसे और साँड़ खुले ही घूमा करते हैं और मनमाने तौर पर फसलों को खाया करते हैं।

कृषि के शत्रु पक्षी—कृषि को हानि पहुँचाने में पक्षी का भी अधिक हाथ है। इनमें कुछ जातियाँ तो फसल को लाभ पहुँचाती हैं किन्तु अधिक का जीवन कृषि पर ही निर्भर करता है। किसान तो गर्मी के लू और जाड़े की भयंकर सर्दी में लगातार परिश्रम कर फसल पैदा करता है और जब फसल तैयार हो जाती है तो उपज में अनेक साझीदार हो जाते हैं। पक्षी वर्ग उनमें से एक है।

कौआ—यह काले रंग का पक्षी बहुधा मकानों की छतों पर बैठा हुआ देखा जाता है। रोटी और चावल की ताक में यह लगा रहता है और जरा भी आँख बिचली कि हाथ साफ कर देता है। पके फलों और अनाज पर भी यह धावा मारता है। मटर की फली इसे अधिक प्रिय है। इन्हें भगाने के लिए यदि एक कौआ मार कर खेत में टाँग दिया जाय तो बहुतेरे कौवे काँव-काँव की आवाज करके जमा हो जाते हैं और इस तरह भागते हैं कि फिर दुबारा नहीं आते।

तोता—यह हरे रंग का पक्षी घरों में पाला भी जाता है। इसके होंठ लाल होते हैं। यह देखने में बहुत सुन्दर होता है। जो तोते जंगली रूप में पाये जाते हैं वे कौवों की भाँति ही फसल की हानि करते हैं। फलों पर ये अधिक झपटते हैं। फलों को कुतर-कुतर कर खराब कर देते हैं। इनसे बाग की रक्षा के लिए जालियाँ लगाते हैं। साधारणतया उड़ाने से ही ये लोग भग जाते हैं।

गौरैया—ये अकेले नहीं रहतीं बल्कि झुण्डों में चलती हैं और पकी फसलों में साथ ही पड़ती हैं। फलियों को फोड़ कर बीज चुन लेना ही इनका काम होता है। बोये गये बीजों को भी चुगने का ये प्रयास करती हैं। इन्हें भी जालियों से पकड़ा जाता है।

फाख्ता—यह चिड़िया बीजों को अपना भोजन बनाती है। जो बीज फलियों में होते हैं, उन्हें फली फोड़कर निकाल लेती है और बीज खा जाती है। धान, लाही, सरसों, गेहूँ, जौ आदि फसलों पर इसका आक्रमण होता है।

(४) **गलगलिया**—यह हानिकारक कीड़ों को खा जाती है पर धान आदि फसलों में लगे बीजों पर भी धावा बोलती है। इस कारण इससे लाभ और हानि दोनों है।

(५) **मैना**—गलगलिया की भाँति यह पक्षी भी कृषक को लाभप्रद और हानिप्रद दोनों है।

हानिकारक कीड़े-मकोड़े—कीड़ा वह जीव है जो सिर, पेट और वृक्ष तीन अंगों से मिल कर पूरा जीव बनता है। ये प्रकृति में अन्य प्राणधारियों की अपेक्षा संख्या में अधिक पाये जाते हैं। इनमें से कुछ तो कृषक के मित्र होते हैं पर अधिकांशतः फसल के शत्रु ही होते हैं। इनसे हमारी कृषि को बहुत नुकसान हो जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के कीड़े अपने मुख में सूई की तरह चोंच रखते हैं और इन्हीं के द्वारा फसल को काटते हैं; पर दूसरे प्रकार के कीड़ों के मुख में छोटे-छोटे दाँत होते हैं। पहली श्रेणी के उदाहरण पायरिला, माहू और दूसरी श्रेणी के सूंड़ी, गुबरीला आदि हैं।

पायरिला—यह कीड़ा गन्ने की फसल पर आक्रमण करता है और उसकी पत्तियों के रस चूसकर फसल दुर्बल बना देता है। इससे रस में गुड़ की मात्रा कम हो जाती है। यह लगभग आधा इंच लम्बा होता है और पत्तियों पर चिपका रहता है। इसका रंग भूरा होता है। इसकी मादा पत्तियों पर ही गुच्छों के आकार में अण्डे देती है। इसका आक्रमण अप्रैल-जून या सितम्बर-अक्टूबर में होता है। इन्हें दूर करने के लिए अण्डों वाली पत्तियों को तोड़ कर जला देना चाहिए। कीड़े थैलों में पकड़ कर मार डाले जाते हैं। एक कीट-विनाशक पाउडर छिड़क कर इन्हें मारा जाता है। ये पश्चिमी-उत्तरी उत्तर प्रदेश और पंजाब में अधिक पाये जाते हैं।

माहू या चेपा—जिस वर्ष जाड़े में महावट अधिक समय तक होती रहती है उस वर्ष इस कीड़े का भयंकर आक्रमण होता है। यह सरसों, मूली, गोभी, शलजम आदि की फसलों पर धावा बोलता है और फसल दुर्बल बना देता है। सरसों के बीज में तेल कम आता है और पत्तियाँ ऐंठ कर पीली पड़ जाती हैं। यह हरे रंग का छोटा कीड़ा एक पौधे पर हजारों की संख्या में पाया जाता है। इसे दूर करने का उपाय यह है कि फसल पर झाड़ की राख या तम्बाकू और साबुन का घोल छिड़क देते हैं। फसल की बोआई शीघ्र करने पर इनका आक्रमण ही नहीं होने पाता।

सुन्दर झंगा—यह काला छोटा कीड़ा सरसों, गोभी, मूली आदि की फसलों पर माहू की भाँति लगता है। यह फलियों और पत्तियों को चूस कर उपज में कमी ला देता है। इसे मारने के लिए बी० एच० सी० का पाउडर छिड़का जाता है। साबुन के घोल से भी ये मर जाते हैं।

सूंड़ी—सूंडी कई प्रकार की होती है। यह गन्ने, ज्वार, मक्का, चने और आलू की फसलों में आक्रमण करती है।

गन्ने की सूँड़ी—यह गन्ने में जड़ों, तने और अगोले (गेंड़) में लगती है। इससे पैदावार मारी जाती है। जड़ों और तने की सूँडी तने की पत्तियाँ सुखा देती है और अगोला की सूंडी तने का बढ़ाव रोक कर कई शाखाएँ पैदा कर देती है। जड़ों की सूँडी भूसे के रंग की, तने की भूरे रंग की और अगोले वाली दुधिया रंग की होती है। इन्हें दूर करने के लिए रोगी पौधे को उखाड़ कर फेंक देना चाहिए और इनके गुच्छे पकड़ कर मार डालना चाहिए। रोगी खेत को अच्छी तरह से गर्मी की जुताई करके जला देते हैं।

चने की सूँड़ी—इसका रंग हरा होता है। इसका आक्रमण बड़ा भयंकर होता है। यह चने की फलियों में छेद कर अन्दर प्रवेश कर जाती है और बीज खा जाती है। इसे पकड़ कर जला देना चाहिए। इसे मारने के लिए डी० डी० टी० का घोल छिड़का जाता है।

आलू की सूँड़ी—यह सूंडी गोदामों के आलू पर धावा करती है और उसके अँखुएँ खा जाती है। इसका रंग पीला गुलाबी होता है। इस कीड़े से प्रभावित आलू निकाल कर फेंक देना चाहिए। डी० डी० टी० के घोल से भी इस कीड़े से रक्षा की जाती है।

ज्वार-मक्के की सूँड़ी—यह गुलाबी और भूरे रंग की होती हैं। तनों में प्रवेश करकें फसल दुर्बल बना देना ही इनका कार्य है। इनके निर्मूलन के लिए प्रभावित पौधों को उखाड़ कर जला देना चाहिए। डी० डी० टी० का घोल भी लाभ करता है।

दीमक—यह बहुत हानिकारक कीड़ा है जो गन्ना, गेहूँ आदि फसलों पर आक्रमण करता है। यह कच्चे गोबर की खाद खेत में डालने से अधिक उत्पन्न होता है। यह पौधों की जड़ें, तने और पत्तियाँ खा जाता है। कमरे में रखे गये कागज और कपड़ों पर भी दीमक लग जाया करते हैं। इनमें अंडे, नौकर, सिपाही, पंखवाले दीमक और रानी आदि होती हैं। इन्हें दूर करने के लिए खेत में सिचाई की जाती है। बी० एच० सी० या डी० डी० टी० का घोल छिड़क कर इन कीड़ों को मारा जाता है। नीम की खली के प्रयोग से भी ये मर जाते हैं। इन्हें रोकने के लिए खेत में कच्ची खाद नहीं छोड़ी जानी चाहिए।

धान का गन्धी—यह कीड़ा धान की फसल पर पाया जाता है। इसका रंग हरा और भूरा होता है। इसकी लम्बाई १" के लगभग होती है। यह फसल पर आक्रमण करके उसके बीजों का रस चूस लेता है और फसल मारी जाती है। इनके अण्डे फसल की पत्तियों पर पाये जाते हैं। इससे पत्तियाँ भी कमजोर पड़ जाती हैं। इन कीड़ों को नष्ट करने के लिए एक पाउडर छिड़का जाता है। इन्हें जालियों में पकड़ कर जला दिया जाता है। जिस पौधे में इनके अण्डे-बच्चे हों उसे उखाड़ कर फेंक देना चाहिए। एक और प्रकार की सूँडी धान में पाई जाती है जो तने में छेद करके पौधों को सुखा देती है। बीमार पौधों को उखाड़ कर जला देना चाहिए।

टिड्डे—ये कीड़े फुदकने वाले होते हैं जो फुदक-फुदक कर फसलों पर आक्रमण करते हैं। ये खरीफ की ऋतु में ही पाये जाते हैं। इनसे गन्ना, धान, बाजरा, ज्वार, मक्का आदि फसलों की हानि होती है। ये पत्तियों को कुतर-कुतर कर खराब कर देते हैं और फसल दुर्बल हो जाती है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में ऐसे कीड़े अधिक संख्या में पाये जाते हैं। इन्हें दूर करने के लिए कीट-विनाशक चूर्ण का प्रयोग किया जाता है। गर्मी की कड़ी जुताई से ये बिनष्ट हो जाते हैं। जालियों की सहायता से इन्हें पकड़ कर मार डाला जाता है।

चने का गदहिला कीड़ा—यह मटमैला रंग का लगभग डेढ़ इंच लम्बा कीड़ा है। यह चना, आलू, गोभी, मटर आदि फसलों को हानि पहुँचाता है। यह पौधे को काट कर उसकी पत्तियों को चाट जाता है। इसका आक्रमण रात को अधिकतर होता है। डी० डी० टी० का पाउडर अधिक लाभ करता है।

टिड्डी—यह बहुत भयंकर कीड़ा है। बरसात के दिनों में इन कीड़ों का आक्रमण होता है। ये झुण्ड के झुण्ड चलती हैं। दिन के समय चलने पर आकाश लाल दिखाई पड़ता है। ये जिस फसल या बाग पर पड़ती हैं उसे चाट कर साफ कर जाती हैं, पत्तियाँ भी नहीं छोड़तीं। इनसे अकाल की बहुत सम्भावना होती है। इन्हें पकड़ कर मार डालना चाहिए। आक्रमण के समय खेत की सिंचाई कर देते हैं और अण्डों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर मार डालते हैं। जहाँ ये अधिक संख्या में पाये जायँ, वहाँ आग लगा देनी चाहिए।

घुन—यह घर में रखे बीज पर धावा बोलता है और उसे छेद कर अंदर प्रवेश कर जाता है तथा बीज को खा जाता है। इससे प्रति वर्ष बहुत हानि होती है। इससे बचने के लिए कार्बन डाई सल्फाइड का घोल अच्छा पड़ता है। सूखे हुए अन्न पर ये आक्रमण नहीं करते।

इन कीड़ों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के कीड़े प्रकृति में पाये जाते हैं जो फसलों को हानि पहुँचाते हैं।

कृषि को लाभ पहुँचाने वाले जीव—प्रकृति में बहुत से एसे भी जीव हैं जो किसान को उपज लेने में सहायता प्रदान करते हैं। इनमें जानवर, पक्षी और कीड़े-मकोड़े हैं।

जन्तु—जन्तुओं में कुछ तो ऐसे हैं जो कृषक के बहुत अच्छे सहयोगी हैं और जिनकी अनुपस्थिति में किसान का कार्य ही रुक जा सकता है।

बैल—यह खेत की मिट्टी को बोआई योग्य बनाने, बोने, सिंचाई करने, दवाँई करने, समान ढोने आदि अनेक कार्यों में काम करता है। यद्यपि आज के वैज्ञानिक विश्व ने मशीनों का आविष्कार कर बैलों की आवश्यकता कम कर दी है। फिर भी हमारे निर्धन देश में इनकी बहुत बड़ी माँग है। ये मशीनों की अपेक्षा सस्ते पड़ते हैं और आसानी से प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

गाय—यह बैल उत्पन्न करती है और कृषक को दूध पिलाती है। गाय-बैल दोनों अपने गोबर और मूत्रों से खाद तैयार करते हैं। जीवित अवस्था में तो ये कृषक के काम आते ही हैं, मरने पर इनके चमड़े मोट, जूते आदि बनाने के काम आते हैं। इनकी हड्डियों की खाद बनती है।

भैंसे—ये भैंस की पुल्लिंग जातियाँ हैं। इनको प्रजनन में काम में लाते हैं और कहीं-कहीं तो इन्हें बैलों की भाँति हल आदि में जोतते हैं। इनका चमड़ा अधिक प्रयोग में आता है।

भैंस—यह दूध देने और भैंसों को पैदा करने के काम आती है। इसके दूध में घी की मात्रा अधिक पाई जाती है। गायों की अपेक्षा यह जाति दूध अधिक देती है।

बकरी—ये जन्तु भी कृषि के अच्छे काम आते हैं। इनके मूत्र और गोबर खाद में प्रयोग होते हैं। बकरी का दूध तपेदिक के रोगी को दिया जाता है। क्योंकि इस रोग के कीटाणु इस दूध से मर जाया करते हैं।

भेड़ें—इनका मूत्र और गोबर खेती के लिए बहुत लाभदायक होता है। इनके बाल के ऊन बनाये जाते हैं जिनका कृषि में बहुत महत्व है।

ऊँट—हमारे यहाँ ये सामान ढोने और रहट में जोते जाने के ही प्रयोग में आते हैं पर रेगिस्तानों में इनका प्रयोग हल खींचने में भी किया जाता है। ऊँटनी दूध देती है जिसे खाने के काम में लाया जाता है।

घोड़े—प्रायः घोड़ों का प्रयोग सवारी के काम में होता है पर कुछ सामान ढोने और इक्का ताँगा आदि खींचने में प्रयुक्त होते हैं। घोड़ों का मूत्र और गोबर कृषि में खाद के काम आता है।

गदहे और खच्चर—इन्हें सामान ढोने में ही अधिकांशतः प्रयोग करते हैं। दूध और खाद भी प्राप्त होता है। खच्चर खेत में खाद आदि पहुँचाने में अधिक काम आते हैं। खलिहान में अनाज ढोने में भी ये सहायता करते हैं।

कुत्ता—यह दो प्रकार के होते हैं। पालतू और जंगली। इनमें पालतू जातियाँ ही कृषक के काम आती हैं। जंगली हानि पहुँचाते हैं पर पालतू खेत की रखवाली करते हैं। घर पर चोरों आदि को भोंक कर भगा देते हैं।

बिल्लियाँ—ये चूहों की जानी दुश्मन हैं। घरों में रहने वाले चूहे इनसे तंग रहते हैं। जहाँ किसी भी बिल्ली की दृष्टि में चूहे आये कि बिल्ली का पंजा इनके सिर पर पड़ा। इससे चूहों का प्रभाव कम हो जाता है और किसान का बीज नुकसान होने से बच जाता है।

उपयोगी चिड़ियाँ—खेती को हानि पहुँचाने वाले पक्षियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी पक्षी हैं जो किसान को लाभ पहुँचाते हैं। ये कृषि के हानिकारक कीड़े मकोड़े चुन-चुन कर खा डालते हैं और किसान उनके भयंकर आक्रमण से बच जाता है। इनके नाम निम्नलिखित हैं—

कठफोड़वा—यह मांसाहारी पक्षी है और छोटे-छोटे कीड़ों को खा जाता है।
दहियल—यह हानिकारक कीड़ों को खाता है।
भुजंगा—कीड़े ही इसके आहार हैं।
बुलबुल—यह बागोंमें बहुधा रहता है और कीड़ों को खाता है।
पीलक—यह भी कीड़ों पर ही जीवित रहता है।
हुदहुद—माँसाहारी जीव है।
पिद्दी—माँसाहारी जीव है।

कबूतर—यह घास के बीज खाकर घास की जाति ही समाप्त करता है। यह सरसों से अधिक प्रेम करता है।

मोर—यह हानिकर साँप खा जाता है।

तीतर—इसका आहार दीमक है। जहाँ दीमक दिखाई देता है ये उन्हें चट कर जाते हैं।

उल्लू—यह रात को निकलता है और हानिकारक जन्तुओं को अपना आहार बनाता है।

बाज—यह शिकारी जीव है। यह बड़े-बड़े पक्षियों को मार गिराता है।

शिकरा—यह भी किसानों के लाभ का पक्षी है।

उपयोगी कीड़े-मकोड़े—कीड़े-मकोड़े की जातियों में भी बहुत से ऐसे हैं जो ज्ञान या अज्ञान में कृषक के अधिक काम आ जाते हैं। मछलियाँ और मेढक तालाबों के अन्दर रहने वाले हानिकारक कीटाणु खा जाते हैं। मरने के बाद ये भूमि को जीवांश देते हैं। शहद की मक्खी एक फूल से दूसरे फूल तक उड़-उड़ कर शहद इकट्ठा करती है, जो किसानों के बड़े काम का होता है और साथ ही फलों में सेचन क्रिया भी करती है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के कीड़े एक फूल से दूसरे फूल को उड़ा करते हैं और अज्ञान में कृषि का काम कर जाया करते हैं। रंग-बिरंगी तितलियाँ जो बागों में देखी जाती हैं वे यह कार्य बड़ी सरलतापूर्वक करती हैं। रेशम के कीड़े शहतूत और अण्डी के पेड़ों पर पाये जाते हैं। ये इन पेड़ों की पत्तियाँ खाकर जीवित रहते हैं और रेशम जैसी बहुमूल्य वस्तु तैयार करते हैं। लाख का कीड़ा लाख बनाता है। सीप एक कीड़ा है जो मोती पैदा करता है। एक अन्य कीड़ा मूँगा बनाता है। गुबरीला एक कीड़ा है जो मच्छरों आदि के अण्डों को खा जाता है।

प्रश्न

१—टिप्पिणी लिखो—

अ. उपयोगी चिड़ियाँ

ब. किसान के लिए चार हानिकारक पक्षी (१९५०-५१)

२—हानिकारक और लाभप्रद कीड़ों का वर्णन करते हुए यह बताओ कि कीड़ों के हानिकारक प्रभाव से बचने के लिए क्या-क्या उपाय किये जाते हैं?

३—कुछ हानिकारक जन्तुओं के नाम लिखो।

अध्याय १२

घास-पात

कोई भी पौधा जो अनावश्यक स्थान पर उगे घास-पात या खर-पतवार (Weeds) कहा जाता है। यदि किसी फसल में दूसरी फसल के पौधे उग आये हों तो उन्हें भी घास-पात की ही संज्ञा दी जायगी; क्योंकि वे फसल के पौधों का आहार छीन कर अपना जीवन कायम रखते हैं। किन्तु प्रायः घास-पातों की एक जाति होती है जो फसल के साथ उग आती है। कुछ घास-पात ऐसे होते हैं जो किसी विशेष प्रकार की ही फसल में उगते हैं, पर अधिकतर ऐसा नहीं होता। हाँ ऐसा होता है कि खरीफ की ऋतु में कुछ दूसरी घास-पात हैं तो रबी में कुछ दूसरी। किन्तु यह बात केवल एक वर्षीय घास-पात के लिए ही लागू होती है। जो घास-पात द्विवर्षीय या बहुवर्षीय होते हैं वे तो क्या रबी क्या खरीफ दोनों फसलों में उग सकते हैं।

घास-पात से हानि—घास-पात से कृषि को बहुत हानि होती है :

१. घास-पात खेत में उपस्थित होकर वही आहार शोषित करते हैं जिसे पौधे लेते हैं। इससे पौधों के आहार में कमी आ जाती है।

२. घास-पात व्यर्थ में स्थान घेरते हैं जिससे पौधों का समुचति बढ़ाव और फैलाव नहीं हो पाता।

३. ये कभी-कभी पौधों को रोगी बनाने में भी साथ देते हैं।

४. ये पौधों के प्रकाश और नमी पर ही धावा बोलते हैं।

५. इनके निकालने का खर्च झूठ-मूठ का पड़ता है जिससे लाभ की कटौती करनी पड़ती है।

घास-पातों के वितरित होने के साधन—घास-पातों के खेत में फैलने के कई कारण होते हैं :—

१. **बीज का शुद्ध न होना**—बहुधा कृषक बीज को बिना साफ किये ही खेत में बो देते हैं इससे उसमें उपस्थित घास-पात के बीज पुनः खेत में पहुँच जाते हैं।

२. **सिंचाई के पानी द्वारा**—यदि पानी खेत में ऐसे साधनों से आ रहा है जहाँ से उसमें घास-पातों के बीज का आ जाना सम्भव है तो खेत में इनकी संख्या बढ़ जाती है।

३. **खाद के भली-भाँति सड़े न होने से**—जब खाद अच्छी तरह सड़ी नहीं होती है तो घास-पात के बीजों के बढ़ने के अवसर होते हैं क्योंकि पशुओं के गोबर या कम्पोस्ट में प्रयोग किये गए पौधों में ऐसे बीज प्रायः उपस्थित होते हैं।

४. **उचित जुताई-गुड़ाई करने से**—यदि खेत में घास-पात अधिक हैं तो उन्हें उचित जुताई-गुड़ाई करके खेत से बाहर कर देना चाहिए। यहाँ इस बात का ध्यान

रखना चाहिए कि घास-पात के बीज खेत में न गिरने पावें। औजारों को खेत में प्रयोग करते समय भी घास-पात के बीजों के दूसरे खेतों से आ जाने के अवसर होते हैं।

कुछ घास-पात—यहाँ हम कुछ ऐसे घास-पातों पर प्रकाश डालेंगे जो प्रायः खेतों में उगी हुई मिलती हैं। इनमें से कुछ रबी के घास-पात हैं और कुछ खरीफ के।

रबी के घास-पात—(१) **बथुआ** (Chenopodium album)—यह गेहूँ, जौ, चना, मटर, पालक, गोभी आदि के खेतों में अक्सर उगा हुआ मिलता है। यह एक साधारण ऊँचाई का पौधा है जिसकी ऊँचाई ६" से ३" तक पाई जाती है। पत्तियाँ चौकोर और नुकीली होती हैं जिसे देहातों में साग के काम में भी लाया जाता है। बथुआ का बीज बहुत ही खतरनाक होता है क्योंकि यह जहाँ पड़ गया वहाँ उसका पौधा उग आता है। एक पौधे में बीजों की मात्रा भी बहुत अधिक होती है। अतः इसे दूर करने के लिए बीज पकने के पहले ही निराई करनी चाहिये। निराई करते समय एक और बात का ध्यान रखना चाहिये कि पौधे गहराई से काट लिए जायँ अन्यथा इनके पनपने का भय रहता है।

(२) **बन प्याज** (Asphodelus tenuifolius)—यह प्याज के आकार का पौधा है पर उससे ऊँचाई में कुछ छोटा होता है और इसमें गाँठें नहीं होती हैं। पौधा १' से लेकर २" तक ऊँचा होता है। पत्तियाँ कोमल और गोल-गोल होती हैं। फूल और बीज ऊपरी हिस्से पर निकलते हैं जो संख्या में बहुत अधिक होते हैं। ये चना के खेत में बहुत पाये जाते हैं और जिस खेत में एक बार उग गए उसमें प्रति वर्ष उगेंगे और इनकी संख्या भी वैसे धुआँधार गति से बढ़ती जायगी।

इसे दूर करने के लिए निराई करनी आवश्यक है किन्तु निराई उस समय की जाय जबकि पौधे बहुत छोटे हों और उनमें फूल भी निकले हों।

(३) **चन्दबेल या हिरनखुरी** (Convolulus arwensis)—यह लिपटने वाला पौधा है जो किसी पौधे के सहारे लिपटता हुआ चढ़ता है। इसके तने कोमल और नर्म होते हैं जो जड़ से निकलते हैं। किन्तु तने के लिपटने से फसल के पौधों की बाढ़ रुक जाती है। ये बीज और तने दोनों से पैदा होते हैं। अतः इन्हें दूर करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भूमि में इसके बीज के अतिरिक्त तने का टुकड़ा भी अवशेष रहे। खेत को गहरी जुताई और कई बार की निराई-गुड़ाई से इसकी जड़ समाप्त हो जाती है। यह एक बारहमासी पौधा है। इसके बीज पशुओं को हानि पहुँचाते हैं।

(४) **कँटीला** (Argemone moxeicana)—यह अमेरिका का पौधा है पर आज कल हमारे देश में लगभग हर स्थान पर पाया जाता है। यह प्रायः खेतों या नहरों के किनारे, सड़कों के किनारे, परती खेत आदि में उगा हुआ पाया जाता है। इसकी उँचाई २½" से ४" तक होती है। इसका पौधा काँटेदार, सीधा और हरा होता है। इसके फूल चमकीले पीले होते हैं। इसके बीज सरसों के बीज से मिलते-जुलते हैं। एक पौधा संख्या में लगभग २०००० से ३०००० तक बीज पैदा करता है।

इसे खेत से निकालने के लिए इसकी निराई उसी समय करनी चाहिए जबकि पौधे में बीज न उत्पन्न हों।

खरीफ के घास-पात (१) मोथा (Cyperus rotundus)—यह एक बारहमासी पौधा है जो लगभग सभी प्रकार के खेतों में उगता है। यह जड़ और बीज दोनों से पैदा होता है। जड़ों में गाँठें होती हैं जिनमें पौधों का आहार एकत्रित रहता है। इन गाँठों में तापक्रम और शुष्कता को सहन करने की अद्भुत शक्ति होती है। यही कारण है कि इसे साधारण ढंग से नहीं निकाला जा सकता है। किसान प्रति वर्ष मोथों को खेतों से निकालता है और फिर ये उसी प्रकार निकल आते हैं। ये गाँठें जब तक खेत में रहेंगी तब तक पौधों को हटाना कठिन हो जाता है। गाँठें सभी भूमि में एक गहराई पर नहीं रहतीं। बलुई में ये तो २-३ फीट की गहराई में पाई जाती हैं पर नम भरी भूमि में ये ऊपरी धरातल पर उपस्थित होती हैं।

मोथा को खेत से दूर करने के लिए भूमि को अधिक गहराई तक जोतना चाहिए जिससे गाँठें ऊपरी सतह पर आ जाती है और फिर सूख जाती हैं। ऐसा बार-बार करने से मोथा जाता है। बीजों से बचाव के लिए पौधों को तभी काट देना चाहिए जबकि उनमें फूल न निकला रहे। उसे दूर करने का एक वैज्ञानिम ढंग है कि खेत में सोडियम आर्सिनेट छिड़कना चाहिए किन्तु वह हमारे कृषकों के लिए बहुत महँगा पड़ेगा।

(२) **दूब** (Cynodon dactilon)—यह भी मोथा की भाँति बारहमासी पौधा है और जुते या बिना जूते दोनों प्रकार के खेतों में पाया जाता है। यह पौधा फसलों के लिए जितना हानिकारक है, पशुओं के लिए उतना ही लाभदायक है क्योंकि लगभग वर्ष भर यह हरा चारा होता है। कभी-कभी दूब मैदानों में उगायी जाती है। मिट्टी के बाँधों पर इसे उगाने से बाँध मजबूत हो जाते हैं और उन पर मृदाक्षरण के अवसर कम हो जाते हैं।

दूब का बौधा भूमि से सटा हुआ चलता है। कुछ-कुछ दूर पर गाँठों से शाखाएँ निकलती हैं जो सीधी और पत्तीदार होती हैं। इनकी ऊँचाई कभी अधिक औरकभी कम होती है। गाँठों से जड़ें निकलती हैं जो भूमि में चलती चली जाती हैं। खेत से दूब का पौधा निकालने के लिए गहरी जुताई की आवश्यकता होती है। किन्तु इस जुताई में जब घासें खोद जायँ तो उन्हें मिट्टी से निकाल लेना अच्छा पड़ता है जुताई में मोल्ड बोर्ड हल अच्छा काम देता है। कभी-कभी दूब को कुदाली या फावड़े से भी खोद कर खेत से निकाल लेते हैं। कुदाली का ढंग अच्छा पड़ता है क्योंकि इससे एक भी पौधा बच नहीं पाता।

(३) **कांस** (Saecharum spontneum)—यह घास-कुल का बारहमासी है जो बीज और भूमिगत तने से पैदा होता है। इसके तने को राईजोम (Raeizome) कहते हैं। तने की ऊँचाई ४ से ६ फीट तक होती हैं। यह जिस खेत में होता है उसमें फसलें अच्छी नहीं हो पातीं। बुन्देलखण्ड की ओर यह अधिक पाई जाती है। दूब की भाँति इसे भी कभी-कभी बाँधों पर उगाते हैं जिससे उनकी मिट्टी कटने से

बच जाती है। नहरी क्षेत्रों में भी यह मिट्टी को बहने से रोकता है। इसका प्रयोग छप्पर बनाने में भी होता है।

काँस को दूर करने के लिए खेत की गहरी जुताई बहुत आवश्यक है। गहरी जुताई ट्रैक्टर द्वारा आसानी से हो सकती है और यह सस्ता भी पड़ता है। काँस के बीजों पर रोक लगाने के लिए पौधों को बीज आने से पहले ही काट कर फेंक देना चाहिए।

(४) **पथरी** (Trianthiaem Monogyna)—दूब की भाँति यह घास भी लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाई जाती है। यह एक ऐसा पौधा है जो खेत में जकड़ जाने पर फसल का बढ़ाव बन्द कर देता है। इसका तना गूदेदार होता है। यह लगभग सभी भूमियों में उग सकता है किन्तु उर्वर भूमि में इसका बढ़ाव शीघ्र होता है।

पथरी का पौधा बीजों द्वारा उत्पन्न होता है जो रंग में काले होते हैं। इसे नष्ट करने के लिए सबसे अच्छा उपाय यही है कि पौधों को फूल आने से पहले ही खेत से निकाल दिया जाय।

(५) **फूस या कूसा** (Eragrustis Cynosunoides)—काँस की भाँति यह भी एक बारहमासी पौधा है। यह हमारे प्रदेश में बहुधा देखने को मिलता है। दोआबा में यह बहुतायत से मिलता है। लोग इसकी रस्सियाँ बनाते हैं। इसका तना राइजोम होता है जो ऊँचाई में १ से ३ फीट तक पाया जाता है।

इसे खेत से निकालने के लिए भूमि की गहरी जुताई आवश्यक है। गहरी जुताई के लिए मोल्ड बोर्ड हल अच्छे होते हैं।

(६) **चौलाई**—चौलाई भी एक घास पात है जो बहुधा घरों के अगवाड़े-पिछवाड़े या परती भूमि में देखने को मिलता है। बोये गए खेतों में भी यह पाया जाता है। इसका पौधा १" से २" तक ऊँचा होता है। तना कोमल, सीधा और हरा तथा पत्तियाँ चौड़ी और काँटेदार होती हैं। बथुआ की भाँति यह भी साग बनाने के काम आता है।

इसे खेत से दूर करने के लिए एक निकाई काफी है। बीजों का वितरण रोकने के लिए इन्हें फूल लगने से पहले ही खेत से निकाल देना चाहिए।

उपर्युक्त घास-पातों के अतिरिक्त कुछ और भी पौधे होते हैं जो फसल को हानि पहुँचाते हैं पर यहाँ उन सभी का वर्णन दे देना सम्भव नहीं है।

घास-पातों को निकालने के ढंग—घास-पातों को रोकने के कई ढंग हैं :—

(१) **गहरी जुताई-गुड़ाई**—गहरी जुताई से लम्बी जड़ वाली घासें जैसे मोथा, दूब आदि विनष्ट हो जाती हैं। किन्तु इसके लिए देशी हल अच्छा काम नहीं देता। मोल्ड बोर्ड या ट्रैक्टर अधिक गहराई की मिट्टी उलट देते हैं। बखर भी इस काम में अच्छा काम देता है। बुन्देलखण्ड की भूमि में काँस को समाप्त करने में यह काफी योग देता है।

(२) **सिंचाई के पानी की सफाई**—घास-पातों के बढ़ने के कारणों का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि कुछ बीज पानी में बहते हुए खेत तक पहुँच जाते हैं।

अतः इससे बचने के लिए ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि सिंचाई के पानी में खर-पतवार या उनके बीज न आने पावें। नहरी क्षेत्रों में नहरों के किनारे उगे पौधे अपना बीज नहर के पानी में ही गिराते हैं जो बहते-बहते खेत में पहुँचता है। सिंचाई की नालियों में भी (जो कच्ची होती है) प्रायः घास-पात उग आते हैं जिनसे पानी आते समय बीज भी चले आते हैं। अतः एक आदमी इसके लिए नियुक्त होना चाहिए जो पानी में ऐसे बीज न आने दे।

(३) **बोआई के समय शुद्ध बीज का प्रयोग**—किसान प्रायः बोआई के समय बीज की सफाई पर अधिक ध्यान नहीं देता है इससे हानि यह होती है कि घास-पात के बीज भी खेत में पहुँच जाते हैं। अतः बोआई के पहले बीज को भली-भाँति साफ कर लेना बहुत जरूरी है। हमारे यहाँ के बनिए काफी अशुद्ध बीज बेचते हैं। यदि बीज शुद्ध भी होता है तो वे बेईमानी करने के लिए उसमें तरह-तरह के बीज डाल देते हैं ताकि लाभ अधिक हो। किसानों को पहले तो उनसे बीज खरीदना नहीं चाहिए किन्तु यदि असमर्थता हो तो बोआई से पहले उसे काफी शुद्ध कर लेना चाहिए।

(४) **साफ यन्त्रों का प्रयोग**—खेत में प्रयोग किये जाने वाले हलों से भी एक खेत के घास-पात के बीज दूसरे खेत में चले जाते हैं। अतः उन्हें प्रयोग करने के पहले भली-भाँति साफ कर लेना चाहिए।

(५) **रासायनिक विधि**—कुछ ऐसी दवाइयाँ तैयार की गई हैं जो प्रयोग कर देने पर घास-पात को समूल नष्ट कर देती हैं। इनमें मुख्य सोडियम आर्सिनेट, कापर सल्फेट, आयरन सल्फेट, कार्बोलिक एसिड, सोडियम क्लोराइड, सलफ्यूरिक एसिड आदि हैं। इन दवाइयों के प्रयोग भिन्न-भिन्न हैं। कापर सल्फेट और सोडियम आर्सिनेट के प्रयोग करने का ढंग द्रव रूप में है। इन्हें द्रव रूप में खेत में छिड़कते हैं जिससे घास-पात विनष्ट हो जाते हैं।

यह विधि उत्तम तो है पर महँगी होने से हमारे देश में प्रचलित नहीं है।

(६) **कीड़ों द्वारा**—मद्रास और बम्बई में एक प्रयोग द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि घास-पातों का नाश कीड़ों और बीमारियों द्वारा भी किया जा सकता है। वहाँ एक खास घास पर एक प्रकार के कीड़ों का आक्रमण कराया गया और देखा गया कि कीड़ों के प्रभाव से यह घास खेत से नष्ट हो गई। यह विधि बिल्कुल नई विधि है और इसमें अधिक ज्ञान की आवश्यकता होती है। साधारण कृषक इसका उपयोग नहीं कर सकते। इसके उपयोग में थोड़ी भी असावधानी से फसल की हानि होने का भय रहता है।

प्रश्न

१. **घास-पात की परिभाषा बताते हुए उनसे होने वाली हानियों का उल्लेख करो?**

२. **रबी और खरीफ की कुछ खास घास-पातों का विवरण दो और उन्हें दूर करने के उपाय भी बताओ।**

अध्याय १३

हमारे पशु और पशु-विज्ञान

भारत कृषिप्रधान देश है। यहाँ की ९०% जनता कृषि पर अवलम्बित रहती है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारी कृषि अपनी उपज से सभी भारतीय जनता का उदर-पोषण नहीं कर पाती। हमें अन्न के लिए विदेशों की ओर मुँह उठाना पड़ता है। दुर्भिक्ष या अन्न-संकट काल में तो भयंकर विपत्ति ही टूट पड़ती है। इसका कारण यह है कि हमारी कृषि एक मात्र प्रकृति पर निर्भर है। यदि प्रकृति अनुकूल रही तब तो वाह-वाह है और प्रतिकूल हुई तो सब कुछ गया। यह परिस्थिति हमारे ही यहाँ है। अमेरिका आदि देशों में वैज्ञानिक कृषि इतने विकास पर पहुँच गई है कि प्रकृति के लाख प्रतिकूल रहने पर उनकी खेती मारी नहीं जा सकती। वहाँ मशीनों की भरमार है। सारा कार्य मशीनों की सहायता से किया जाता है। इसीलिए वह देश सम्पन्न है, वहाँ के रहनेवाले सुखी हैं और उनके विकास का पथ खुला है। वहाँ की उपज इतनी यथेष्ट मात्रा में होती है कि अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने के बाद लाखों टन गल्ला बाहर भेजा जाता है। यह तो रही अन्न की बात, वहाँ घी-दूध की भी कमी नहीं। उत्तम से उत्तम किस्म की गायें और भैंसें वहाँ पाली जाती हैं। उनके बैल, साँड़ और भैंसे उत्तम जाति के होते हैं। बकरियाँ और भेड़ें दूध के लिए पाली जाती हैं जो हमारी गायें और भैंसों से अधिक दूध देती हैं। हमारी गायों-भैंसों की संख्या तो बहुत अधिक है किन्तु दूध-घी का उत्पादन बहुत थोड़ा है। यही हमारा देश है जहाँ प्राचीन काल में घी-दूध की नदियाँ बहा करती थीं। लोगों की सम्पत्ति के साथ उनकी पशु संख्या का भी काफी महत्व था; इसका इतिहास साक्षी है। पर वही देश आज दूध-घी के लिए कंगाल बना हुआ है। गायों और भैंसों की कमी नहीं है, कमी है उनके भोजन की, रहने-सहने की व्यवस्था की और उनकी उत्तम जातियों की। हमारे यहाँ लोग बैलों से काम लेना खूब जानते हैं पर उन्हें खिलाना नहीं जानते। उसी प्रकार गायों से केवल बछड़ा ही लेना जानते हैं उनकी हिफाजत और उनके स्वास्थ्य आदि का ध्यान नहीं रखते। गायों को केवल चराई पर ही अवलम्बित रहना पड़ता है। उन्हें भूसा और खली यदि दी भी जाती है तो बहुत थोड़ी। ऐसी अवस्था में वे क्या दूध दे सकेंगी? जब कि अमेरिका आदि में दाने और खलियाँ पशुओं के भोजन में अधिक मात्रा में दी जाती हैं। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि लोग हमारे यहाँ गाय को लक्ष्मी की भाँति पूजते हैं किन्तु उनकी सेवा उतनी नहीं करते जितनी भैंसों की करते हैं। उनकी ऐसी धारणा है कि गायें भैंसों के मुकाबले में कुछ भी नहीं हैं। न वे इतना दूध ही दे सकती हैं और न उनके दूध में इतने घी की मात्रा उपलब्ध होती है।

किन्तु उनकी इस धारणा का कोई आधार नहीं है। भैंसों की भाँति ही यदि उत्तम जाति की गाय की सेवा की जाय और उनके भोजन, रहने आदि की समुचित व्यवस्था की जाय तो गायें भैंसों से अधिक दूध देती हुई पाई जायँगी। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि एक गाय एक दिन में २० सेर तक दूध दे सकती है। रासायनिक विश्लेषण से ज्ञात किया गया है कि गाय के दूध में भैंस की अपेक्षा अधिक उपयोगी तत्व वर्तमान रहते हैं जैसा नीचे की सारिणी से व्यक्त होता है—

नाम पदार्थ	गाय	भैंस
पानी	८७.२७ %	८२.२२ %
प्रोटीन	३.३९ %	४.३८ %
घी	३.६८ %	७.६६ %
चीनी	४.९४ %	४.८२ %
नमक	.७२ %	.९२ %

यद्यपि यह सत्य है कि भैंस के दूध में घी की मात्रा गाय से अधिक होती है पर डाक्टर रुग्ण व्यक्ति को गाय का ही दूध सेवन करने की राय देते हैं। आखिर क्यों? इसीलिये न कि गाय का दूध हानिकारक नहीं सिद्ध हो सकता, जहाँ भैंस का दूध अपच कर सकता है। हमारे देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से गाय-भैंसों की समस्या पर काफी ध्यान दिया जा रहा है। सरकारी फार्मों पर अच्छे किस्म के साँड़ रखे जा रहे हैं और उनके द्वारा उत्तम जाति की गायों की जातियाँ निकाली जा रही हैं। प्रजनन की अनेक वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जा रहा है। उत्तर प्रदेशीय सरकार ने प्रत्येक ग्राम पंचायत को केवल ५० रुपये में साँड़ देना स्वीकार किया है जिससे गायों की जातियाँ उत्तम किस्म की हो सकें। यदि हम देश की उत्तम जातियों को पालें और नये ढंग से उन्हें खाना खिलावें, रहने का प्रबन्ध वैज्ञानिक ढंग से करें और उनकी प्रत्येक स्थितियों से सतर्क रहें तो सम्भव है कि हमारे पशुओं की यह समस्या शीघ्र हल हो जाय और हमारी भ: गायें उतना दूध देने लगें जितना अमेरिका आदि में दे रही हैं।

पशु-पालन में निम्नलिखित कुछ बातें अधिक महत्व रखती हैं जिनका पालन प्रत्येक पशु-पालक का कर्तव्य है—

१. पशु-शाला की उत्तम व्यवस्था,
२. उत्तम भोजन, तथा
३. उनकी देखभाल।

पशु-शाला—पशुओं के रहने, उठने, बैठने, खाने पीने आदि का स्थान पशु-शाला कहा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य के रहने के स्थान स्वास्थ्य की दृष्टि से

उच्च कोटि का होना चाहिए ठीक उसी प्रकार पशुओं का भी घर अस्वास्थ्यकर नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

पशुओं के लिए उपयुक्त मकान बनाना चाहिए जहाँ वे जाड़े, गर्मी और बरसात तीनों ऋतुओं में सुखपूर्वक जीवन बिता सकें। ऐसा घर नहीं होना चाहिए जो गर्मी में तपने लगे, बरसात में चूने लगे या बौछार आये और जाड़े में काफी ठंडा हो जाय। इन बातों को ध्यान मे रखकर घर बनाया जाय। स्थान यदि बहुत खुला रहे तो अत्युत्तम हो। जहाँ वायु और प्रकाश अधिक मात्रा में आ सके। पशु-शाला में दरवाजों और खिड़कियों की अधिकता होनी चाहिए। दरवाजों को लम्बा और चौड़ा बनाना चाहिए जिससे आने-जाने में पशुओं को कठिनाई न हो। अच्छा हो, यदि दरवाजे और खिड़कियाँ बिना फाटक की रहें। यदि पशुओं की संख्या अधिक है तो उन्हें दो पंक्तियों में खड़ा करना चाहिए। उनके खड़े होने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि एक पंक्ति में एक जाति के ही पशु हों और इन पंक्तियों के पशुओं का मुँह विपरीत दिशा में इस प्रकार हो कि वे दरवाजे की ओर ही देख सकें। प्रत्येक पशु के सामने नाँदों या ऐसे बर्तनों का प्रबन्ध होना चाहिए जहाँ से वे भूसा-घास और पानी ले सकें।

पशु-शाला अपनी इच्छानुसार कच्ची या पक्की बनाई जा सकती है पर छत ऊँची रखना श्रेयस्कर होता है। फर्श पक्की हो या कच्ची उसका ढालवाँ होना आवश्यक है। पक्के फर्श का ढाल प्रति ८-१० फीट पर २"-४" होना चाहिए ताकि पशुओं का मूत्र सरलतापूर्वक ढाल की ओर बह जाय। ढाल की ओर मूत्र बहा ले जाने के लिए एक नाली बनी होनी चाहिए। इस नाली का अन्त, एक गड्ढे में होना चाहिए जहाँ मूत्र या पशुशाले का पानी जमा हो सके। फर्श के ढालवें न होने पर मूत्र आदि के बहने में कठिनाई होती है। फर्श की ईंटें, सीमेन्ट या कांकरीट से पक्की की जा सकती हैं पर खर्च विशेष पड़ जाता है। इससे एक लाभ यह होता है कि फर्श को बार-बार नहीं बनवाना पड़ता। सीमेंट के फर्श पर पशुओं के फिसलने का अधिक भय रहता है, अतः ईंटों का ही फर्श अधिक प्रचलित है। कच्चे फर्श पर मूत्र बहता हों। इसलिए उसके सोखने के लिए बराबर सूखी-बारीक मिट्टी फर्श पर छोड़ी जाती है। जब यह मिट्टी भींग जाय तो इसे उठा कर खाद के गड्ढे में फेंक देना चाहिए और दूसरी मिट्टी डाल देनी चाहिए।

इन सब बातों के साथ पशु-शाले की सफाई अनिवार्य है। पशु-शाले में पशुओं का गोबर अधिक देर तक नहीं छोड़ना चाहिए। अच्छा हो, यदि उसे उसी समय उठा कर पशुओं से अलग कर दिया जाय। पेशाब की नालियों और पशुओं के खाने तथा पानी पीने वाले पात्रों को भी हर दूसरे-तीसरे दिन धोना चाहिए। मकान की दीवाल पर जाले आदि नहीं लगने देना चाहिए। पशु-शाले की सहन मैदान के रूप में होनी चाहिए। इसीलिए पशु-शाले को बस्ती में न बना कर मैदान में बस्ती से बाहर बनाते हैं जहाँ चारे आदि की सुविधा रहती है। पशुओं के लिए पीने वाले पानी की शुद्धता और भोजन की सादगी आवश्यक है। इनका निरीक्षण पशुओं के प्रयोग करने से पहले कर

लेना चाहिए। बीमार पशु के लिए अलग कमरे की व्यवस्था हो जहाँ वह एकाग्रचित्त होकर आराम पा सके और इससे अन्य पशु भी उसके रोग के शिकार न बन सकें। पशुओं को ब्रुश से झाड़ना और स्नान कराना जरूरी होता है। इससे उनमें स्फूर्ति आती है।

पशु-शाला का निर्माण इस हिसाब से करना चाहिए कि प्रत्येक पशु ८×५ फीट स्थान पा सके। उसे हवा की कमी का भी अनुभव न हो। एक जानवर को ५००-६०० घन फीट हवा पर्याप्त होती है। सर्दी के दिनों में जब ठण्डी पछुवा हवा बहने लगती है और पशु-शाले का द्वार पश्चिम की ओर ही रहता है तो जानवरों को जाड़ा लगने का भय रहता है, उसी तरह गर्मी के दिनों में लू लगने का खतरा रहता है। अतः इन दिनों दरवाजों पर टाट या टट्टियाँ लगा दी जाती हैं ताकि हवाओं का प्रभाव भीतर तक न हो सके।

भोजन—पशुओं को दिया जाने वाला चारा दो प्रकार का होता है। (१) सूखा चारा और (२) हरा चारा। सूखे चारे में ज्वार, बाजरे, मक्के आदि की करबी, जिसे कुट्टी काट कर पशुओं को दिया जाता है, सम्मिलित है। अनेक फसलों के भूसे जिनमें गेहूँ, जौ, चना, मटर, सरसों आदि के भूसे आते हैं, भोजन में प्रयुक्त होते हैं, काट कर कुट्टी नहीं बनानी पड़ती है क्योंकि मड़ाई करके ही ये इस योग्य कर दिये जाते हैं कि पशु इन्हें सरलतापूर्वक खा सकें। इसके अतिरिक्त घासें, धान के पुआल, सावाँ, कोदो आदि के डण्ठल आदि भी चारे में आते हैं जिन्हें पशुओं को खिलाया जाता है। इन्हें भी चारे काटने वाली मशीनों द्वारा कुट्टी के रूप में बदला जाता है। हरे चारे में समस्त खरीफ या रबी की वे फसलें आती हैं जिन्हें हरे रूप में ही पशुओं को खिलाया जाता है। मक्का, बाजरा, उर्द, मूँग, ज्वार, रिजका, बरसीम, सेंजी, मेथी, सरसो, लाही, मटर, जई आदि फसलें इसमें सम्मिलित की जाती हैं।

पशुओं के भोजन में सूखे और हरे चारे का होना आवश्यक है। खाली सूखा भूसा या चारा ठीक भोजन नहीं कहा जाता है। सूखे की अपेक्षा हरे चारे पशु अधिक रुचि से खाते हैं किंतु केवल हरे चारे खिलाने से भी भोजन उचित नहीं होता। अतः पशुओं के भोजन में हरे और सूखे चारे का मिश्रण अधिक उपयोगी होता है। इस मिश्रण में दोनों चारों का अनुपात समान ही होना चाहिए।

हरे चारे के साथ एक कठिनाई हमारे सामने यह आती है कि यह बराबर हर समय नहीं उपलब्ध हो सकता। इसमें ऋतु, पानी, गर्मी आदि अनेक बातें अड़चन प्रस्तुत करती हैं। चारागाहों से यह कमी किसी सीमा तक पूरी की जा सकती थी किन्तु हमारे यहाँ इनका पर्याप्त अभाव है। प्रत्येक किसान की इतनी शक्ति नहीं है कि वह चरागाह रख सके। इसके लिए एक बहुत अच्छा उपाय काम में आता है। इसमें हरे चारे के दिनों में काफी मात्रा में चारा उगा लिया जाता है और कुट्टी काट कर गड्ढों में भर दिया जाता है। यह विधि साइलेज कही जाती है और गड्ढा या मकान जिसमें यह रखा जाता है साइलो कहते हैं। इस चारे का प्रयोग उस समय करते हैं जब खेत का हरा चारा समाप्त हो जाता है।

साइलेज—साइलेज के लिए भूमि में एक गहरा गोलाकार गड्ढा खोदा जाता है। इसकी गहराई और चौड़ाई चारे की मात्रा पर निर्भर करती है। चारे के अधिक होने पर गड्ढा बड़ा और गहरा बनाया जाता है। यह पक्का और कच्चा दो प्रकार का होता है। पक्के गड्ढे की दीवालों और पेंदे को बिल्कुल पक्का कर देते हैं ताकि भूमि की नमी का प्रभाव गड्ढे पर न पड़ सके। इसे सिमेन्ट द्वारा पक्का करना अच्छा होता है। कच्चे गड्ढे को अच्छी तरह से कूट लेते हैं और दीवालों को गोबर मिट्टी से पोत देते हैं। फिर इन्हें सूखने का काफी समय देते हैं। ताकि नमी के आक्रमण का तनिक भी भय न रहे। अब हरे चारे की कटाई शुरू करनी चाहिए। कटाई में एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि पौधे का बढ़ाव पूरा हो गया हो। कड़े या कच्चे पौधे न काट कर फल आने के समय की कटाई अच्छी होती है। चारे को काटकर कुट्टी काटने वाली मशीन द्वारा कुट्टी कर लेते हैं और फिर गड्ढे में रखना प्रारम्भ करते हैं। पेंदे पर सबसे नीचे सूखी पत्तियाँ और घासें बिछा देनी चाहिए। तत्पश्चात् हरी कुट्टी दबा-दबा कर रख देते हैं। दबाने से कुट्टी में हवा कम रह जाती है क्योंकि हवा और नमी की उपस्थिति में चारे के खराब हो जाने का भय रहता है। जब गड्ढा भर जाय तो उसे घास-पात की मोटी सूखी तह से ढँक कर मिट्टी की भारी तह इस प्रकार चढ़ा देते हैं कि उसका आकार गुम्बजाकार हो जाय। इससे पानी, बरसने पर इधर-उधर होकर बह जाता है, गड्ढे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने पाता।

यह गड्ढा उसी समय खोला जाता है जबकि हरे चारे की जरूरत होती है। इसे खोल देने पर दूसरा गड्ढा तब तक नहीं खोलना चाहिए जब तक कि इसका पूरा चारा समाप्त न हो जाय। पहले तो इस चारे को पशु नहीं खाते क्योंकि दबने से चारे में कुछ रासायनिक क्रियाएँ होती हैं और इसमें एक प्रकार की गन्ध उत्पन्न होती है किन्तु ४—५ दिनों के बाद वे बड़े चाव से खाने लगते हैं। इससे हरे चारे का कुछ रूप तो अवश्य बदल जाता है किन्तु गुण वही होता है जो हरे चारे में पाया जाता है। यह साइलेज तीन माह में खिलाने के योग्य हो जाता है।

गुण के आधार पर पशुओं का भोजन दो प्रकार का होता है। साधारण और पौष्टिक (Concentrate mixture)। साधारण भोजन में सूखा चारा हरा चारा, करबी (ज्वार-बाजरे का डण्ठल), घास आदि आते हैं और पौष्टिक में खलियाँ, दाना, दालें भूसी, चूनी आदि सम्मिलित की जाती हैं। साधारण चारे के देने से पशु मोटे तो नहीं होते किन्तु जीवित रहते हैं पर पौष्टिक पदार्थ के देने से पशु स्वस्थ और मोटे होते हैं। पौष्टिक पदार्थ अकेले नहीं दिया जाता उसके साथ-साथ साधारण आहार भी देना पड़ता है। केवल पौष्टिक भोजन पशु की उदरपूर्ति नहीं कर पाते उसके आहार को भले ही पूरा कर दें। किन्तु दोनों ही पशुओं के जीवन में महत्व रखते हैं।

पशुओं का आहार—पशुओं के लिए ६ पदार्थ कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, चिकनाई, नमक, विटामिन और पानी आवश्यक हैं। इनका पशु के भोजन में मौजूद रहना अति आवश्यक है। कार्बोहाइड्रेट भूसा और चारे से पशु को मिलता है, अन्न देकर भी इसकी पूर्ति करते हैं। प्रोटीन पौष्टिक पदार्थों और घासों में पाया जाता है। चिकनाई बिनौले

की खली और मूंगफली की खली में पाई जाती है। खनिज पदार्थों के लिए भोजन में साधारण नमक दिये जाते हैं। पशुओं को पानी की अधिक आवश्यकता होती है। हरे चारे में इसकी मात्रा अधिक होती है। दूध देने वाली गाय को हरा चारा अधिक देना चाहिए क्योंकि वह पानी अधिक चाहती है? सूखे भूसे में पानी दसवाँ अंश पाया जाता है। विटामिन की उपस्थिति पशुओं के भोजन में बहुत जरूरी है। यह हरे चारे में पाई जाती है। पौस्टिक पदार्थ रूप में भी यह दी जाती है। इस प्रकार पशुओं का सन्तुलित भोजन (Ba'ance diet) साधारण और पौष्टि पदार्थों का मिश्रण ही है। पशुओं के भोजन की मात्रा निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है—

(१) जानवर का कार्य,
(२) पशु की आयु,
(३) चारे देने का मौसम,
(४) चारे की प्राप्ति, तथा
(५) जानवर की जाति।

पशुओं का आहार बनाना—पशुओं को स्वस्थ और मजबूत बनाने के लिए कुछ आहार निश्चित किये गए हैं जिनके प्रयोग करने से पशु अधिक बलिष्ट और उत्तम होता है। इसके लिए पशु की तौल और उसका दूध यदि देता है तो जानना पड़ता है। पशु की तौल जानने के दो ढंग हैं :

$$(१)\ \frac{\text{सीने की चौड़ाई (इंचों में)} \times \text{पशु की लम्बाई (इंचों में)}}{\text{९ या ८.५ या ८}} = \text{पशु की तौल}$$

(सेर में) जब पशु की सीने की चौड़ाई ६५" से कम हो तो ९ से, ६५", ८०" तक हो तो ८.५ और ८०" से ऊपर हो तो ८ से भाग देना चाहिए।

$$(२)\ \frac{\text{सीने की चौड़ाई (इंचों में)} \times \text{लम्बाई (इंचों में)}}{\text{३००}} = \text{पशु की तौल (पौंड में)}$$

इन दोनों विधियों को उदाहरण से समझा जा सकता है।

उदाहरण—यदि गाय के सीने की चौड़ाई ६०" और लम्बाई ९०" हो तो उसका वजन ज्ञात करो।

पहली विधि द्वारा—पशु की तौल $\frac{\text{६०} \times \text{९०}^{\text{१०}}}{\text{९}}$ = ६०० सेर

दूसरी विधि द्वारा— $= \frac{(\text{६०} \times \text{६०}) \times \text{९०}}{\text{३००}}$

$= \frac{\text{३६००}^{\text{१२}} \times \text{९०}}{\text{३००}}$ = १०८० पौंड

इसके अतिरिक्त जानवर की तौल मशीन द्वारा भी ज्ञात की जाती है। छोटे बछड़ों का वजन उनकी आयु के हिसाब से निकालते हैं। गाय का बछड़ा जन्म के समय

४० पौंड का होता है और प्रति दिन ¾ पौंड बढ़ता है। भैंस का बछड़ा ५० पौंड का जन्म के समय होता है और प्रतिदिन १ पौंड के हिसाब से बढ़ता है।

इस प्रकार जब पशु का वजन मालूम हो जाता है तो उसका आहार बनाते हैं। प्रायः १०० सेर वजन पर पशु को २ सेर सूखा चारा अथवा ६ सेर हरा चारा देते हैं। हरे चारे में यदि रिजका है तो दूध वाली गाय को ५ सेर और दूसरे पशु को वजन के अनुसार अधिक से अधिक १० सेर देना चाहिए। भैंस के चारे के अलावा एक सेर दाना-खली प्रति २½ सेर दूध पर गाय को ३ सेर दूध पर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त पोषण (maintenance) के लिए एक सेर दाना-खली दी जाती है पर दूध देने वाले पशु को यह मात्रा बढ़ा कर दी जाती है। भोजन में १ छटाँक नमक का भी रहना अनिवार्य है। इसके लिए एक उदाहरण लेना अधिक श्रेयस्कर होगा।

उदाहरण—एक गाय का वजन ६०० सेर है वह एक दिन में ९ सेर दूध देती है। उसके लिए सितम्बर के माह का आहार तैयार करो।

१०० सेर तौल पर पशु को ६ सेर हरा चारा दिया जाता है,
६०० ,, ,, ३६ सेर ,, दिया जायगा।
प्रति ३ सेर दूध पर १ सेर दाना-खली दी जाती है,
,, ९ सेर ,, ३ सेर ,, ,, दी जायगी

इसके अतिरिक्त पोषण के लिए १ सेर दाना-खली और १ छटाँक नमक दिया जायगा। सितम्बर के माह में ज्वार, मक्के, सनई, उर्द, मूंग आदि की चरी मिलेगी। पौष्टिक भोजन में चने की दाल, गेहूँ का चोकर और अलसी की खली बराबर मात्रा में मिला कर देते हैं। इस प्रकार कुल आहार, हरा चना ३६ सेर, दाना-खली ३ सेर, पोषण के लिए २ सेर दाना-खली और १ छटाँक नमक देना चाहिए।

पोषण पदार्थ भिन्न आयु में भिन्न प्रकार से देते हैं। जब बछड़ा बहुत छोटा और एक सप्ताह की आयु का होता है तो उसे दूध पर ही पालते हैं। किन्तु जब वह लगभग चार सप्ताह का हो जाता है तो उसे पोषण-पदार्थ देना शुरू करते हैं। बछड़ों के लिये मक्का, आटे और चोकर की ३०-३० पौंड मात्रा और १० पौंड अलसी की खली एक ही साथ मिला कर कूट कर बारीक करना चाहिए। और प्रतिदिन १½—२ सेर देना चाहिए। आयु के साथ यह मात्रा बढ़ाते जाते हैं। बछिया को ब्याने के पहले १½–२ सेर पोषण आहार देना चाहिये इसके साथ हरा पौष्टिक चारा भी होना चाहिए। यदि चारा उत्तम न हो तो पोषण-आहार की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। ब्याने के कुछ दिन पहले से गेहूँ और ओट का ५० प्रतिशत पोषण-आहार में देना चाहिए अथवा गेहूँ, ओट और अलसी की खली का बराबर भाग मिला कर देते हैं। गाय के ब्याने पर हलुआ खिलाते हैं। इसमें गुड़ सीरा या नमक मिलाते हैं। यह गाय के लिए लाभकर होता है। ब्याने के बाद गाय बहुत दुर्बल हो जाती है। इसकी दुर्बलता दूर करने के लिये पोषण-आहार की मात्रा बढ़ानी चाहिए। किन्तु एकबएक यह मात्रा

बढ़ा देने पर हानिकर हो जाती ह। इसलिए धीरे-धीरे ही बढ़ानी चाहिए। भोजन के लिए गाय की स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य बातों पर भी ध्यान देना चाहिए। दूध देने के समय नियम के अनुसार आहार बना लेना चाहिए। जब गाय दूध देना बन्द कर देती है तो यह उसका सूखा समय कहलाता है। सूखे समय में गाय के स्वास्थ्य का काफी ध्यान रखते हैं। उसे हरे चारे का अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए। यदि हरा चारा उपलब्ध नहीं है तो साइलेज काम में लाना चाहिए। उसे पोषण-पदार्थ भी देना चाहिए। इसमें अलसी की खली और गेहूँ का बराबर अंश देना चाहिए अथवा अलसी का खली और चने की दाल २५-२५% और गेहूँ का भाग ५०% देना चाहिए।

पशु को उसकी आयु और कार्य के अनुसार पोषण-आहार देना चाहिये। बैल को यह मात्रा काम करने पर ३—५ सेर तक दी जाती है किन्तु बैठे रहने पर १-२ सेर काफी होता है। इसी प्रकार साँड़ जब बैठा होता है तो उसे २—३ सेर पोषण आहार देते हैं। किन्तु संयोग (Service) में ४-५ सेर दिया जाता है।

पशु की आयु का पता लगाना—किसी भी पशु की आयु जानने के दो साधन हैं: (१) सींग द्वारा और (२) दाँतों द्वारा। सींग द्वारा उम्र जानने के लिए उस पर बने छल्ले गिने जाते हैं और उनमें २ जोड़कर आयु जान लेते हैं। जैसे यदि किसी पशु की सींग में ५ छल्ले हैं तो उसकी उम्र ५ + २ = ७ वर्ष की मानी जाती है। किन्तु यह ढंग ठीक नहीं है। किसी पशु की सींग ही नहीं आती या किसी की काट दी जाती है। अथवा लोग कहीं-कहीं सींगों के इन छल्लों को खुरच कर मिटा देते हैं तो आयु सही-सही नहीं जानी जा सकती। बिना सींग वाले पशु की आयु जानने में कठिनाई प्रस्तुत होती है।
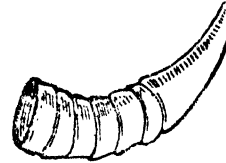
चित्र १०४—सींग के छल्ले

दूसरी विधि कुछ वैसी ही जटिल है पर पहली से सहज अवश्य है। पशुओं में दो प्रकार के दाँत होते हैं। एक तो दूध के और दूसरे स्थायी। दूध के दाँत बच्चे में पैदा होते समय नहीं रहते। पैदा होने के पहले हफ्ते में दो दाँत जम जाते हैं। इस प्रकार दूध के दाँत १ माह में ८ हो जाते हैं। अब दूसरे माह से लगभग दो वर्ष तक उम्र का पता लगाना कठिन हो जाता है। २-२½ वर्ष बाद दूध के दाँत गिरना प्रारम्भ होते हैं। और उनके स्थान पर स्थायी दाँत आने लगते हैं। पहले दो स्थायी दाँत आते हैं फिर तीन वर्ष की अवस्था में ४ दाँत होते हैं। ३½—४ वर्ष में ६ दाँत और ४½-५ में ८ दाँत उग आते हैं। ८ दाँत उगने पर पशु युवा हो जाता है। ये दाँत लगभग ८ वर्ष तक मुँह में वैसे ही बने रहते हैं। इससे उम्र का पता लगाने में कठिनाई होती है। फिर ये घिसना शुरू करते हैं किन्तु घिसने से सही उम्र नहीं जानी जा सकती।

पशुओं की देखभाल—पशुओं के रहने के समुचित स्थान और आहार के पश्चात् उनकी देखभाल करना बहुत आवश्यक है। गाय खरीदते समय ही उसकी नस्ल पर विचार कर लेना चाहिए। यदि वह उन्नतिशील नस्ल की है तब तो अच्छा है किन्तु ऐसी बात न होने पर अन्य लक्षणों से उसकी पहचान करनी चाहिए।

अच्छी गाय की पहचान—सर्वप्रथम गाय का स्वभाव जानना चाहिए। देखने से भोली मालूम होने पर अच्छे स्वभाव की होती है। उसका आकार त्रिभुजाकार दिखाई देना चाहिए। आँखें पानीदार, गले की झालर पतली, नथुने चौड़े, खाल पतली और मुलायम तथा कम माँस वाली गाय ठीक है। पेट का आकार बड़ा हो और उसपर दूध की नसें काफी उभरी हुई हों। अयन लटका हुआ नहीं होना चाहिए। थनों में प्रत्येक स्तन की लम्बाई बराबर हो, गाय का रंग और ऊँचाई औसत होनी चाहिए।

अच्छे बैल की पहचान—कार्य के अनुसार बैल का चुनाव होना चाहिए। अच्छा हो, बैल की जोड़ी की आयु एक ही हो। गले की झालर लटकती हुई न हो। बदन गठा हुआ और खाल सधी हुई होनी चाहिए। पूँछ पतली, आँखें चमकती हुई, कान उमेठे, मुँह गोलाकार व सींग टेढ़ी हों। देखने में फुर्तीला और सीधे स्वभाव का होना चाहिए। उसकी टाँगें सीधी, सुदृढ़ और खुर काले हों। रंग और कद भी पसन्द पर ही होना चाहिए। अच्छे बैलों से खेती भी अच्छी होती है।

अच्छे साँड़ की पहचान—साँड़ की पहचान बहुत समझ कर करनी चाहिए क्योंकि गाय और बैलों की उत्तमता इसी पर निर्भर करती है। पहले उसकी वंशावली जान लेनी चाहिए। उसके माता-पिता निरोग और हृष्ट-पुष्ट होने चाहिए। उनकी जाति शुद्ध होनी चाहिए। ये बातें दो तीन पुश्त तक देखी जाती हैं। साँड़ युवा होना चाहिए। बच्चा या बुड्ढा साँड़ प्रयोग में न लाना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसका स्वभाव शान्त, सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट और रंग मनोहर हो। कद भारी, लम्बा और ऊँचा, आँखें चमकती हुई लाल-लाल, माथा चौड़ा-लम्बा, गर्दन भारी, कान बड़े, सींग छोटी, झालर भारी और मोटी होनी चाहिए। नाभि ढीली, पैर मजबूत, चमड़ा चिकना, पतला और बाल मुलायम होना चाहिए। ऐसे ही साँड़ों को बच्चा पैदा कराने के काम में लाना चाहिए। दोषयुक्त या अशुद्ध साँड़ों को बधिया कर देना चाहिए। नहीं तो उनकी सन्तान ठीक नहीं हो पाती है। अच्छी नस्ल के गाय-बैल पैदा करने के लिए गाय और साँड़ों का संयोग उत्तम ढंग से होना चाहिए। गाय और साँड़ दोनों ही उत्तम जाति के हों। एक साँड़ को वर्ष भर में ४०—५० संयोग ही करने देना चाहिए।

पशुओं की पहचान के लिए अनेक प्रकार से निशान लगाये जाते हैं ताकि बड़े-बड़े डेरी या पशु-शालाओं में उनकी पहचान सरलतापूर्वक की जा सके। पशुओं की सींगें भी काटी जाती हैं। यह क्रिया सींग निकलते समय ही की जाती है क्योंकि उस समय ये कोमल और छोटी होती हैं। इस क्रिया से लाभ यह होता है कि ये एक दूसरे के झगड़ा करने पर घायल नहीं कर पातीं। कभी-कभी झगड़ा में एक दूसरे को सींगों द्वारा घायल कर देते हैं। बछड़ों को उचित समय में बधिया कर देना चाहिये। एक वर्ष की उम्र में यह क्रिया लाभप्रद होती है। बड़ी उम्र में घाव शीघ्र नहीं भरता। बधिया की क्रिया किसी अच्छे चिकित्सक की देख-रेख में करना चाहिये। देहातों में एक बहुत भद्दा बधिया करनेका ढंग है जिससे बछड़े को बहुत कष्ट होता है। अतः यह विधि काम में नहीं लानी चाहिए। इसके लिए बर्डिजी कैस्टेटर नामक यंत्र अधिक उपयोगी होता है जो पास के मवेशी-अस्पतालों में मिल सकता है।

उठे हुए पशु के लक्षण—जब गाय संयोग चाहती है तो वह दूसरे पशु पर चढ़ती है। अधिक बेचैन हो जाती है। बार-बार चिल्लाती है और खुरों से मिट्टी खुरचती है। भोजन कम करती है और दूध देने की मात्रा भी कम हो जाती है। वह अपनी पूँछ बार-बार उठाती है और हिलाती है। बार-बार थोड़ा-थोड़ा पेशाब करती है। नर पशु में ही रहना पसन्द करती है। जननांग लाल होकर फूल जाता है और उससे सफेद द्रव स्रवित होता है। यह बात उस पशु में लगातार ३-४ दिनों तक रहती है। कुछ पशु में तो कुछ ही घंटे रहती है। इस समय पशु को साँड़ से संयोग अवश्य कराना चाहिए। संयोग न होने पर ये लक्षण समाप्त हो जाते हैं और फिर बाद में उभड़ते हैं। पर अच्छा होता है कि पशु का संयोग पहली बार ही करा दिया जाय।

संयोग के समय ध्यान देने योग्य बातें—उठी हुई गाय या भैंस को शीघ्र साँड़ या भैंसे के पास ले जाना चाहिए। उस समय मादा पशु का जननांग पोटाश के घोल से ब्रुश द्वारा साफ कर लेना चाहिए। साँड़ या भैंसे को एक या दो संयोग ही करने देना चाहिए। संयोग के पश्चात् साँड़ और गाय को अलग-अलग बाँध देना चाहिए। फिर दोनों को संयोग करने का अवकाश न देना चाहिए। गाय के आहार देने में १५ दिनों तक इस बात का ध्यान रखना चाहिए की भोजन इतना गर्म न खिला दिया जाय जो संयोग को विनष्ट कर दे।

संयोग करने वाले साँड़ के आहार का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए। इस आहार में पोषण और पौष्टिक अंशों की पर्याप्त मात्रा होनी चाहिये। इनकी कमी से साँड़ दुर्बल हो सकता है और उसकी सन्तान भी कमजोर हो सकती है। पर साथ ही साँड़ को इतना खिलाना भी हानिकर है कि वह बहुत मोटा हो जाय। मोटे साँड़ में फुर्ती नहीं होती और वह संयोग में असमर्थ हो जाता है। अनुभव द्वारा यह देखा गया है कि संयोग करने वाले साँड़ से थोड़ा बहुत परिश्रम लेते रहना चाहिए। परिश्रम करने से वे फुर्तीले और दीर्घजीवी होते हैं। साँड़ को गायों के झुण्ड में रहने देना अच्छा नहीं होता। उसे एक चहारदीवारी के अन्दर रखना चाहिये जहाँ वह सरलतापूर्वक घूम सके। ऐसा करने से साँड़ शीघ्र अपनी शक्ति ह्रास नहीं कर सकता। साँड़ के विषय में एक और बात ध्यान देनी चाहिए कि उसका वर्ष भर का संयोग लगातार न होकर निश्चिन्त अन्तर पर बराबर होना चाहिए।

ब्याने के समय गाय की देख-भाल—गाय के ब्याने के कुछ दिन पहले उसे अकेले स्थान पर रखना चाहिये। जहाँ गर्मी-सर्दी का प्रभाव अधिक न पड़ सके। उस स्थान को अच्छी तरह साफ कर वहाँ पुवाल आदि बिछा देना चाहिये ताकि गाय सरलतापूर्वक बैठ सके और आराम कर सके। उस स्थान पर किसी अन्य जानवर का जाना ठीक नहीं होता क्योंकि सम्भव है वे अपनी सींगों द्वारा उसे कष्ट पहुँचा दें। कभी-कभी तो ऐसा देखा जाता है कि झगड़े में गर्भिणी गाय का बच्चा मर जाता है और उसके जान के भी लाले पड़ जाते हैं। अतः उसका पृथक् रहना ही उत्तम होता है। उसे किसी प्रकार छेड़ना भी नहीं चाहिये। देखा जाता है कि ब्याने के समय गाय के थन सूज और फूल जाते हैं। ऐसी हालत में ब्याने के कुछ समय पहले से ही थोड़ा-थोड़ा दूध निकालते

रहना चाहिये। ब्याने से कुछ घंटे पहले गाय को आहार देना बन्द कर देना चाहिये। यदि उसे अपच मालूम हो तो चोकर का हलुवा देना चाहिये। गाय को ब्याने के समय कोई छेड़-छाड़ नहीं होनी चाहिये। अच्छा हो, यदि मवेशी डाक्टर उस समय अवसर पर मौजूद हो। बछड़े के पैदा होते ही नाक की झिल्ली हटा देनी चाहिये। ताकि वह साँस ले सके। गाय को उसकी खेड़ी (Afterbirth) खाने से रोकना चाहिये क्योंकि यह हानिकर होती है। गाय को इस समय सर्दी और ताप दोनों से बचाना चाहिये।

ब्याने के बाद गाय की देखभाल—ब्याने पर गाय कमजोर हो जाती है। अतः सर्वप्रथम उसके स्वास्थ्य पर दृष्टि डालनी चाहिये। उसे पोषण आहार की मात्रा बढ़ा कर देनी चाहिये। किन्तु यह बढ़ाव धीरे-धीरे हो। इस अवसर पर चोकर और गुड़ का हलुवा अधिक लाभकर होता है। ब्याने के बाद प्रायः गायों को थन की बीमारी हो जाती है। अतः इससे सावधान रहना चाहिये। गाय के थन का दूध निकाल देना चाहिये। थन के कसे रहने पर फुहारों से धोते हैं और सम्भाल कर दुहते हैं। पोषण-भोजन में भी कमी कर देते हैं। गाय को प्यास लगने पर गुनगुना पानी पिलाना चाहिये। यह देखभाल कम से कम एक माह तक चलनी चाहिये।

गाय को सूखा करना—कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि गाय दूध दे रही है तभी गर्भिणी हो जाती है और लोग ब्याने के समय तक दुहते चले जाते हैं। परन्तु इससे बछड़ा कमजोर होता है या समय के पहले ही मर जाता है अथवा मरा हुआ पैदा होता है। इसलिए गाय को सूखा समय (Dry period) अवश्य देना चाहिए और यह उचित होना चाहिए। ब्याने की अवधि के कम से कम दो माह पूर्व दूध लेना छोड़ देना चाहिए ताकि गाय अपनी अगली सन्तान के लिए उचित शक्ति प्राप्त कर ले। इस सूखे समय में उसे चारे और पौष्टिक पदार्थों का अभाव न होना चाहिए। अच्छे चारे के मिलने से सन्तान मजबूत और हृष्ट-पुष्ट होती है।

गाय की दुहाई (milking of the cow)—गाय के दूध दुहने में काफी सफाई पर ध्यान देना चाहिए। जिस समय दूध दुहना हो, गाय को अच्छी तरह झाड़-पोंछ कर साफ कर लेना चाहिए। दूध दुहने का स्थान बिल्कुल शान्त और साफ होना चाहिए। थन दुहने से पहले पोटाश के पानी से धोकर साफ तौलिया से पोंछ लेना चाहिए। फिर उसकी टाँगें और पूँछ को रस्सी से बाँध कर बछड़े को दूध पीने के लिए छोड़ना चाहिए। जब बछड़ा दूध पी चुके तो फिर पोटाश के पानी से थन धोकर सुखा लेना चाहिए। अब दुहाई शुरू करनी चाहिए। दूध दुहनेवाला साफ और सफेद कपड़े में होना चाहिए। यदि वह हॉफ कमीज और हॉफ पैंट पहने तो अधिक अच्छा हो। उसके हाथ बिल्कुल साफ और नाखून एकदम कटे हों। नाखून बड़े होने पर स्तन के कट जाने का भय रहता है। गाय दिन में दो-तीन बार दुही जाती है।

गाय की कसरत—सफाई और भोजन के पश्चात् गाय के व्यायाम पर ध्यान देना चाहिए। व्यायाम से गाय का स्वास्थ्य अच्छा रहता है। उसमें स्फूर्ति और ताजगी आ जाती है। यह व्यायाम यदि गाय चरने के लिए छोड़ी जाती है, तब तो उसका यों ही हो जाता है किन्तु चरने न जाने वाली गाय को थोड़ा-बहुत अवश्य इधर-

उधर टहलाना चाहिए। यदि पशु-शाले के निकट काफी चौड़ा मैदान है, तब तो उसे सबेरे और शाम थोड़ा घूम लेने देना चाहिए। यदि ऐसी भी बात नहीं है तो ब्रुश से उसकी मालिश की जाती है। मालिश करने से दो लाभ होते हैं। प्रथम तो यह कि उसका एक प्रकार का व्यायाम हो जाता है और दूसरे उसके शरीर पर पड़ी धूल आदि झड़ जाती है। इस क्रिया को खुर्रा करना कहते हैं। जब गाय गर्भिणी होती है, तो उस समय भी उसे थोड़ा-बहुत अवश्य टहला देना चाहिए। इससे गाय की मांसपेशियों की भी कसरत हो जाती है। इससे पाचन भी अच्छा होता है।

भैंस का पोषण और देखभाल—गाय के पालन-पोषण में जितनी बातों का ध्यान दिया जाता है,वे सभी बातें भैंस के सम्बन्ध में भी जाननी पड़ती हैं। उसके पोषण के लिए आहार बनाने का वही ढंग रहता है जो गाय के लिए प्रयोग किया जाता है। प्रायः हमारे यहाँ के लोग गाय की अपेक्षा भैंस की अधिक सेवा करते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि भैंस गाय से अधिक दूध देती है। किन्तु यह बात सही नहीं जान पड़ती। दूध देने वाली भैंस अथवा सूखी भैंस की देख-भाल वैसे ही करना चाहिए जैसे गाय की होती है। भैंस की पड़िया पड़वे की अपेक्षा अधिक उपयोगी समझी जाती है क्योंकि वह बड़ी होकर भैंस बनती है। पड़वे बड़े होकर भैंसे या बैल का काम करते हैं। किन्तु कृषि में यह बहुत सुस्त पड़ते हैं। जहाँ परिश्रम की आवश्यकता होगी वहाँ तो ये अच्छा काम दे जायँगे पर तेजी के काम में ये ठीक नहीं पड़ते।

बकरियों और भेड़ों का पालन-पोषण—हमारे यहाँ बकरियाँ गरीब लोगों की गायें कही जाती हैं। इनके पालन-पोषण में बहुत कम खर्च पड़ता है और ये सस्ते दामों में मिल भी जाती हैं। इन्हें दो प्रकार से भोजन दिया जाता है। प्रथम तो बकरियों को बाँध कर खिलाया जाता है और दूसरे चरागाहों में चरा कर। बाँध कर खिलाने में पेड़ों की पौष्टिक पत्तियाँ, चूनी, भूसी आदि दी जाती है। पर प्रायः ये घूम कर ही चरना पसन्द करती हैं। इससे इनका व्यायाम होता है और आहार भी मिल जाता है। बकरियाँ किसी एक चरागाह में बराबर रहना पसन्द नहीं करतीं। उनको एक चरागाह से दूसरे चरागाह में घुमाते रहना चाहिए। चरागाहों के चारों ओर ७-८ फीट ऊँची दीवारें बना देने से चरवाहे की आवश्यकता नहीं होती। ये घासें और झाड़ियों की हरी पत्तियाँ खाना खूब पसन्द करती हैं। इन घासों में ये औषधियों वाली पत्तियाँ भी खा जाती हैं जो उनके लिए स्वास्थ्यकर सिद्ध होती हैं। यदि बकरियों से दूध लेना हो तो उन्हें दाना देना चाहिए। ये दाने पौष्टिक होने चाहिए। इनमें गेहूँ-जौ की भूसी, चने-मटर-अरहर की चूनी और नमक का मिश्रण अधिक लाभकर होता है। इनका दूध बहुत लाभप्रद होता है। यह शीघ्र पच जाने वाला होता है। इसमें तपेदिक के कीड़ों को मारने की शक्ति होती है।

बकरियाँ प्रायः प्रति वर्ष बच्चे दिया करती हैं किन्तु कभी-कभी तो ६ माह के ही अन्तर पर बच्चा देती हैं। ये एक साथ ३-४ बच्चे देती हैं। इनकी औसत अवस्था १२ वर्ष मानी गई है। इन्हें आर्थिक लाभ और दूध के लिए पाला जाता है। बकरे

माँस और चमड़े के काम में लाये जाते हैं। पहाड़ों पर इन्हें सामान ढोने के काम में लाया जाता है।

भेड़ें:—बकरियों की भाँति भेड़ें भी पाली जाती हैं। इन्हें बाँध कर और चरागाहों में चराकर दोनों ढंगों से पाला जाता है किन्तु चरागाहों में चरने वाली भेड़ें ही अधिक उत्तम होती हैं। उन्हें स्वस्थ बनाने के लिए भूसी, खली और चूनी आदि पौष्टिक पदार्थ दिये जाते हैं। पहाड़ों पर ये अधिक संख्या में पाई जाती हैं क्योंकि वहाँ की जलवायु इनके स्वास्थ्य के लिए बहुत अच्छी होती है। इनके दूध, मांस, खाल और ऊन काम में लाये जाते हैं। इनका मल-मूत्र कृषि में अधिक महत्व रखता है।

मुर्गियों का लालन -हमारे देश में मुर्गी पालने का व्यवसाय बहुत दिनों से चला आ रहा है। अधिकतर मुसलमान घरों में ये पाली जाती हैं परन्तु हिन्दू भी अब इसे पालने लगे हैं। इनके अण्डे से लाभ अधिक होता है और पालने में कोई विशेष धन और परिश्रम की आवश्यकता भी नहीं होती। घरों में बिखरे हुए दाने और साधारण प्रकार से रोटी के टुकड़ों आदि पर इन्हें पाला जा सकता है। मुर्गियों के लिए जो भी घर बनाए जायँ उनमें इन ६ बातों का अवश्य ध्यान देना चाहिए—(१) पर्याप्त वायु (२) औसत तापक्रम, (३) पर्याप्त प्रकाश, (४) उचित ढंग से बनावटी प्रकाश का प्रबन्ध जो अंडे देने या सेने के समय आवश्यक होता है, (५) शुष्कता और (६) यथेष्ट स्थान। यह एक गणित के आधार पर ज्ञात किया गया है कि एक मुर्गी आराम के समय एक घटे में अपने फेफड़े से १½ घनफीट वायु लेती है जो यथेष्ट स्थान रहने पर ही हो सकता है।

प्रगतिशील ढंग पर मुर्गियों को पालने के लिए उनके रहने का स्थान उत्तम बना होता है। वहाँ सर्दी, गर्मी और वर्षा से बचाव का उचित प्रबन्ध होना चाहिए पर वायु और प्रकाश की मात्रा में भी कमी न होनी चाहिए। खुले मैदानों में ही इनके रहने के घर (दरबे) बने हों। ये घर चारों ओर से जालियों से घिरे होने चाहिए, ताकि मुर्गी को हवा और प्रकाश मिले और वे बाहर भी न जा सकें। वाशिंगटन एग्रीकल्चर एक्सपेरिमेन्ट स्टेशन ने अंडे देने वाले पक्षियों के लिए उपलिखित स्थान देने की सिफारिश की है—

प्रतिपक्षी फर्श का स्थान	वर्ग फीट	लेगहार्न	हाउसिंग नस्ल
२०×२०	४००	१००	९०
३०×३०	९००	३००	२७५
२४×२४	५७६	१९०	१७५
२०×३०	६००	२००	१८०
२०×७५	१५००	५००	४५०
२०×१३०	२,६००	१,०००	८००

मुर्गियों के लिए ५०° फा० से ७०° फा० तापक्रम विशेष उपयुक्त पड़ते हैं। किन्तु तापक्रम का १५° फा० से नीचे जाना अच्छा नहीं होता।

मुर्गियों के लिए घर कई अर्थ के लिए बनाये जाते हैं—(१) अंडा देने, (२) पालने, (३) अंडा सेने और (४) नस्ल पैदा करने। इन उद्देश्यों के आधार पर ही घरों का खाका तैयार किया जाता है।

दरबे का आकार मुर्गियों की संख्या पर बढ़ाया-घटाया जा सकता है। प्रायः एक मुर्गी को ३ वर्ग फीट भूमि काफी होती है। यदि मुर्गियों के रहने का स्थान एक साथ ही न होकर ४-५ को मिलाकर अलग-अलग किया जाय तो विशेष उपयुक्त हो। सर्दी और गर्मी के बचाव के लिए लकड़ी के तख्ते प्रयोग करने चाहिए। दरबे में स्थान-स्थान पर धूल का प्रबन्ध हो जहाँ मुर्गियाँ खेल सकें। उनके घूमने-फिरने, उड़ने आदि पर भी ध्यान देना चाहिए। पर इनके शत्रुओं पर कड़ी निगाह रखनी चाहिए। ऐसा न हो कि शत्रु गण इन्हें दबोच लिया करें। इनके भोजन के लिए दाना उपयोगी होता है। सब्जी भी दी जाती है। एक मुर्गी को ३-४ छटाँक दाना काफी होता है। यह उनके घरों में बिखेर देना चाहिए ताकि उनके चुगने में उनका एक प्रकार का व्यायाम भी हो जाय।

पशुओं की मुख्य जातियाँ
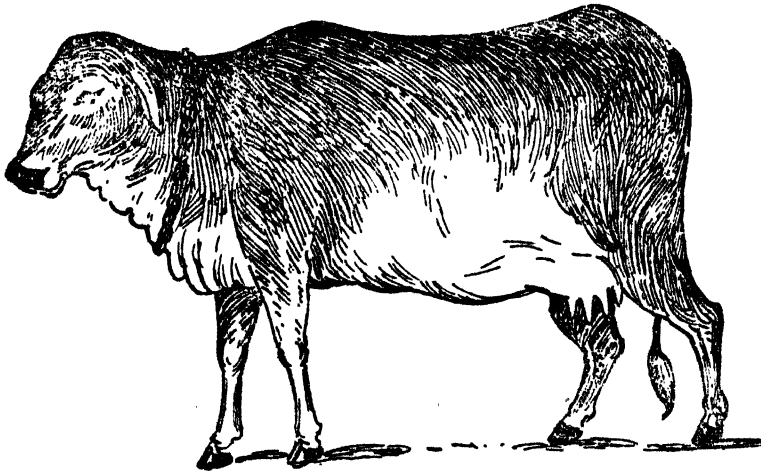
चित्र १०५—साही वाल गाय

१. गाय की जातियाँ—पशुओं के दूध की अच्छी मात्रा और बैलों की उत्तम जाति लेने के लिए कुछ उन्नतिशील जातियाँ निकाली गई हैं। गायों की जातियाँ तीन वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—(१) अधिक दूध देने वाली जैसे सिन्धी, साही-

वाल, (२) अच्छे बैल उत्पन्न करने वाली जैसे खेरीगढ़, अमृतमहल, पँवार और (३) अधिक दूध और अच्छे बैल उत्पन्न करने वाली जैसे हरियाना, थार्परकर आदि। यहाँ हम इन जातियों के गुण-दोषों का विवेचन करेंगे।

साहीवाल—यह जाति पंजाब में पाई जाती है। इसका रंग लाल और बादामी होता है। कभी-कभी इस जाति की गायों के शरीर पर सफेद धब्बे पाये जाते हैं। इसकी टाँगें छोटी पर शरीर लम्बा और मोटा होता है। ये दूध देने में सर्वश्रेष्ठ मानी गई हैं। इनके बैल अच्छे नहीं होते। इन्हें प्रत्येक स्थान पर पाला जा सकता है।

सिन्धी—इस जाति की गाय सिन्ध में कराँची के आस-पास पाई जाती है। ये लाल या बादामी रंग की होती हैं। किसी-किसी के चेहरे पर सफेद धब्बे होते हैं। ये कद में अधिक बड़ी नहीं होतीं। यह दूध देने वाली जाति है। इसलिए इसे प्रायः दूध के लिए ही पाला जाता है। बैल कुछ कद में छोटे होते हैं तथापि कृषि कार्य में प्रयुक्त किये जाते हैं। गायें एक ब्यान में ४,००० पौं० तक दूध देती हैं। इन्हें प्रत्येक स्थान पर पाला जा सकता है क्योंकि ये हर एक जलवायु सहन कर लेती हैं।

खेरीगढ़—यह नस्ल उत्तर प्रदेश में खीरी-लखीमपुर जिले तथा आस-पास के जिलों में पाई जाती है। इनकी गायें तो अच्छी नहीं होतीं किन्तु बैल बड़े फुर्तीले
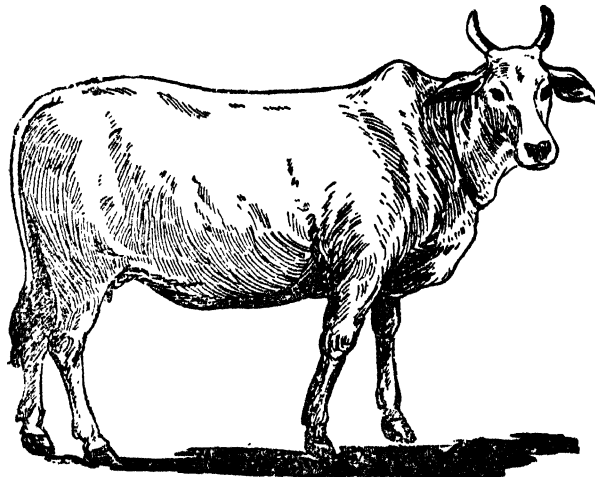
चित्र १०६—कोसी गाय

और तेज होते हैं। इन्हें खेती के कार्यों में अधिक प्रयोग किया जाता है। इनका कद छोटा, चेहरा पतला और छोटा, कान छोटे और आँखें चमकदार होती हैं। इसका डील (Hump) या कोहान बड़ा सा होता है। सींग तेज होते हैं। रंग बहुधा सफेद होता है।

कोसी—यह जाति मथुरा और आगरा जिले में पाई जाती है। इसका सिर छोटा, सींग ऊपर की ओर खड़ी, कान लम्बे और पूँछ लम्बी होती है। रंग सफेद, खाकी आदि होता है। इस नस्ल के बैल तेज परिश्रमी और मजबूत होते हैं। ये हरियाना नस्ल से मिलते-जुलते हैं। इस जाति की गाय दूध भी अच्छा देती हैं परन्तु अधिकतर बैल के लिए इन्हें पालते हैं। इस जाति को मेवाती भी कहते हैं।

पवाँर—इस जाति की गाय दूध देने में अच्छी नहीं होतीं पर इसके बैल कृषि-कार्य में उत्तम-सिद्ध हुए हैं। ये पीलीभीत और खीरी जिलों में अधिकता से पाये जाते हैं। इनका रंग काला और सफेद होता है। इनके कान छोटे, चेहरा पतला-लम्बा और आँखें चमकदार होती हैं। सींग बड़े और खड़े होते हैं जिनकी लम्बाई १-१½ फीट तक होती है।

नागौरी—इसे उत्तरी राजपूताने में अधिकता से पाया जाता है। इनका रंग सफेद होता है। इनकी पूँछ लम्बी और पतली होती है। सींग घुमावदार और लम्बी होती है। इनका शरीर इकहरा होता है और देखने में ये पतले-दुबले लगते हैं। पर ये खेती के कार्यों में बहुत अच्छा काम दिखाते हैं। गाड़ियाँ खींचने में इन्हें अधिक प्रयोग किया जाता है।

शाहाबादी—यह जाति अधिकतर बिहार में पाई जाती है किन्तु उत्तर प्रदेश में भी बलिया, गाजीपुर और बना स जिले में यह पाई जाती है। इसे गंगा तीरी भी कहते हैं। इसके बैल मध्यम कद के होते हैं। रंग प्रायः धवल, आँखें चमकीली, सींग मोटे और माथा चौड़ा होता है। इनके बैल कृषि में अच्छा काम देते हैं। गायें भी १०-१२ पौं० प्रति दिन दूध देती हैं।

इसके अतिरिक्त अमृतमहल, नीलोर, गीर, थार्परकर, कावरेज आदि नस्लों के बैल खेती में अधिक प्रयोग किये जाते हैं।

हरियाना—इस जाति को हिसार के नाम से भी पुकारते हैं। इसके बैल और गायें दोनों उच्चकोटि की मानी जाती हैं। बैल बहुत मजबूत, परिश्रमी और फुर्तीले होते हैं। इनका रंग धवल, चेहरा लम्बाकार, माथा चौड़ा, आँखें बड़ी और सींग उठे हुए होते हैं। गायें देखने में बहुत सुन्दर जँचती है। ये एक ब्यान में लगभग १,६०० सेर दूध देती हैं। इनका बदन लम्बा, टाँगें छोटी, छाती चौड़ी, सींग मुड़े हुए और पूँछ पतली होती है। यह जाति हिसार, रोहतक में गुड़गाँव, कर्नाल आदि जिलों, पंजाब में पाई जाती है। यह कृषि के दृष्टिकोण से बहुत महत्व ूर्ण जाति है।

थार्परकर—यह जाति बहुत दूध देने वाली और अच्छा बैल पैदा करने वाली है। इनका मुँह लम्बाकार, माथा उभरा, थूथन कम चौड़ा होता है। इसका आकार मध्यम कोटि का होता है। अतः इसे कम ही आहार पर पाल सकते हैं।

२. भैंस की जातियाँ— इनमें मुर्रा, तराई, भदवाड़ी और जाफराबादी अधिक महत्वपूर्ण हैं। मुर्रा जाति की भैंसें हमारे यहाँ अधिक प्रचलित हैं।

मुर्रा—ये दक्षिणी पंजाब, उत्तर-पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजपूताने के कुछ भागों और दिल्ली नगर में अधिकता से पाई जाती हैं। यह नस्ल दूध के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। ये एक ब्यान में लगभग ४,००० पौं० दूध देती हैं पर कोई-कोई १०,००० पौं०
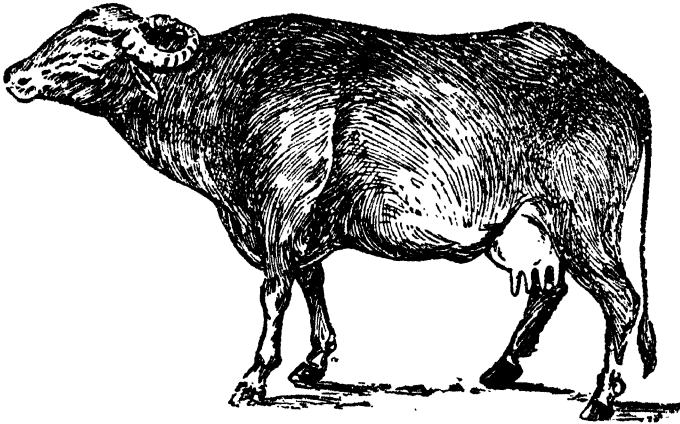
चित्र १०७—मुर्रा भैंस

तक दूध देती हैं। इनका रंग काला होता है। सींग मुड़े हुए, पैर छोटेपर मोटे और शरीर गठीला होता है। ये देखने में सुन्दर जँचती हैं। इनके शरीर पर कभी-कभी सफेद दाग पाये जाते हैं। इस जाति के दूध में घी की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है।

तराई—यह नस्ल तराई के जिलों में पाली जाती है। तराई की जलवायु ऐसी है कि कोई जाति वहाँ पर रह नहीं सकती पर यह नस्ल वहाँ सरलतापूर्वक पाली जाती है। यह दूध अधिक मात्रा में नहीं देती। कठिनाई से २-३ सेर प्रतिदिन इसका दूध होता है।

भदवाड़ी—यह ग्वालियर, इटावा और आगरा जिले में अधिकता से पाली जाती है। इसका रंग भूरा होता है। यह भैंस दूध अच्छा देती है। इसके दूध में घी की मात्रा अधिक होती है। प्रायः इसे घी के लिए ही पाला जाता है। दूध में घी की मात्रा १२-१३ % तक प्राप्त होती है। इसके भैंसे भी खेती के कार्यों में अच्छा काम देते हैं।

जाफराबादी—इस नस्ल की भैंसें काठियावाड़ के क्षेत्र में अधिकतर पाई जाती हैं। इसके सींग बड़े और गर्दन के दोनों ओर मुड़े होते हैं। शरीर बड़ा, भारी, माथा चौड़ा और रंग काला होता है। इसका दूध अधिक गाढ़ा होता है। यह दूध अधिक मात्रा में देती है। यह भैंस आहार अधिक लेती है। इसका एक ब्यान का दूध लगभग ३५-४० मन होता है।

इन्हें जातियों के अतिरिक्त सूरती, नीली, नागपुरी, मेशना आदि और भैंसों की जातियाँ हैं जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पाली जाती हैं।

३. **बकरी की जातियाँ**—बकरी की कई जातियाँ हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

जमुनापारी—यह जाति बहुत उत्तम जाति मानी जाती है। यह जमुना और चम्बल नदी के पार इटावा जिले में अधिकता से पाई जाती है। उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद, एटा, आगरा और मध्यभारत तथा राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में भी ये पाली जाती हैं। बकरियाँ बादामी, भूरी, सफेद, और काली होती हैं। इनके थन काफी बड़े होते हैं। बकरे बड़े, लम्बे, बालदार, सींगें घूमे हुए, नाक नुकीली और कान लम्बे होते हैं। इनका कद ३४"-३८" तक होता है।

बरबरी—यह अधिक दूध देने वाली नस्ल है। इसके बकरे जमुनापारी की अपक्षा छोटे होते हैं पर देखने में अधिक सुन्दर लगते हैं। इनके बाल मुलायम होते हैं। यह वर्ष में दो बार बच्चा देती है। बरबरी जाति उत्तर प्रदेश के अलीगढ़, एटा, आगरा, मथुरा जिले में और पंजाब तथा देहली में कहीं-कहीं पाई जाती है।

चेग या काश्मीरी बकरी—इस बकरी को काश्मीर और तिब्बत के पहाड़ी प्रदेशों में पाला जाता है। इसके ऊपर ल.बे-लम्बे बाल होते हैं। इन बालों के नीचे बहुत मुलायम बाल होते हैं जिनका काश्मीरी शाल बनता है।

इन जातियों के अलावे, बीकानेरी, मालाबारी, पहाड़ी, कच्छी आदि नस्लें हैं।

४. **भेड़ों की जातियाँ**—भेड़ों की जातियाँ दो प्रकार की होती हैं। (१) ऊन वाली और (२) माँस वाली। ऊन वाली जातियों में बीकानेरी, लोही व बिलारी आती हैं और माँस वाली जाति में हिस्तनापुरी, नेलोरी और दक्षिणी है। मैरिनो एक विलायती जाति है। मैरिनो और बीकानेरी के संयोग से हिसार डेल नामक जाति पैदा की गई है जो हिसार जिले (पंजाब) में पाली जाती है। इनके अतिरिक्त गुरेज, दुमरी, काठियावाड़ी आदि अन्य जातियाँ हैं।

बीकानेरी—यह नस्ल बीकानेर और पंजाब में पाई जाती है। यह अपने ऊन के लिए प्रसिद्ध है। इसके शरीर पर ५½" तक लम्बा बाल आता है। इसका रंग काले-काले धब्बे लिये हुए सफेद होता है। इसका मुँह लम्बा, कान छोटा, सिर छोटा और सींग नहीं होते हैं। इसकी तौल ८०-१४० पौं० और ऊँचाई २४"-२८" तक होती है।

हस्तिनापुरी—यह ऊन के लिए उतनी अच्छी नहीं होती जितना माँस के लिए। इसके पैर छोटे, गठे, पूँछ चर्बी वाली और सीना चौड़ा होता है। यह पहाड़ी प्रदेशों और पश्चिमी पंजाब में अधिकता से पाई जाती है। यह चरना अधिक पसन्द करती है।

हिसार डेल—यह पंजाब, में तथा अन्य सरकारी फार्मों पर पाई जाती है। इसका ऊन लम्बे रेशे वाला उत्तम प्रकार का होता है। इसका आकार लम्बा और बड़ा होता है।

मुर्गी की जातियाँ

आधुनिक जातियों के पूर्वजों की मूल आदतें दक्षिणी विश्व की हैं जिसमें भारत का मध्य भाग, हिमालय का तराई भाग और आसाम, बर्मा, लंका और दक्षिण के लगभग सभी देश यहाँ तक कि पूर्व के जावा और सुमात्रा भी सम्मिलित हैं। इन जातियों का विभाजन इन्हीं मौलिक आदतों के अनुसार किया जाता है, किन्तु आजकल अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण पर भी अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। मुर्गी की जातियों को मुख्यतः चार बड़े वर्गों में विभाजित किया जाता है और उनका अध्ययन भी उसी प्रकार किया जाता है। ये जातियाँ इस प्रकार हैं,

१. अमेरिकन जातियाँ
२. इंग्लिश जातियाँ
३. भूमध्यप्रदेशीय जातियाँ
४. एशियाई जातियाँ

हम इनका विवरण पृथक-पृथक प्रस्तुत करेंगे—

१. अमेरिकन जातियाँ—इस वर्ग के कुछ विशेष गुण हैं जो लगभग प्रत्येक जाति में पाये जाते हैं और जिनके अनुसार अन्य वर्गों से इन्हें पहचाना जा सकता है। इनके चमड़े पीले और शैंक (Shauk) साफ होते हैं। सभी अमेरिकन जातियाँ साफ पैर वाली होती हैं जिसके अर्थ ये हैं कि उनके शैंक में पंख नहीं होते। कुछ जातियों के शैंक तथा चमड़े पीले होते हैं। किन्तु जावा जर्सी तथा कालीजैंट जातियों में ऐसा नहीं पाया जाता, इनके शैंक काले और चमड़े पीले होते हैं। सभी अमेरिकन जातियों के कान के लटकते हुए भाग लाल रंग के होते हैं। सभी अमेरिकन जातियाँ भूरे रंग के छिल्के वाले अंडे देती हैं और सेने वाले वर्ग में सम्मिलित होती हैं। किन्तु लमोना एक ऐसी जाति है जो इस कोटि में नहीं आती। इस वर्ग की मुख्य जातियाँ नीचे दी जा रही हैं—

(१) **प्लीमाथ राक** (Plymoth Rock);—यह जाति इस वर्ग की एक विख्यात जाति है जिसका आकार मध्य कोटि का और मांस स्वादिष्ट होता है। शरीर लम्बा-चौड़ा, छाती अधिक विकसित और शरीर की गहराई अधिक होती है। सिर पर चोटी एक होती है। शरीर की प्रामाणिक तौल ९½ पौं० (मुर्गा), ७½ पौं (मुर्गी), ८ पौं० (लाकेरल) और ६ पौं० (पुलेट) है। प्लीमाथराक शरीर के रंग के अनुसार कई जातियों में बाँटा जाता है जो इस प्रकार है—बार्ड प्लीमाथराक, सफेद प्लीमाथराक, बामक प्लीमाथर क, सिल्भर पिन्सिल्ड प्लीमाथराक, पार्टिरीज प्लीमाथराक, कोलम्बिया प्लीमाथराक तथा नीला प्लीमाथराक।

(२) **रोड अइलैंड रेड** (Rode Island Red)—इसका शरीर कुछ आयताकार होता है। शरीर की गहराई काफी होती है, लम्बाई और चौड़ाई अधिक होती है। मांस सुस्वादु होता है। इस जाति के कुछ पक्षी के सिर पर एक चोटी और कुछ पर दो चोटियाँ उपस्थित होती हैं। शरीर की प्रामाणिक तौल ८½ पौं० (मुर्गा), ७½

पौं० मुर्गी, ८ पौं० (लाकरेल) और ६ पौं० (पुलेट) है। इस जाति में रोड आइलैंड ह्वाइट (Rode Island white) भी सम्मिलित होता है।

(३) **वेन्डोट** (Wyandotte)—इस जाति का शरीर गोलाकार होता है। पंखों के एक विशेष ढंग से निकलने के कारण पृष्ठ भाग छोटा होता है। यह प्लीमाथराक की भाँति सभी अर्थों में प्रयोग की जा सकती है। अंडे देने की शक्ति अच्छी है, मांस स्वादिष्ट होता है। चोटी गुलाब सदृश होती है। इसका प्रामाणिक तौल ८½ पौं० मुर्गा, ६½ पौं० (मुर्गी), ७½ (लाकरेल) और ५½ पौं० (पुलेट) है। रंगों के अनुसार इस जाति की सफेद, बफ, सिल्वर लेस्ड, गोल्डेन लेस्ड, सिल्वर पेन्सिल्ड, काली, कोलम्बिया तथा पार्टरीज जातियाँ हैं।

(४) **जर्सी ब्लैक जेंट** (Jersey Black Giant)—इस जाति का जन्म एशियाई जातियों से हुआ है। अमेरिका में यह सबसे अधिक संख्या में पाई जाती है। यह प्लीमाथराक से बहुत कुछ मिलती-जुलती है, किन्तु उससे लम्बे चौड़े तथा गहरे शरीर वाली जाति है। चोटी एक ही होती है। शरीर की प्रामाणिक तौल १३ पौं० (मुर्गा), १० पौं० (मुर्गी) ११ पौं० (लाकरेल) तथा ८ पौं० (पुलेट) है। इस जाति की शैंक और चोंच काले रंग की होती है।

(५) **डोमिनिक** (Dominique)—इस जाति के पक्षी स्लेटी या नीले रंग होते हैं। प्रामाणिक तौल ७ पौं० (मुर्गा) ६ पौं० (मुर्गी) तथा ४ पौं० (पुलेट) है।

उपर्युक्त जातियों के अतिरिक्त इस वर्ग में जावा, लैमोनिया, बुकी न्यू हाम्पसिन, चैन्टेक्टर आदि भी सम्मिलित होती हैं।

२. **इंगलिश जातियाँ**—इस वर्ग की समस्त जातियाँ माँस के लिए प्रसिद्ध हैं। कार्निश जाति के अतिरिक्त सभी जातियों के चमड़े सफेद होते हैं और कान का बाह्य भाग लाल होता है। इनके अंडे भूरे छिल्के वाले होते हैं। इस वर्ग में निम्नलिखित जातियाँ प्रसिद्ध हैं।

(१) **ससेक्स** (Sussex)—यह अधिक लम्बे-चौड़े और अधिक गहराई के शरीर वाली जाति है। इसकी छाती अधिक विकसित होती है। चोटी एक ही होती है, चोंच, शैंक और अंगूठे हार्न (horn) के रंग के होते हैं। माँस अधिक स्वादिष्ट होता है जिससे इसे प्रायः खाने के ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इसकी प्रामाणिक तौल ९ पौं० (मुर्गा), ७ पौं० (मुर्गी), ७½ पौं० (काकरेल) और ७ पौं० (पुलेट) है।

(२) **कार्निश** (Cornish)—यह जाति इंडियन गेम के नाम से पहले सम्बोधित की जाती थी किन्तु बाद में इसे कार्निश कहा जाने लगा। इसकी छाती गहरी, कंधा चौड़ा होता है। शरीर में माँस अधिक उपस्थित होता है। रंग के अनुसार इसके दो उपविभाजन होते हैं, प्रथम गहरा सफेद जाति और दूसरे सफेद लेस्ड जाति (White laced)। गहरा सफेद जाति का प्रामाणिक तौल १० पौं० (मुर्गा) और ७½ पौं० (मुर्गी) होता है। सफेद लेस्ड जात की तौल ८ पौं० (मुर्गा) और ६ पौं० (मुर्गी) है।

(३) **आर्पिगटन** (Orpington)—यह गोल शरीर वाली जाति है जिसकी छाती पूरी और पृष्ठ भाग चौड़ा होता है। हड्डी से यह जाति भारी होती है और पंख घने नहीं होते। इसमें अंडे देने की शक्ति यथेष्ट होती है। मांस स्वादिष्ट होता है। जिससे इसे प्राय: इसी अर्थ में प्रयोग किया जाता है शरीर का प्रामाणिक तौल १० पौं० (मुर्गा) और ८ पौं० (मुर्गी) है। रंग के ग्नुसार इनकी तीन उपजातियाँ होती हैं—सफेद, काली और बफ (Buff)

(४) **डार्किंग** (Darking) इस जाति का शरीर लम्बा-चौड़ा एक गुलाबी चोटी (Rose comb) वाला होता है। दो जातियाँ एक चोटी की होती हैं। शरीर की प्रामाणिक तौल ७½ पौं० (मुर्गा), ६ पौं० (मुर्गी), ६½ पौं० (काकरेल) तथा ५ पौं० (पुलेट) है।

(५) **आस्ट्रालार्प** (Australorp)—इस जाति का जन्म काले आर्पिगटन से आस्ट्रेलिया में हुआ। पृष्ठ भाग लम्बा होता है और शरीर सिर की ओर से पूँछ की ओर ढलवाँ होता है। इसकी गहराई भी पर्याप्त होती है। पंख अधिक संख्या में उपस्थित रहते हैं। अंडा उत्पन्न करने की शक्ति अधिक होती है। प्रामाणिक तौल ८½ पौं० (मुर्गा) और ६½ पौं० (मुर्गी) है।

(६) **रेड कैप** (Redcap)—इसका शरीर औसत दर्जे का कुछ बारीक लम्बाई का होता है। चोटी अधिक लम्बी और गुलाबी होती है। प्रामाणिक तौल ७½ पौं० (मुर्गी तथा ६ पौं० (मुर्गी) है।

३. **भूमध्य प्रदेशीय जातियाँ**—जातियों के इस वर्ग के पक्षियों का मूलस्थान इटली और स्पेन है। मूलस्थान के अनुसार इसके दो उप-वर्ग होते हैं जिनमें थोड़ी बहुत अन्तर पाया जाता है। इस वर्ग की समस्त जातियों के शैंक पंख रहित, सफेद या क्रीम के रंग के होते हैं। कान के वाह्य भाग सफेद रंग के पाये जाते हैं। अंडों का छिल्का सफेद रंग का होता है। इनमें सेने की इच्छा नहीं होती। स्पेन की जातियों का शरीर कोणहार्न या अन्यानास से अधिक लम्बा होता है।

लेगहार्न (Legharn)—इस जाति के पक्षी का मूलस्थान इटली है। यह अपने मूल स्थान से सन् १८३५ ई० में अमेरिका लाई गई और फिर वहाँ से इंगलैंड पहुँची। इसका शरीर सुन्दर गठित होता है। सभी जातियों के चोंच चमड़ा और शैंक पीले होते हैं। इसका प्रामाणिक तौल ६ पौं० (मुर्गा), ४½ पौं० (मुर्गी), ५ पौं० (काक-रेल) तथा ४ पौं० (पुलेट) है। इसको शरीर के रंग और चोटी के आधार पर कई उपजातियों में विभाजित किया जाता है। जो इस प्रकार हैं—एक चोटी वाले सफेद लेगहार्न गुच्छे वाली चोटी वाले सफेद लेगहार्न, एक चोटी वाले हल्के भूरे रंग के लेगहार्न एक चोटी वाले गहरे भूरे रंग के लेगहार्न, गुच्छे वाली चोटी के भूरे लेगहार्न आदि।

माइनारका (Minorca)—यह जाति अपने शरीर की लम्बाई के लिए विख्यात है। चोटी बड़ी और लम्बी होती है। सम्भवत: यह भूमध्यप्रदेशीय सभी जातियों से लम्बी होती है। पृष्ठ भाग लम्बा और ढलवादार होता है। छाती गोलाकार और भरी

भाँति विकसित होती है। चमड़ा सफेद और चोटी एक पाई जाती है। गुच्छे वाली चोटी की पक्षियाँ भी होती हैं। एक चोटी वाली काली माइनारका का प्रामाणिक तौल ९ पौं० (मुर्गा), ७½ पौं० (मुर्गी), ७½ पौं० (काकरेल) तथा ६½ (पुलेट) और अन्य जातियों की तौल ८ पौं० ६½ पौं०, ६½ पौं० तथा ५½ पौं० है।

अंकोना (Ancona)—इसका मूलस्थान इटली में अकोना के समीपवर्ती भाग में कहीं है। पिछली शताब्दी के मध्य में यह इंगलैंड में एक अधिक प्रसिद्ध जाति थी। यह लेगहार्न से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इसका प्रामाणिक तौल ६ पौं०, ४½ पौं०, ५ पौं० तथा ४ पौं० है। चोटियाँ अकेले और गुच्छे वाली होती हैं।

इन जातियों के अतिरिक्त इस वर्ग में सफेद चेहरे वाली काली स्पेन की जातियाँ तथा नीला अन्जूलूसियन आदि हैं।

४. **एशियाई जातियाँ**—इस वर्ग में बर्मा, कोचीन, लागसीन आदि जातियाँ सम्मिलित होती हैं। जिनके शरीर बड़े, भारी हड्डीवाले पंखदार और पीले चमड़े के होते हैं। काली साँगशान एक ऐसी जाति है जिसका चमड़ा सफेद होता है। समस्त जातियों के वाह्य कान लाल रंग के होते हैं। ये सभी भूरे छिल्के वाले अंडे देती हैं।

(१) **बर्मा** (Brahma)—इस जाति का जन्म स्थान ब्रह्मपुत्र नदी के निकट है। इसे अमेरिका में १८४६ ई० तथा इंगलैंड में सन् १९५३ में भेजा गया। इसका शरीर ठोस और सुगंठित होता है। पंख विकसित होते हैं। इसकी दो उपजातियाँ हैं—हल्की बर्मा जाति जिसका प्रामाणिक तौल १२ पौं० (मुर्गा), ९½ पौं० (मुर्गी), १० पौं० (काकरेल) तथा ८ पौं० (पुलेट) तथा गहरे रंग की बर्मा जातियाँ जिनका प्रामाणिक तौल ११ पौं०, ८½ पौं०, ९ पौं० तथा ७ पौं० है।

(२) **कोचीन** (Cochin)—इसका मूल-स्थान चीन में शंघाई जिले में है, इसीलिए इसे पहले शाँघाई-मुर्गी के नाम से पुकारा जाता था। इसका शरीर सुगंठित और पंखों से युक्त होता है किन्तु पंख बिना किसी क्रम के होते हैं। जिससे शरीर अधिक लम्बा जान पड़ता है। इस जाति की बफ्फ कोचीन (Buff Cochin) सफेद कोचीन, काली कोचीन तथा चकोर (Partridge) कोचीन चार उपजातियाँ हैं।

(३) **लाँगशान** (Langshan)—इसका मूल-स्थान चीन में लांगशान है। इसका शरीर बर्मा तथा कोचीन जातियों की अपेक्षा छोटा होता है। किन्तु इस जाति के पक्षी के पर लम्बे होते हैं। चोटी केवल एक होती है। शरीर का प्रामाणिक तौल ९½ पौं० (मुर्गा), ७½ पौं० (मुर्गी), ८ पौं० (काकरेल) तथा ६½ पौं० पुलेट) हैं।

प्रश्न

१. भैंस पालने के ढंग का सविस्तार विवेचन करो। (१९५०)
२. खेती के बैलों को पालने और उनकी रक्षा के विषय में एक टिप्पणी लिखो। (१९५१)

३. गाय की भिन्न-भिन्न जातियाँ कौन-कौन हैं? दूध की सफाई के लिए किन बातों पर ध्यान देना चाहिये। (१९५२)

४. स्वास्थ्यप्रद दूध निकालने के लिए किन बातों का ध्यान रखना चाहिए आजकल ग्वालों द्वारा दूध निकालने और वितरण में क्या-क्या बुराइयाँ हैं। (१९५४)

५. पशु-पालन में किन-किन बातों पर विचार करना चाहिए? उन पर अपनी सम्मति दो।

६. पशुओं की आयु जानने की विधि का उल्लेख करो।

७. पशुओं का वजन कैसे ज्ञात करोगे।

८. किसी जानवर के लिए आहार किस प्रकार तैयार करोगे? उदाहरण सहित समझाओ।

९. भैंस पालने के ढंग का संक्षिप्त वर्णन करो। इसकी मुख्य नस्लों के नाम तथा उनके गुणों को लिखो। (१९५६)

अध्याय १४

पटवारी के कागजात

खेती बारी में भूमि और लगान से सम्बन्ध रखने वाली जितनी बातें किसान और सरकार के बीच होती हैं, उनका ब्योरेबार हिसाब रखने के लिए एक अधिकारी नियुक्त रहता है, जिसे पटवारी कहते हैं। पटवारी के पास खेती-सम्पन्धी सभी कागजात रखे जाते हैं। ये कागजात लैंड रेकॉर्ड्स (Land-Records) कहलाते हैं। पटवारी अपने कागज में खेत की नाप-जोख, उसका लगान, उसका हकदार, उसका नम्बर आदि दर्ज करता है। वह खेतों में होने वाले परिवर्तन के मुताबिक कागज में भी परिवर्तन करता रहता है। अगर खेत किसी के हाथ बेच दिया गया है या किसी को लगान या बटाई पर दे दिया गया है तो पटवारी इसे कागज में भी दर्ज कर लेता है। इन सब बातों के अलावे गाँव के बाग, बगीचे, नदी, तालाब, ऊसर, परती, जंगल, मंदिर, बस्ती आदि तमाम चीज पटवारी के कागज में लिखी रहती हैं। अनावृष्टि, अकाल और बाढ़ के समय वह सरकार को गाँव का पूरा विवरण देता है। इनसे हुई फसल की हानि की पूरी रिपोर्ट सरकार को पटवारी ही देता है। अगर गाँव का कोई किसान मरता है तो यह बात उसे कागज में लिखनी पड़ती है। खेतों की पूरी जानकारी के ि ए पटवारी को साल में तीन बार पड़ताल करना पड़ता है। उसका पहला दौरा १ सितम्बर से दूसरा १ जनवरी और तीसरा १५ अप्रैल से शुरू होता है।

प्राय: प्रत्येक गाँव में एक पटवारी होता है और अगर गाँव बहुत छोटा है तो ऐसे दो-तीन छोटे-छोटे गाँवों को एक पटवारी के सुपुर्द कर दिया जाता है। पटवारियों को जितने कागजात की जरूरत पड़ती है, वे रजिस्ट्रार कानूनगो द्वारा छपे फार्मों में मिलते हैं। जमींदारी उन्मूलन के बाद से पटवारियों का नाम लेखपाल कर दिया गया है।

अगर किसान अपने कागज के बारे में पटवारी से कुछ बातें जानना चाहता है तो वह बिना फीस उससे पूछ सकता है या अपने कागजात देख सकता है। लेकिन जब उसे किसी कागज की नकल लेनी होती है तो उसे उचित सरकारी फीस देनी पड़ती है।

पटवारी के पास कई तरह के कागजात रहते हैं। इनमें शजरा, रोजनामचा, खसरा, खतौनी, खेवट और आर्डर बुक मुख्य हैं। इनके अलावे स्याहा, बहीखाता जिन्सवार आदि कागज भी उसके पास रहते हैं। प्रत्येक का विवरण हम यहाँ संक्षेप में देंगे।

शजरा—शजरा गाँव का नकशा है जो मोटे कागज या मोमजामे पर बना होता है। हर पटवारी अपने हल्के का एक नकशा अपने पास रखता है। इस नकशे में गाँव के खेत, रास्ते, सड़कें, नदी, तालाब बाजार, मकान आदि अंकित होते हैं। इसमें खेत का

रकबा (क्षेत्रफल) दिया जाता है और उसी में उसका नम्बर भी दर्ज किया जाता है। नम्बर की मदद से खेत को पहचानने में आसानी होती है। पटवारी हर साल इन खेतों की नाप करता है और उनकी कमी-बेसी नकशे में दर्ज कर लेता है। खेतों को खरीदने या बेचने से नकशे में फेर-फार करनी पड़ती है। अगर किसान अपने किसी खेत को दो-तीन हिस्सों में बाँट देता है तो पटवारी गश्त करते समय उस नम्बर के खेत को पेन्सिल से बिन्दु द्वारा उतने ही हिस्सों में बाँट देता है और इन हिस्सों में खेत का नम्बर इस तरह डाल देता है कि उनकी पहचान आसानी से की जा सके। जैसे ४१८ नं० का खेत अगर ३ हिस्सों में बँट गया है तो इन हिस्सों में नम्बर क्रमश: $\frac{४१८}{१}$, $\frac{४१८}{२}$ और $\frac{४१८}{३}$ होंगे।

रोजनामचा—यह पटवारी के रोज के काम का रजिस्टर है। इसमें ६० पृष्ठ होते हैं। हर पटवारी एक रोजनामचा रखता है। यह उसके पास पहली अगस्त से ३१ जुलाई तक रहता है और साल खत्म होने पर रजिस्ट्रार कानूनगो के पास जमा कर दिया जाता है।

इस रजिस्टर में पटवारी अपने रोज की कार्यवाही दर्ज करता जाता है। उसने आज क्या काम किया; अगर नहीं किया तो क्यों; किसी पदाधिकारी का आगमन, उसका आदेश आदि बातें इसमें लिखी जाती हैं। इसके अलावे, लगान में कमी-बेसी, किसान का गाँव छोड़ देना, नए किसान का गाँव में बसना, खेत की बेच-खरीद, बाढ़, ओला, सूखा आदि बातें भी इस रजिस्टर में दर्ज की जाती हैं।

खसरा—यह रजिस्टर शजरे की मदद से तैयार किया जाता है। शजरे में जितने नम्बर लगे रहते हैं, उन्हें खसरे में क्रमवार लिखा जाता है। नम्बरों के साथ खेत के अधिकारी का नाम, खेत का क्षेत्रफल, सिंचाई का साधन, बोई गई फसल, लगान आदि बातें भी इसमें दर्ज की जाती हैं। खेत में किया गया उलट-फेर जिस तरह शजरे में दिखाया जाता है उसी, तरह इसमें भी अंकित किया जाता है: खसरा एक साल के लिए बनाया जाता है और साल के अन्त में रजिस्ट्रार कानूनगो के पास जमा कर दिया जाता है।

खसरा तैयार करने में पटवारी हल्के के खेतों की तीन बार पड़ताल करता है। पहली पड़ताल आधे अगस्त से सितम्बर के अन्त तक, दूसरी पहली जनवरी से आधे फरवरी तक और तीसरी आधे अप्रैल से अप्रैल के अन्त तक की जाती है। खसरा के एक फार्म का नमूना अगले पृष्ठ पर दिया जा रहा है।

नमूना खसरा

१	खेत का नम्बर			
२	क्षेत्रफल एकड़ या बन्दोबस्ती बीघे में			
३	मुहाल का नाम और पट्टी का नाम			
४	खेवट का नम्बर			
५	खतौनी का नम्बर			
६	किसान का नाम व जाति			
७	नीचे का किसान और जाति			
८	लगान			
९	सिंचाई का तरीका			
१०	कुएँ			
११	सींचा हुआ	उपज	खरीफ	जोता हुआ क्षेत्र फल
१२	बिना सींचा हुआ			
१३		क्षेत्रफल		
१४	सींचा हुआ	उपज	रबी	
१५	बिना सींचा हुआ			
१६		क्षेत्रफल		
१७	सींचा हुआ	उपज	जायद	
१८	बिना सींचा हुआ			
१९		क्षेत्रफल		
२०	सींचा हुआ	दो फसली क्षेत्रफल		
२१	बिना सींचा हुआ			
२२	जमीन की किस्म	बिना जुती भूमि		
२३	क्षेत्रफल			
२४	विवरण			

खतौनी जमाबन्दी

क्रम	विवरण		
१	क्रम नम्बर		
२	किसान का नाम पिता का नाम		
३	खेती का समय		
४	खसरा नम्बर		क्षेत्रफल
५	गाँव के बीघे में		क्षेत्रफल
६	एकड़ या बन्दोबस्ती बीघे में		क्षेत्रफल
७	बिना जोता गया क्षेत्रफल		
८	कानूनी माँग		
९	ज्यादा माँग	नकद लगान	लगान
१०	अनाज की नकद कीमत	अनाज लगान	लगान
११	अनाज सम्बन्धी खेतों का लगान		
१२	किस्त और साल		कुल माँग बकाया सहित
१३	प्रत्येक किस्त की माँग		कुल माँग बकाया सहित
१४	रकम		वसूलयाबी
१५	सियाहे के नम्बर की तारीख		वसूलयाबी
१६	प्रत्येक किस्म का बकाया माँग		
१७	विवरण		

खेवट

१	थोक और पट्टी का नम्बर और नम्बरदार का नाम	
२	हिस्से (खाता) का क्रम नम्बर	
३	हिस्से की तादाद, लगान और कर	
४	हिस्सेदार का नाम, पिता का नाम आदि	फसली के लिए
५	तबादला करने वालों के नाम आदि	
६	जिसका तबादला हो उसका नाम मय रजिस्टर	
७	तबादला होने वाले व्यक्तियों का नाम, पिता का नाम आदि	
८	(जैसा स्तम्भ ५ में है)	फसली के लिए
१९	(स्तम्भ ६ की तरह)	
१०	(स्तम्भ ७ की तरह)	
११	(स्तम्भ ५ की तरह)	फसली के लिए
१२	(स्तम्भ ६ की तरह)	
१३	(स्तम्भ ७ की तरह)	
१४	(स्तम्भ ५ की तरह)	फसली के लिए
१५	(स्तम्भ ६ की तरह)	
१६	(स्तम्भ ७ की तरह)	
१७		विवरण

खतौनी—खतौनी खसरे के मुताबिक तैयार होती है। इसमें कब्जे के अनुसार ही किसानों के नाम दिये जाते हैं। कौन किसान कितने खेत पर खेती करता है या कितनी जमीन पर उसका अधिकार है, ये सभी बातें खतौनी में दर्ज होती हैं। हर साल नई खतौनी तैयार की जाती है। खतौनी की तैयारी १५ नवम्बर तक समाप्त हो जाती है। नई खतौनी तैयार करने के लिए पिछले साल की खतौनी से मदद ली जाती है। इसमें वे सभी परिवर्तन दर्ज होते हैं जो खसरा या खेवट में हुए रहते हैं। इन परिवर्तनों को लाल स्याही से लिखा जाता है। खतौनी जमाबन्दी के फार्म का एक नमूना पिछले पृष्ठ में दिया गया है।

खेवट—एक मुहाल में जितने दाखिलकार होते हैं उनका एक रजिस्टर होता है, जिसे खेवट कहते हैं। हर मुहाल का खेवट अलग-अलग होता है। यह चार साल के लिए तैयार किया जाता है। इसमें कोई भी परिवर्तन बिना रजिस्ट्रार कानूनगो की आज्ञा के नहीं हो सकता। इस रजिस्टर में उस मुहाल के सब मालिकों का हर एक अधिकार लिखा रहता है। इसके साथ ही यह भी दर्ज होता है कि यह अधिकार किस किस्म का और कितना है। खेवट के फार्म का नमूना ऊपर दिया गया है।

आर्डरबुक—यह रजिस्टर बराबर पटवारी के साथ रहता है। इसमें ४० पृष्ठ रहते हैं। कानूनगो पटवारी को समय-समय पर नियम से सम्बन्ध रखने वाली आज्ञाएँ दिया करता है। ये आज्ञाएँ इसी रजिस्टर में लिखी जाती हैं।

स्याहा—इसमें लगान की वसूलयाबी की खानापूरी की जाती है।

बहीखाता जिन्सवार—इसमें लगान का हिसाब, लगान वसूल करने का तरीका आदि लिखा जाता है। लगान नकद रुपये में, अनाज में या बटाई द्वारा वसूली हुई, यह इसी रजिस्टर में दर्ज होता है।

प्रश्न

१. पटवारी के कर्त्तव्य की विवेचना करते हुए उसके कागजात का नामांकन करो।

२. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो :—

(१) खसरा (१९५१)
(२) खेवट (१९५२)
(३) गाँव का नकशा (शजरा) तथा (१९५३) (१९५६)
(४) खतौनी (१९५४)

३. खसरा और खेवट के नकशे बनाओ और उनकी उपयोगिता भी समझाओ। (१९५०)

अध्याय १५

कुछ उपयोगी कहावतें

१. पछुवा हवा उसावे जोई।
घाघ कहें घुन कभी न होई॥

२. दिन को बद्दर, रात निबद्दर, बहे पुरवैय्या झब्बर-झब्बर।
कहें घाघ कुछ होनी होय, कुआँ के पानी धोबी धोय॥

३. सुथना पहिरे हल जोते और पोला पहिर निराव।
घाघ कहे यह तीनों भकुवा, सिर बोझा औ गाव॥

४. पूरब घनहू पश्चिम मान – घाघ कहे वर्षा नियरान॥

५. नवीं अषाढ़ी बादली जो गरजै घनघोर।
कहे भड्डरी ज्योतिषी, काल पड़े चहुँ ओर॥

६. सावन पहली पंचमी, चन्दा छिटक परे।
की जल दीखे कूप में, कि नैनन नीर झरे॥

७. चमके पश्चिम-उत्तर ओर।
तब जानो वर्षा है जोर॥

८. साँझे धनुष सकारे भोरा।
नाहीं बहुत तो थोरा-थोरा॥

९. उत्तर चमके बीजली, पूरब की बहो बाव।
घाव कहे सुन भड्डरी बरषा भीतर लाव॥

१०. कलसै पानी गर्म हो चिड़िया न्हावै घूर।
कीड़ी ले अंडा चढ़े, वर्षा हो भरपूर॥

११. बोली लोमड़ी फूली काँस।
अब नाहीं वर्षा की आस॥

१२. सावन पहली पंचमी, गर्म उदय जो मान।
वर्षा होगी अति घनी, ऊँचे जामो धान॥

१३. शुक्रवार की बादली, रही सनीचर छाय।
कहें मनोहर जंगली, बिन बरसे नहि जाय॥

१४. लाल पियर जब होय अकासा। तब नाहीं वर्षा की आसा॥

१५. हथिया बरसे चितरा मंडराय।
घर बैठे किसान रिरियाय॥

१६. सावन में पुरवइय्या, भादों में पछियाव।
हरवाहे हर छोड़ दे, लड़का जाय जियाव॥

१७. ऊख कवई काहे के।
स्वाती पानी पाये के।।

१८. बाड़ी में बाड़ी करे करे ईख में ईख।
वह घर योंही जायँगे, जो सुने पराई सीख।।

१९. जो कास को नाहीं गोड़ी।
उसके हाथ न लागे कौड़ी।।

२०. गेहूँ गिरुई, चिरका धान।
बिना नाज के मरा किसान।

२१. उथली जोत पुकारा बिया।
ताकी खेती कुछ न हुआ।।

२२. या तो बोओ कपास और ईख।
नाहीं माँग कर खावो भीख।।

२३. अषाढ़ में खाद खेत में जावे।
तब भर मुट्ठी दाना न पावे।।

२४. गोबर राखी पानी सड़े।
तब खेती में दाना पड़े।।

२५. वही किसान में है पूरा।
जो छोड़े हड्डी का चूरा।।

२६. सन के डण्ठल खेत छिटावे।
तिनते लाभ चौगुना पावे।।

२७. न होय करम लिखा पूरा।
पर न टरै खेत का घूरा।।

२८. अषाढ़ में खाद खेत में जावे।
तब मरि खेती दाना पावे।।

२९. जेकरे खेत पड़ा नहिं गोबर।
वही किसान को जानो दूबर।।

३०. गोबर मैला नीम की खली।
इनमें खेती दूनी फली।।
गोबर मैला पानी सड़े।
तब खेती में दाना पड़े।।
गोबर लेंड़ी सन की खाद।
इनसे सदा खेत लहरात।।

३१. खाद पड़े तो होवे खेती।
नाहीं तो रहे नदी के रेती।।

३२. खाद परे तो खेत।
नाहीं तो कूड़ा रेत।।

३३. खेती बिना खाद।
हुई है बरबाद॥

३४. जो तुम देव नीम की जोठी।
सब खादों में रहे अनूठी॥

३५. चूना की खाद।
दूर करे उत्पात॥

३६. गीलो खाद
धन बरसात॥

३७. खाद जोति गहराई।
तब ही खेती मजा दिखाई॥

३८. खादी कूड़ा ना हरै कर्म लिखा हरि जाय।
रहि न कहे बुझाय के खेत पांस पर जाय॥

३९. पुक्ख पुनर्वस बोवे धान, अश्लेखा जुंधरी परमान।
मघा महीना बोवे रेल, तब दीजे परहल में ठेल॥

४०. पुक्ख पुनर्वस बोवे धान, अश्लेखा जुंधरी परमान।
मघा महीना बरसे झार हल दीजे कोठला में डार॥

४१. नरसी गेहूँ नरसी जौ।
अति के बरसे चना बौ॥

४२. अगसर खेती अगसर मार।
घाघ कहै यह कबहूँ न हार॥

४३. इतवार करे धनवन्तर होय।
सोम करे सेवा फल होय॥
बुद्ध बीफे शुक्र भरे बखार।
शनि मंगल बीज न आवे द्वार॥

४४. आधी हथिया मूर मुड़ाई।
आधी हथिया सरसों राई॥

४५. सावन सावाँ अगहन जौ।
जित्ता बोवे उत्ता लौ॥

४६. कोठिला बैठे बोले जई।
आधे अगहन काहे न बोई॥

४७. आलू बोये अँधेरे पाख।
खेत में डालो कूड़ा राख॥
समय-समले पर करे सिंचाई।
दूना आलू घर में आई॥

४८. नीचे ओदा ऊपर बदराही।
घाघ कहे गेरुई अब खाई॥

४९. जेकर ऊख लगी लबाही।
तापर आवे बड़ी तबाही।।

५०. चित्रा गेहूँ अद्रा धान।
इनके गेरुई न उनके घाम।।

५१. फागुन माहि बहै पुरवाई।
तब सरसों को गेरुई खाई।।
माघै पूस बहे पुरवाई।
तब सरसों को माहू खाई।।

५२. लम्बे-लम्बे मान और ढीला मुतान।
छोड़ो-छोड़ो किसान न तो जात है प्रान।।

५३. बरद मुसरहा जो कोइ लेय, राजभंग पल में कर देय।
त्रिया बाल सब कुछ छुट जाय, भीख माँगि के घर-घर खाय।।

५४. ताका भैंसा निठरा बैल, नार कुलक्षण बालक छैल।
इनसे बचे जो चतुरा लोग, राज छोड़ के साधे जोग।।

५५. सात दन्त उदन्ता को, रंग जो कालो होय।
इन्हें कबहूँ न लीजिए, दाम चाहे जो होय।।

५६. बूढ़ा बैल बिसाहे झिन्ना कपड़ा लेय।
आपुन करै नसौनी, देवे दूषन देय।।

५७. बैल चौकना जोत में और चमकीली नार।
बैरी है ये जान के लाज रखे करतार।।

५८. पतली पिंडरी मोटी तन पूँछ होय मूंई तरियान।
जाके होवे ऐसी गोई, वाको तोकै सबही कोई।।

५९. सींग मुड़े माथा उठा, मुँह का होवे गोल।
रोक नरक चंचल करन 'तेज' बैल अमोल।।

६०. छोटे सींग और छोटी पूँछ।
ऐसे को ले लो बे पूंछ।।

६१. सावन घोड़ी, भादों गाय, माघ मास जो भैंस बियाय।
कहै घाघ यह साँची बात, आप मरै कि मालिकै खाय।

६२. बरद बिसाहन जाओ कन्ता।
कबरा का मत देखो दन्ता।।

६३. बड़सिंगहा जनि लीजो मोल।
कुएँ में डालो रुपया खोल।

६४. खेती करलो, पानी करलो बैल जोत रजधानी।
काटपीट के कर में धर लो एही असक्त किसानी॥

६५. कर खेती का रोजगारा।
बढ़िहैं धन-धान्य अपारा॥

६६. खेती से किसान।
खेती से पिसान॥

६७. उत्तम खेती, मध्यम बान।
निकृष्ट चाकरी, भीख निदान॥

परिशिष्ट

कृषि और द्वितीय पंचवर्षीय योजना

कृषि-विकास के कार्यक्रमों को पहली पंचवर्षीय योजना में केन्द्र बिन्दु माना गया था। कुल व्यय का लगभग ४५ प्रतिशत व्यय सिंचाई और विद्युत व्यवस्था के साथ-साथ कृषि तथा सामुदायिक विकास पर हुआ। यद्यपि इस प्रकार की प्राथमिकता योजना तैयार करते समय उस समय के खाद्याभाव तथा मुद्रास्फीति की विशेष परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए दी गई थी, परन्तु ऐसा आर्थिक-विकास के साधारण दृष्टिकोण की स्थिति में उचित ही रहा। कृषि उत्पादन में १९५२-५३ से जो वृद्धि हुई, उससे अन्य किसी कारण की अपेक्षा मुद्रास्फीति की समाप्ति, अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने तथा दूसरी योजना के काल में अधिक से अधिक उन्नति करने में सहायता मिली है। १९५५-५६ तक के लक्षित उत्पादन और पहली योजना के अतिरिक्त उत्पादन के तुलनात्मक आँकड़े इस प्रकार हैं:—

वस्तु	आधार वर्ष में इकाई ❀	१९५४-५५ में उत्पादन	१९५५-५६ का अनुमानित उत्पादन	अतिरिक्त उत्पादन का लक्ष्य		आधार वर्ष से तुलनात्मक वृद्धि वास्तविक प्रतिशत
अनाज लाख टन	४६०	५५३	५५०	६६	९०	१९.६
दालें "	८०	१०५	१००	१०	२०	२५.०
कुल खाद्यान्न "	५४०	६५८	६५०	७६	११०	२०.४
मुख्य तिलहन"	५१	५९	५५	४	४	७.८
गन्ना "	५६	५५	५८	७	२	३.६
रूई लाख गाँठें	२९	४३	४२	१३	१३	४४.८
जूट " "	३३	२९	४०	११	७	२१.२

१९५०-५१ में कृषि-उत्पादन का देशनांक (आधार वर्ष : १९४९-५० = १००) ९६ था आशा है कि १९५५-५६ में यह बढ़कर ११५ हो जायगा।

प्रथम योजना काल में कृषि-क्षेत्र के सन्तोषप्रद परिणामों से यह प्रतीत होता है कि भविष्य में जो योजनाएँ बनाई जायँ, उनमें कृषि-विकास को भिन्न दृष्टिकोण से देखा जाय। अब यह आवश्यक नहीं रह गया है कि अन्न की फसलों को सर्वाधिक महत्व दिया जाय। अब तो यह उद्देश्य होना चाहिए कि विभिन्न फसलों की कृषि की जाय और भूमि से जहाँ तक सम्भव हो अधिकाधिक लाभ उठाया जाय। भूमि का कुल उत्पादन भी बढ़े और विभिन्न फसलें भी अधिक उन्नत हों। जैसे-जैसे सिंचाई

❀अनाज व दालों के सम्बन्ध में आधार वर्ष १९४९-५० को माना गया है, शेष के सम्बन्ध में १९५०-५१ को।

की व्यवस्था सुचारु होती जायगी और खेती के उत्तम ढंग अपनाये जाने लगेंगे, विशेषत: उन राज्यों में जहाँ राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास योजनाएँ चालू हैं, वैसे-वैसे ही भूमि उपभोग के जिन पक्षों की ओर पहले ध्यान दिया जाता थ —यथा फल-उत्पादन पशु-उन्नति और दुग्ध-शालाओं के विकास की दष्टि से उपयोगी चारे की फसलें, गाँवों में ईंधन की पूर्ति के लिए लकड़ी का उत्पादन उन पर निरन्तर विशेष ध्यान देना होगा। पहली योजना में राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास योजनाओं के लिए ९० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी जिसमें से लगभग दो-तिहाई राशि के उपयोग की सम्भावना है। दूसरी योजना में इस पक्ष के लिए २०० करोड़ रुपये की व्यवस्था है। कृषि के विभिन्न पक्षों के विकास के लिए निर्धारित राशि २४३ करोड़ से बढ़ाकर ३५० करोड़ रुपये कर दी गई है। जो निम्नलिखित रूप में है:

विषय	स्वीकृत धन राशि करोड़ रुपये में — प्रथम योजना में	दूसरी योजना में
कृषि	१९५	१६४
बागबानी	१	९
पशु पालन और दुग्ध उद्योग	२२	६१
वन और भूमि संरक्षण	१२	४८
सहकारिता	७	४७
मछली उद्योग	५	११
अन्य	१	१०
	२४३	३५०

योजना काल में कृषि-उत्पादन के सम्बन्ध में मुख्य लक्ष्य निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हैं:

पदार्थ	इकाई	१९५५-५६ के अनुमानित उत्पादन	अतिरिक्तउत्पादन का लक्ष्य	१९६०-६१ तक अनुमानित उत्पादन	प्रतिशत वृद्धि
खाद्यान्न	लाख टन में	६५०	१००	७५०	१५.४
तिलहन	,,	५५	१५	७०	२७.३
गन्ना (गुड़)	,,	५८	१३	७१	२७.६
रूई	लाख गाँठें	४२	१३	५५	३१.०
जूट	,,	४०	१०	५०	२५.०

खाद्यान्न फसलों का विवरण इस प्रकार से होगा। 125822

चावल	४०-५० लाख टन	अन्य अनाज	२०-२५ लाख टन
गेहूँ	१५-२० ,,	दालें	१५-१५ ,,

आशा है कि योजना काल की समाप्ति पर खाद्यान्नों का प्रति व्यक्ति उपभोग वर्तमान १७.२ औंस से बढ़कर १८.३ औंस हो जायगा और शक्कर का उपभोग